जैन निबन्ध रत्नावली

[शोध खोज पूर्ण मौलिक निबन्ध]

लेखक
श्री मिलापचन्द्र कटारिया
श्री रतनलाल कटारिया

हरिश चन्द्र कोलिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड़, जयपुर-4

प्रकाशक
श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता

प्रकाशक
मंत्री, श्री वीरशासन संघ
कलकत्ता.

प्रथम संस्करण
अप्रैल १९६६
मूल्य : पाँच रुपये

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
बी० २०/४४ भेलूपुर, वाराणसी-१



श्री पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ

• त्वदीयं वस्तु हे विज्ञ ! तुभ्यमेव समर्प्यते •

समर्पण

•

शास्त्र मर्मज्ञ, निर्भीक वक्ता, कुशल लेखक, मार्मिक-समालोचक, निष्पक्ष विचारक, शुद्धाम्नाय परिपोषक, सन्मार्ग प्रदर्शक, सद्धर्म प्रचारक, शास्त्रसभा संचालक, साहित्यरसिक, सुकवि, शोधखोज प्रेमी, गुणिजनानुरागी, सज्जनोत्तम, विद्वद्रत्न, संस्कृत साहित्य विज्ञाता, अनेक शिष्य निर्माता, धर्मग्रंथ प्रणेता,

पंडित प्रवर

श्रीमान् चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ

(आचार्य–श्री जैन संस्कृत कालेज, जयपुर)

की सेवा में

यह विद्वज्जनमनरंजनी ज्ञाननिधि-महान् मौलिक कृति

सादर समर्पित

•

—मिलापचन्द्र रतनलाल कटारिया

प्रकाशकीय वक्तव्य

वीरशासन सघ कलकत्ता की ओर से "जैन निवन्ध रत्नावली" प्रस्तुत करते हुए मुझे हर्प होता है। इस 'रत्नावली' मे समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री प० मिलापचदजी कटारिया, एव उनके सुपुत्र श्री रतनलाल जी कटारिया, केकडी (राजस्थान) के उन निवधो का सग्रह है जो समय-समय पर जैन पत्रो मे प्रकाशित होते रहे है किन्तु अव सुलभ नही है। कुछ निवध पहली वार भी दिए जा रहे है।

श्री कटारिया-द्वय व्यवसाय मे लगे रहते हुए भी आगमानुकूल साहित्य सृजन करने के लिए यथावसर समय निकालते रहते हे जो उनकी आगम के प्रति रुचिका द्योतक है।

जैसे दिगम्वर जैन ममाज मे अनेक उत्तरकालीन ग्रथ कुदकुंद उमास्वामी आदि मान्य आचार्यो के नाम पर मढ दिए गए है वैसे ही अनेक मिथ्यात्वपोपक एव अनावश्यक क्रियाकाण्ड भी जैन सस्कृति के अग वताए जाने लगे है एव तत्समर्थक त्रिवर्णाचार, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि साहित्य भी रच डाला गया है या प्राचीन साहित्य का अर्थ एव विवेचन अपने मनोनुकूल पक्ष के पोपण के लिए किया गया है। इन सव से न केवल साधारण ज्ञानवाले श्रावक अपितु विद्वान् भी दिग्भ्रम हो जाते है। वे वास्तविकता जानना चाहते हे किन्तु उनके लिए भारी भरकम पोथे उपयोगी सिद्ध नही हो सकते क्योकि उनके पास न तो इतना समय है और न हो वुद्धि कि वे उनको भली प्रकार अवगाहन कर यथार्थता जान सके। ऐसे पाठको को विशेप लक्ष्य मे रखते हुए प्रस्तुत 'रत्नावली' प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया है। इन निवधो मे विद्वान् लेखक अपने विभिन्न आचार्यो एव उनकी रचनाओ, अनेक क्रियाकाडो तथा अन्य महत्त्वपूर्ण विपयो पर प्राचीन ग्रन्थो से खोज युक्त साधार सामग्री प्रस्तुत की है जो हमारी मिथ्या धारणाओ का निरसन करते हुए हमे शास्त्रानुकूल सच्चे मार्ग की ओर ले जाती है।

जैन निबन्ध रत्नावली

आशा है कि इस 'रत्नावली' मे जैन समाज लाभ उठायेगा तथा मिथ्यात्व पोषक एव अनावश्यक क्रियाकाण्डो व रूढियो को छोडकर, अपने ज्ञान का विकास कर भगवान वीर के सच्चे अनुयायी बनते हुए अपना कल्याण करेगा इसी पुनीत भावना से प्रेरित होकर इस 'रत्नावली' का प्रकाशन सच्चे दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए किया गया है ।

लेखक द्वय ने अपने लेखो के प्रकाशन की स्वीकृति दी है, वे प्रूफ सशोधन भी करते रहे है उसके लिए मै उनका आभारी हूँ । जैन समाज के प्रमुख विद्वान् माननीय प० कैलाशचदजी शास्त्री ने मेरे अनुरोध से इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर 'रत्नावली' की उपयोगिता मे वृद्धि की है जिसके लिए मै उनका अत्यन्त आभारी हूँ ।

वर्तमान मे दिगम्बर जैन समाज मे शिथिलाचार और मिथ्यात्व पोषक रूढियो का निरसन करने मे श्री प० चैनसुखदासजी सा० का प्रमुख हाथ है । अनेके व्यक्ति उनके लेखो एव भाषणो से प्रभावित होकर मिथ्यात्व छोडने मे सफल हुए है ऐसे युग स्रष्टा विद्वान् को 'रत्नावली' समर्पित कर लेखक द्वय ने स्तुत्य कार्य किया है । मुझे आशा ही नही, विश्वास है कि जैन समाज दीर्घ काल तक ऐसे महान् विद्वान् से पथ-प्रदर्शन पाती रहेगी ।

अत मे पुस्तक के मुद्रक महावीर प्रेस का भी आभार प्रकट करना आवश्यक समझता हूँ जिनके सत्प्रयत्नो से पुस्तक सुन्दर रूप मे प्रस्तुत की जा रही है ।

मारवाडी रिलीफ सोसायटी
कलकत्ता
१६-१-६६

—छोटेलाल जैन

नोट—श्रद्धेय बाबूजी ने मृत्यु शैय्या पर पडे-पडे भी उक्त मतव्य लिखाया था । यही उनका अतिम वक्तव्य समझना चाहिए ।

—वंशीधर शास्त्री एम० ए०

जैन निबन्ध रत्नावली पर

सम्मति



It has been a pleasure for me to peruse the various articles included in the Nibandharatnāvalī Some of them are from the pen of Shri Ratanlal Kataria and Some from that of his revered father Such a continuity of critical study in the family is indeed rare in these days The articles have a special reference to Jainological studies, and the topics covered therein are literary, cultural and socio-religious On the whole the themes are discussed in a critcal manner with a sense of balance everywhere there is an earnesestness to reach the truth in the light of the evidence available For this approach the writers deserve our congratulations. Some of the articles have an abiding value, and they bring out fresh material useful for further studies I welcome the publication of these articles in a handy volume, and expect more such study from Shri Kataria

Dhavalā
VIII, Rajarampuri,
Kolhapur 12-1-66 (a n. upadhye)

हिन्दी अनुवाद

निवन्धावली के विभिन्न निवन्धो को सावधानता पूर्वक पढकर मुझे प्रसन्नता हुई। उनमे से कुछ निवन्ध श्री रतनलाल कटारिया की लेखनी से प्रसूत हुए है तो कुछ निवन्ध उनके पूजनीय पिता की लेखनी से लिखे गये है। एक वश मे तुलनात्मक अध्ययन की ऐसी परम्परा आज के समय मे सचमुच दुर्लभ है। निवन्ध मुख्यरूप से जैन विज्ञानविपयक अध्ययन से सम्वद्ध है। और उनका विपय साहित्य सस्कृति और सामाजिक धर्म है। उनमे विषयो की तुलनात्मक समीक्षा वहुत ही सन्तुलित रीति से की गई है। सर्वत्र प्राप्त प्रमाणो के प्रकाश मे सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न ही परिलक्षित होता है। इस सत्प्रयत्न के लिये लेखक हमारी वधाई के पात्र है। कुछ निवन्ध अपना स्थायी मूल्य रखते है उनसे ऐसी नवीन सामगी प्रकाश मे आई है जो विशेप अध्ययन के लिये उपयोगी है। मै इन निवन्धो के पुस्तकरूप मे प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और श्री कटारिया से इस प्रकारके और भी अधिक अध्ययन की आशा करता हूँ।

—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

हरिश चन्द्र कोठिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड, जयपुर-4

निबंध-सूची



भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

आत्म-निवेदन

बाह्याभ्यंतरभेदेन द्विविधेऽपि तपोविधौ ।
अज्ञानप्रतिपक्षत्वात् स्वाध्यायः परमं तपः ॥६१॥ सर्ग १

—हरिवंशपुराण

(अर्थ —बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार के तप मे अज्ञान का विरोधी होने से स्वाध्याय ही उत्कृष्ट तप है ।)

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः ।
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषास्वाध्यायतोऽन्योऽस्ति ततो न योगः ॥८७॥

—अमितगतिश्रावकाचार, परिच्छेद १३ ।

(अर्थ —जिससे प्राणी समस्त इन्द्रिय विषय और कषाय की प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करता है और जो जन्मसतति के अकुर को शुष्क करने मे सूर्य के समान है ऐसे स्वाध्याय से बढकर दूसरा कोई योग नही है ।)

यह प्रस्तुत (विद्वद्भोग्य) 'निबन्धरत्नावली' भी वर्षो के निरन्तर स्वाध्याय का ही विशिष्ट फल है । इसमे कुल ५० निबन्ध है जिनमे दो नये लिखे गये है बाकी सब पहले जैनपत्रो मे प्रकाशित हुए है । कौन निबध कब किस पत्र मे प्रकाशित हुआ है यह निबध सूची मे प्रदर्शित किया गया है ।

पूर्व प्रकाशित इन निबधो मे आवश्यक सशोधन और परिवर्द्धनादि किया गया है । इस तरह इनको काफी परिष्कृत कर अत्यन्त प्रमेयबहुल बनाया गया है ।

इनमे अनेक निबध परस्पर सबद्ध है अत विद्वान् पाठको से प्रार्थना है कि उनको कही कोई शकास्पद स्थल प्रतीत हो तो पहले धैर्यपूर्वक समग्र

ग्रथ का अध्ययन कर ले या वहुश्रुताभ्यासियो से पूछ ले फिर भी किसी शका का समाधान न हो तो वे हमे पत्र लिख कर पूछ सकते है सहर्प हम उसका समुचित उत्तर देंगे। विना ऐसा किये जैन पत्रो मे किसी विषय पर वाद-विवाद प्रारम्भ कर वातावरण को दूपित करना योग्य नही है।

इन निवधो मे—सिद्धात, इतिहास, आचार, दर्शन, भापा, साहित्य, भूगोल, ज्योतिप, सहिता, पूजन, प्रतिष्ठा और मूर्त्तिनिर्माणादि विविध विपयो पर अनेक मौलिक विचार ज्ञानसूत्र नूतन तथ्य, सरल सुवोध रुचिकर भापा मे ग्रथित किये गये है। इस प्रकार जनसाधारण और विशेषकर शोध-खोज प्रेमियो एव डॉक्टरो (विद्वानो) के लिए ज्ञान की विपुल सामग्री प्रस्तुत की गई है।

इन निवधो मे—

(१) "आर्ष संदधीत न तु विघटयेत्"।

इस सूत्र के अनुसार अनेक लेखक-विद्वानो त्यागियो की विविध गलतियो, शास्त्रवाक्यो पर उनकी अनुचित आपत्तियो का समीक्षापूर्वक निरसन और समाधान करके शास्त्र-सगतता प्रदर्शित की गई है और अनेक मार्मिक बाते प्रकट की गई है।

(२) "को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे"।
"दोपा वाच्या गुरोरपि"।

इन सूत्रद्वय के अनुसार प्राचीन अर्वाचीन अनेक ग्रथकारो के पूर्वाचार्यो से असम्मत, सिद्धात-विरुद्ध कतिपय असगत कथनो को एव जैनधर्म की मूल प्रकृति—वीतरागता अहिसा एव अपरिग्रहता से वाधित कुछ प्ररुपणाओ को प्रकट किया गया है जो गभीरता पूर्वक निष्पक्ष भाव से मननीय है।

जो कुछ हमने समीक्षण किया है उसे उस तक ही सीमित रखना योग्य है।

(जिन ग्रथो और ग्रथकारो को हमने अमान्य वताये हैं उसका यह अर्थ कदापि नही है कि—हम उन ग्रथो को जैनधर्म से वहिष्कृत कर रहे हैं) हमारे लिखने का इतना ही अभिप्राय लेना चाहिए कि—उन ग्रथो मे जो कथन मूलसघ के अनुसार नही है उन्हे न माना जावे।

इस विषय मे हमारी दृष्टि भगवतीआराधना की निम्नाकित गाथा के अनुसार है।

गिहिदत्थो संविग्गो अत्थुवदेसे ण संकणिज्जो हु।
सो चेव मंदधम्मो अत्थुवदेसम्मि भयणिज्जो ॥३५॥

अर्थ —गृहीतार्थ कहिये जिसने आगम के अर्थ को प्रमाण नयनिक्षेप से, गुरु परिपाटी से एव स्वानुभव प्रत्यक्ष से भली प्रकार ग्रहण किया है और जो सविग्न कहिये ससार-देह भोगो से विरक्त है, पापो से भयभीत हैं ऐसा सम्यग्ज्ञानी आगमार्थ के उपदेश मे शका करने योग्य नही है। किन्तु जो इससे विपरीत मद आचार विचारवान् है उसका तत्त्वोपदेश भजनीय है—अर्थात् समीचीन आगम से सम्मत कथन हो तो माननीय और प्रामाणिक है अन्यथा नही।

(जो ग्रथ या ग्रथकार मूलसघ का नही है कही-कही उसका भी प्रमाण हमने अपने वक्तव्य की पुष्टि मे दिया है उसका यह अर्थ नही है कि—हमने उसे प्रमाण कोटि मे मान लिया है। प्रतिपक्षी उसे प्रमाण मानते हैं इस अपेक्षा से हमने उसे प्रमाण मे पेश किया है। जैसे हमने पद्मपुराण-हरिवशपुराण की अमान्यता मे इन्द्रनदि के नीतिसार का प्रमाण दिया है तो इसका मतलब यह नही है कि—हम नीतिसार को प्रमाण मानते है। नीतिसार मे तो सोमदेव को भी मान्य ग्रथकार माना है जब कि हमने उन्हे मूलसघ का नही बताया है। इस विषय मे हमारी नीति वही समझनी चाहिए जैसे कि एक जैनी वैदिको के समक्ष जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए कहता है कि—वेदो मे भी हमारे जैन तीर्थकरो के नाम लिखे मिलते है इसका अर्थ यह नही है कि जैनी वेदो को प्रमाण मानते है।)

(पचामृताभिपेकादि पर स्वर्गीय प० पन्नालाल जी सघी ने 'विद्वज्जन-बोधक' मे वहुत उत्तम ढग से विवेचना की है और उस विवेचना मे उन्होने मान्य ग्रथो की सूची प्रस्तुत करके यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि—इन मान्य ग्रथों में पंचामृताभिपेकादि का विधान नही है किन्तु इस पर यह सवाल बरावर उठता आ रहा था कि उनकी उस सूची के अलावा जिन अन्य जैनग्रथो मे पचामृताभिपेक लिखा है उन ग्रथो को क्यो नही माना जावे, नही मानने का भी कोई हेतु होना चाहिए। उनकी उसी कमी को दूर करते हुए हमने अन्तिम निबध मे सप्रमाण वताया है कि वे ग्रथ अमुक-अमुक कारणो से मूलसघ के नही है इसलिये वे अमान्य है।)

भगवान् वीर को २५०० वर्प हो गए है इतने दीर्घकाल मे अनेक विषम परिस्थितियो के कारण और विभिन्न सस्कृतियो के प्रभाव से जैनधर्म के आचार एवं विचार दोनो मे शनै शनै विविध विकार प्रविष्ट हुए हैं और कालदोप से एक ही जैनसघ के अनेक सम्प्रदाय-आम्नाय सघ गण गच्छ पथादि भेदोपभेद हो गए हैं।

'दर्शनसार' मे देवसेनाचार्य ने अनेक जैनसघो को उत्सूत्रगामी और जैनाभास करार दिया है। आज उनमे से वहुत से (द्राविड, यापनीय, काष्ठादि) सघ विलीन हो गए हैं किन्तु उनके द्वारा निर्मित और उत्तरोत्तर प्रभावित अनेक शास्त्र अभी भी चले आ रहे हैं जिन्हे आज हम विना किसी भेदोपभेद की कल्पना किये सर्वांश मे वीर-वाणी समझे हुए है किन्तु यह ठीक नही है शास्त्रोमे सघभेद, आम्नाय-भिन्नता और छद्मस्थता आदि से अनेक असगतियाँ उत्पन्न हुई है और इसीलिए आचार्य वीरसेन ने सिद्धातग्रन्थो की धवला जयधवला टीकाओ मे उत्तरा प्रतिपत्ति एव दक्षिणा प्रतिपत्ति के कथन-भेदो का उल्लेख किया है और कही-कही उत्तरा प्रतिपत्ति को ही श्रेष्ठ वताया है। उन्होने आचार्यों के विविध मान्यता भेदो का भी अनेक जगह प्रदर्शन किया है और किसी-किसी को अयुक्त भी सिद्ध किया है। ५-६ठी शताब्दी के आचार्य सिद्धसेन ने भी अपने

"सन्मति सूत्र" के काण्ड २ गाथा १८ तथा ग्रथान्त मे एतद्विपयक अनेक सकेत दिये हैं।

इसी तरह इन्दनदि ने अपने नीतिसार मे और प० आशाधरजी ने महर्पिपर्युपासन मे अपनी दृष्टि से प्रामाणिक ग्रन्थकारो की नामावली दी है।

शास्त्रमर्मज्ञ पण्डित प्रवर टोडरमलजी सा० ने भी मोक्षमार्ग-प्रकाशक के ८वें अध्याय के अत मे लिखा है —

[ऐसे विरोध लिए कथन कालदोप ते भए हैं। इसकाल विपे प्रत्यक्ष-ज्ञानी वा बहुश्रुतनि का तो अभाव भया अर स्तोकवुद्धि ग्रन्थ करने के अधिकारी भये, तिनको भ्रमते कोई अर्थ अन्यथा भासे ताको तैसे लिखे अथवा इस काल विपे केई जैनमत विपे भी कषायी भए हैं सो तिनने कोई कारण पाय अन्यथा कथन लिखा है ऐसे अन्यथा कथन भया ताते जैनशास्त्रनिविपे विरोध भासने लगा। जहाँ विरोध भासे तहाँ इतना करना कि—इस कथन के करनेवाले बहुत करि प्रामाणिक हैं या इस कथन के करनेवाले बहुत प्रमाणीक हैं ऐसा विचार करि बडे आचार्यादिकनि का कथन प्रमाण करना बहुरि जिनमत के बहुत शास्त्र हैं तिनकी आम्नाय मिलावनी जो परपरा आम्नायतें मिले सो कथन प्रमाण करना।

बहुरि कालदोपते जिनमतविपे एक ही प्रकार करि कोई कथन विरुद्ध लिख्या है सो यह तुच्छ बुद्धिनि की भूल है किछु मत विपे दोप नाही।]

इस सब से यह सिद्ध है कि जो पीला पीला है वह सभी सोना है। आधुनिक युग में भी सूक्ष्म परीक्षक इतिहासमर्मज्ञ प० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी "जैनाचार्यों का शासनभेद" ग्रन्थपरीक्षा ४ भाग तथा अनेक लेख लिखकर शास्त्रो के विषय मे हमारी बुद्धि को प्राजल किया है और सदसद्विवेक को जागृत किया है।

इन्ही सब के कार्यो को हमने भी अपनी इस निवधावली के द्वारा और भी वृद्धिगत करने का प्रयत्न किया है।

इन निबधो मे हमने जो कुछ लिखा है वह सदाशयता को लेकर ही लिखा है अत उसी भाव से उन्हे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान की मदता के कारण सभव है विविध चर्चाओ मे हम भी कही चूके हो, अगर कही किसी को कोई गलती नजर आवे तो सूचित करने की कृपा करें इसके लिए हम उनके आभारी होगे।

अत मे विज्ञ पाठको से एक निवेदन और है कि—

जो आचार-विचार जैनधर्म की मूल प्रकृति—वीतरागता अहिंसा अपरिग्रहतादि के जितने सन्निकट हो उन्हे ही अपनाये–प्राथमिकता दें, यह नही कि—पक्षवाद मे पडकर उन्हे तो दबाये और जो मूल से दूर हो उल्टा उन्हे प्रश्रय दें। अगर इतना भी विवेक हम नही रखेंगे तो अच्छी बातो से तो हम हाथ धो बैठेगे और विकृत बातें, निष्प्राण क्रियाकाड हमारे पल्ले पड जायेगे। अत सदा समीचीन शुद्धमार्ग को ही अगीकार करे और उसी के प्रसार मे दत्तचित्त रहे।

इस निबधावाली मे—

१ से १०, २८ से ४२ और अतिम निबध इस तरह कुल २६ निबध मिलापचन्द कृत है और बाकी निबध रतनलाल कृत है।

आभार-प्रदर्शन

ये निबध सर्वप्रथम—'जैनसदेश' (साप्ताहिक) और उसके 'शोधाक', अनेकात (द्वैमासिक), जैनमित्र (साप्ताहिक), दिगबर जैन (मासिक), श्रमणोपासक (पाक्षिक), महावीर जयंती स्मारिका (वार्षिक), अस्तगत 'जैनदर्शन' (मासिक-पाक्षिक) पत्रो मे और मुनि हजारीमल स्मृतिग्रथ मे प्रकाशित हुए थे अत इस अवसर पर उनके मान्य सपादको का हम आभार प्रकट करते है।

इन निबधो के निर्माण मे प० दीपचन्दजी पाड्या का हमे समय-समय पर काफी सहयोग मिला है। उनसे अनेक विषयो पर ऊहापोह कर

हम अपने चितन को दृढ कर पाये है, इस सब के लिए हम उनके अत्यत आभारी है। प्राय कोई ऐसा दिन नही गया है जिस दिन वे हमारी दुकान या घर पर आकर घटा दो घटा किसी विषय पर विचार विमर्श नही कर पाये हो। पण्डितजी ज्ञान के जीवत कोष है, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रशादि भाषाओ के अधिकारी विद्वान् है, और बहुश्रुताभ्यासी है। कोई भी ग्रथ हो वे दो चार गलतिया तो उसमे अनायास ही निकाल देते है—यह उनको सरस्वती की एक देन ही है।

इन निबधो मे अधिकाश 'जैनसदेश' मे प्रकाशित हुए है। जैनसदेश के उद्भट सपादक पाडित्यविभूति, प्रतिभामूर्त्ति, विद्वत्-सम्राट् श्रीकैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी ने हमारे इन निबधो को जाते ही तत्काल बिना किसी टिप्पणी और काट-छाट के अविकल प्रकाशित कर हमारा उत्साह प्रवर्धित किया था इस अवसर पर इसके लिए हम उनके भी अतीव आभारी है।

इन निबधो से प्रसन्न होकर और इनको महत्त्वपूर्ण समझ कर इनका यह उपयोगी सग्रह—श्रेष्ठिवर्य्य दानवीर उदारचरित गुणिजनानुरागी श्रुतसेवक सन्मार्ग-पोषक सद्धर्मप्रचारक सत्सुधारक प्रबुद्धचेता श्रीमान् बाबू छोटेलाल जी जैन (अध्यक्ष श्री वीर शासन सघ कलकत्ता) ने प्रकाशित किया है—साहित्यरसिक कलाप्रेमी बाबू सा० ने अच्छी धनराशि व्यय कर यह प्रकाशन उत्तम कागज और सुन्दर छपाई के साथ तैयार कराया है—इस सब के लिए हम उनके भी परम आभारी है।

बाबू सा० ने लाखो रुपया जैन साहित्य के प्रकाशन मे और जैन-साहित्य सस्थानो एव साहित्यकारो की विशिष्ट सहायता मे खर्च कर अपने द्रव्य का महान् सदुपयोग किया है। स्वामी समन्तभद्र के शब्दो मे उनका यह कार्य जिनशासन की महान् प्रभावना को लिये हुए है —

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१७॥

—रत्नकरडश्रावकाचार

अर्थ —प्ररूढ अज्ञानाधकार को (सत्साहित्य के निर्माण और प्रकाशनादि द्वारा) यथायोग्य दूर कर जिनशासन की महत्ता स्थापित करना 'प्रभावना' है ।

इस प्रकार इस ग्रंथ के 'उत्पाद' मे प० दीपचन्द जी और 'व्यय' (लेख-प्रकाशन) मे प० कैलाशचन्द जी तथा 'ध्रौव्य (पुस्तकाकार)' मे वावू सा० छोटेलाल जी परम सहायक हुए है इस तरह ये तीनो इस ग्रंथ के जीवन रूप (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) है और यही इस ग्रथ की सक्षिप्त कथा (सद्द्रव्यलक्षण) है ।

प्रूफ सशोधन और सुन्दर मुद्रणादि की व्यवस्था के लिए हम वावूलाल जैन फागुल्ल के अनुगृहीत है । उन्होने खूव परिश्रम किया है ।

इन सवके सिवा और भी जो कोई विस्मृत रह गये हो उन सव प्रत्यक्ष परोक्ष सहायको के भी हम आभारी है ।

क्षमा-याचना

समीक्षा और उत्तर रूप मे किन्ही महानुभावो के प्रति न चाहते हुए भी उन्ही की भाषा के प्रवाह मे आकर अगर कही कोई व्यग्योक्ति या कटु-शब्द लिखने मे आ गया हो तो हम उसके लिए हृदय से क्षमा प्रार्थी हैं।

तथा किन्ही विशिष्ट पुरुषो के विषय मे भी कही कोई अशिष्ट वाक्य लिखने मे आगया हो तो उसके लिए भी क्षमा-प्रार्थी है ।

अत मे विज्ञ पाठको से निवेदन है कि—इस ग्रथ की विशिष्ट अशुद्धियो का 'सशोधन' ग्रथात मे दिया गया है अत अध्ययन के पहिले ग्रथ को शुद्ध कर ले ताकि कोई अर्थ-भ्राति न हो ।

केकडी (अजमेर)
माघ शुक्ला ५ वि०स०२०२२
वसत पचमी

निवेदक
मिलापचन्द रतनलाल; कटारिया

प्राक्कथन

मेरी स्मृति के अनुसार स्व० श्री नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा लिखित और हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर वम्बई के द्वारा विक्रीत 'जैन साहित्य और इतिहास' जैन साहित्य और इतिहास से सम्बद्ध हिन्दी लेखो का प्रथम सकलन था। उसके पश्चात् श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के ऐतिहासिक निवन्धो का सकलन 'जैन साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश' नाम से प्रकाशित हुआ। फिर उनके सामाजिक निवन्धो का सकलन 'युगवीर निबन्धावली' नाम से प्रकाशित हुआ। इन दो विशिष्ट साहित्यिक महारथियो के निबन्ध सग्रहो के पश्चात् यह 'जैन निबन्ध रत्नावली' प्रकाशित हो रही है। इसका अपना वैशिष्ट्य जुदा है और वह वैशिष्ट्य विपयगत भी है और लेखकगत भी।

लेखकगत प्रथम वैशिष्ट्य यह है कि इस रत्नावली मे सकलित लेखों के लेखक पिता पुत्र है। दूसरा वैशिष्ट्य यह है कि दोनो व्यापारी है। तीसरा वैशिष्ट्य यह है कि दोनो ने न तो समाज के किसी विद्यालय या महाविद्यालय मे अध्ययन किया है और न किसी स्कूल या कालिज मे। न वे शास्त्री या आचार्य है और न वी० ए०, एम० ए०। फिर भी दोनो पण्डित और विद्वान् है। दोनो ने ही हिन्दी भापा के द्वारा ग्रन्थो का स्वाध्याय करके वैदुष्य अर्जन नही किया है किन्तु सस्कृत और प्राकृत भापा मे निवद्ध मूल ग्रन्थो का अनुशीलनपूर्वक वैदुष्य उपार्जन किया है। और उनका अध्ययन वहुत विस्तृत और तलस्पर्शी है। इसीसे उनका विपय पर जितना अधिकार है सस्कृत और प्राकृत भापा पर भी उतना ही अधिकार है। दोनो की दृष्टि वडी पैनी है और अशुद्धियो को पकडने मे तो कमाल है। मेरे अनुमान के अनुसार तो जैन साहित्य का कोई

प्रकाशन ऐसा नही है जिसका अध्ययन इन पिता-पुत्र ने नही किया। इस विषय का व्यवसाय करनेवालो को जिन बातो का पता नही, उनकी पूर्ण जानकारी इन पिता-पुत्र को है। ये बातें मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। यद्यपि प० मिलापचन्द जी कटारिया को मैंने आज तक नही देखा और उनके पुत्र प० रतनलाल जी कटारिया से केवल एकबार साक्षात्कार हुआ था। दुबला पतला शरीर, नाटा कद, हँसता हुआ चेहरा। यदि मैं उनके वैदुष्य से पूर्व परिचित न होता तो उन्हे देखकर किसी के कहने पर भी शायद ही इस बात पर विश्वास कर सकता कि यह पच्चीस वर्ष का दुबला पतला मारवाडी युवक विद्वान् है। किन्तु मैं उनके लेखो का पाठक रहा हूँ। उनसे मेरा साहित्यिक पत्र व्यवहार भी है उन्ही के आधार पर मैंने उनके सम्बन्ध मे जो यथार्थ अनुभव प्राप्त किया है वही मैं लिख रहा हूँ। उसमे कोई अतिशयोक्ति नही है। विज्ञ पाठक उनके निबन्धो को पढकर उसका निर्णय कर सकेंगे।

प्रस्तुत निबन्धावली मे सगृहीत निबन्ध जैन साहित्य के विविध विषयो से सम्बद्ध हैं। कुछ निबन्ध शुद्ध साहित्यिक हैं तो कुछ निबन्ध जैन साहित्य मे चर्चित विषयो से सम्बद्ध हैं। दि० जैन परम्परा मे प्रचलित पन्थमूलक पूजा प्रतिष्ठा विधि तथा उनसे सम्बद्ध साहित्य की समीक्षापरक निबन्ध इस सग्रह की विशेषता है। (जैन साहित्य के इन अगो पर समीक्षात्मक रूप से लिखे गये लेखो का कोई सकलन अभी तक मेरे देखने मे नही आया है। इन निबन्धो के अवलोकन से ज्ञात होता है कि लेखकद्वय ने पूजा प्रतिष्ठा विषयक साहित्य का भी अच्छा अनुगम किया है और इस विषय के भी वे पडित हैं।)

दि० जैन समाज मे जो पन्थभेद हुआ वह मूलत पूज्य, पूजा सामग्री और पूजाविधि को ही लेकर हुआ है। अत. उनपर गम्भीरता से विचार की आवश्यकता है।

वैदिक धर्म या ब्राह्मण धर्म मूलत मूर्तिपूजक नही था। उनका

प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ थे। यज्ञो मे आहुति देकर वे अपने भौतिक देवताओ को प्रसन्न करते थे और उनसे अन्न पशु आदि की माँग करते थे। अग्नि देवताओ का मुख है अत उसमे क्षेपण किया हुआ द्रव्य देवताओ को पहुँच जाता था। ऋग्वेद का पहला मत्र है—अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारम् रत्नधातमम्।' अत वैदिक-धर्म क्रियाकाण्डी धर्म था। यज्ञ तत्काल निर्मित मण्डप मे किये जाते थे। उनके लिये मन्दिर की तरह किसी स्थायी स्थान की आवश्यकता नही थी। अत विद्वानो का मत है कि वैदिकधर्म मे उत्तरकाल मे जो यज्ञो के स्थान मे मन्दिर पूजा का प्रचलन हुआ वह अवैदिक सस्कृति का प्रभाव है।

डा० भण्डारकरने लिखा है—'जैन और बौद्धधर्म की स्थापना उन मनुष्यो ने की थी जो परमात्मा माने जाते थे। अत. उनके स्मारको की पूजा तथा उनकी मूर्तियो का आदर करने की इच्छा होना स्वाभाविक है। यह पूजा प्रचलित हुई और सर्वत्र भारत मे फैल गई। अत राम, कृष्ण, नारायण, लक्ष्मी और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ तैयार की गई और पूजा के लिये सार्वजनिक स्थानो मे स्थापित की गई।'—(कलक्टेड वर्क्स आफ डा० आर० जी० भण्डारकर पूना)

इस तरह मूर्तिपूजा जैनो तथा अनार्य जातियो से वैदिकधर्म मे पहुँची। किन्तु मूर्तिपूजा को अपनाने के पश्चात् जब वैदिकधर्म ने धीरे-धीरे आधुनिक हिन्दू धर्म का रूप लिया तो यज्ञ तो तिरोहित हो गये और उनका स्थान मन्दिरो और मूर्तियो ने ले लिया। वैदिक धर्म के पुरस्कर्ता ब्राह्मण वर्ग की एक बडी विशेषता यह रही है कि उसने जिस वस्तु को भी अपनाया उसे इस तरह अपनाया कि मानो मूलत वह वस्तु उन्ही की थी। जैसे यज्ञकाल मे यज्ञविषयक साहित्य और क्रियाकाण्ड का इतना विकास हुआ कि वह अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँचा, उसी तरह मन्दिर और मूर्तियो को अपनाने के पश्चात् पूजा विधि विषयक साहित्य

का भी बहुत विकास हुआ और पूजा विधि में भी नये-नये तत्त्व रीति रिवाज प्रविष्ट होते गये। उनकी पूजा का उद्देश्य वही रहा जो यज्ञों का था। देवताओं को प्रसन्न करके उनसे लौकिक अभ्युदय की याचना करना। देवता भी प्राय उसी जाति के थे। यद्यपि अवतारवाद के फलस्वरूप कुछ देवताओं को भगवान के अवतार के रूप में माना जाता था। किन्तु उन देवताओं के भक्त देवताओं की भी कमी नहीं थी और उन्हे भी भगवान का भक्त या गण मानकर भगवान की तरह ही पूजा जाता था। इन सबके बढ़ते हुए प्रभाव से जैनधर्म भी अछूता नहीं रह सका। जैनधर्म मूलत· क्रियाकाण्डी धर्म नहीं है। वह भाव प्रधान धर्म है। क्रियाकाण्ड को उसमें भाव के ही अंगरूप से स्वीकार किया गया है। यदि क्रिया से भाव को पृथक् कर लिया जाये तो वह व्यर्थ हो जाती है। इसीलिये उसमें ऐसी भी स्थिति स्वीकार की गई है जिसमें द्रव्य के बिना केवल भाव पूजा ही मान्य है। उपवास के दिन गृहस्थ के लिये स्नान करने का भी निषेध है अत उस दिन धार्मिक कृत्य पूजा का विधान करते हुए सागारधर्मामृत में कहा है—

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत्।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्ग दूरमुत्सृजेत् ॥४१॥ अ० ४।

उपवास के दिन गृहस्थ को भावमयी पूजा से ही पूजा करनी चाहिये। अथवा प्रासुक द्रव्यमयी पूजा से पूजना चाहिये। और राग के अगों को एकदम छोड़ देना चाहिये।

वस्तुत इस देश में प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो परम्पराये वैदिक काल में भी प्रचलित थी, प्रवृत्ति परम्परा को देव परम्परा या ब्राह्मण परम्परा कहते थे। यज्ञ विधि उसी का अंग थी। निवृत्ति परम्परा को मुनि परम्परा कहते थे। श्रमण विधि उसकी विशेषता थी। निवृत्तिमार्गीय श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय महावीर भगवान और बुद्ध देव से भी

पूर्व विद्यमान थे। उन्ही मे जैनधर्म भी था। शायद ऋग्वेद मे उल्लिखित वातरशनमुनि उसी के पूर्वज थे। सिन्धु घाटी मे उपलब्ध एक नग्न मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित है। स्व० श्री रामप्रसाद चन्दा ने इस मूर्ति को तथा वहाँ से प्राप्त मोहरो पर अकित मूर्तियो को नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्रा के आधार पर ऋषभ तीर्थकर की मूर्ति बतलाया था। प्रसिद्ध विद्वान् डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी 'हिन्दू सभ्यता' नामक पुस्तक में लिखा है—'श्री चन्दा ने ६ अन्य मुहरो पर खडी हुई मूर्तियो की ओर भी ध्यान दिलाया है। फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृति मोहे जोदडो) कायोत्सर्ग नामक योगासन मे खडे हुए देवताओ को सूचित करती है। यह मुद्रा जैन योगियो की तपश्चर्या मे विशेष रूप से मिलती है जैसे मथुरा संग्रहालय मे स्थापित तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव की मूर्ति मे। ऋषभ का अर्थ है बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर सख्या एफ० जी० एच० फलक दो पर अकित मूर्ति मे एक बैल ही बना है। सभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है। (हिन्दू सभ्यता पृ० २३-२४)।

अत जैनधर्म निवृत्तिवादी परम्परा का प्रतीक है। इसी से जैनधर्म के उपदेशक आचार्यों के लिये यह आदेश था कि उन्हे अपने उपदेशो मे मुनिधर्म का ही सर्व प्रथम उपदेश देना चाहिये। जो ऐसा नही करेगा वह निग्रह स्थान का भागी होगा। आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के प्रारम्भ में इस प्रकार का निर्देश पाया जाता है। उसमे लिखा है—

> यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति ।
> तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥
> अक्रमकथनेन यत प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्य ।
> अपदेऽपि सम्प्रवृत्त' प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

जो अल्पबुद्धि मुनिधर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, जिनागम मे उसे निग्रहस्थान का भागी कहा है। क्योकि मुनिधर्म को छोडकर गृहस्थ धर्म का उपदेश करने से अति उत्साहित शिष्य भी गृहस्थ धर्मरूपी अपद मे ही सन्तुष्ट होकर रह जाता है। और इस तरह वह उस दुर्बुद्धि उपदेशक के द्वारा ठगाया जाता है।

अत प्रथम मुनिधर्म का उपदेश करने की ही प्राचीन परिपाटी है मुनिपद ही वास्तविक पद है, गृहस्थ का पद तो अपद है। किन्तु जब श्रोता अपनी असामर्थ्य बतलाकर गृहस्थधर्म के उपदेश करने की प्रार्थना करता था तब उसे गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया जाता था। यही बात पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे कही है—

बहुश समस्तविरतिं प्रदर्शिता यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरति कथनीयानेन बीजेन ॥ १७ ॥

जो बारम्बार मुनिधर्म का उपदेश देने पर भी उसे ग्रहण नही करता है उसे इसी बीज के द्वारा गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थो मे इसी प्राचीन परिपाटी का पालन किया गया है। उन्होने अपने प्रवचनसार मे तथा पाहुडो मे मुनिधर्म को लक्ष्य मे रखकर ही कथन किया है। श्रावक धर्म का तो थोडा सा निर्देश चारित्र-प्राभृत मे किया है। जब दिगम्बर परम्परा मे मुनिधर्म का ह्रास हो चला और अवशिष्ट बचे मुनियो मे भी वनवास के स्थान मे चैत्यवास चल पड़ा तब श्रावकाचार को लेकर स्वतंत्र ग्रन्थ रचना की प्रवृत्ति हुई। श्रावक के आचारविषयक जितना भी स्वतन्त्र साहित्य है वह प्राय दसवी शताब्दी से रचा गया है। केवल रत्नकरडश्रावकाचार अपवाद है। आचार्य कुन्द-कुन्द के समय मे ग्यारह प्रतिमा, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा-व्रत ये सम्पूर्ण श्रावकाचार था। रत्नकरड मे भी इसी प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया गया है। चारित्रप्राभृत मे प्रथम सम्यग्दर्शन के आठ

अंगो के नाम मात्र गिनाये है। रत्नकरड मे प्रत्येक अग का स्वरूप वतलाया है। उसके वाद पाँच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतो का कथन करके ग्यारह प्रतिमाओ का स्वरूप कहा है। अन्तर इतना है कि कुन्दकुन्द ने दिग्व्रत देशव्रत को एक गिना है और उस कमी की पूर्ति सल्लेखना को शिक्षाव्रत मे लेकर की है। रत्नकरड मे दिग्व्रत देशव्रत को अलग-अलग गिना है और सल्लेखना का पृथक् कथन किया है। चारित्र-प्राभृत मे अतिथि पूजा है, रत्नकरड मे वैयावृत्य है और वैयावृत्य का अर्थ अतिथि पूजा ही किया गया है। एक विशेपता और है कि उसमे श्रावक के अष्टमूलगुण भी बतलाये है। इतना ही प्राचीन श्रावकाचार है।

आचार्य जिनसेन (नौवी शताब्दी) के महापुराण की रचना से श्रावकधर्म का विस्तार होना प्रारम्भ हुआ। पाक्षिक नैष्ठिक साधक उसके भेद हुए, पूजा के विविध प्रकार हुए। प्राचीन पट्कर्म थे सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोसर्ग। मुनि और गृहस्थ दोनो इनका पालन करते थे। उनके स्थान मे देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये पट्कर्म हो गये। और इनमे भी पूजन को विशेप महत्त्व मिलता गया।

पूजन तो अभिषेक पूर्वक होता है। विमलसूरि के पउमचरिउ का रूपान्तर रविषेण ने पद्मचरित के रूप मे किया। इस रूपान्तर से पउमचरिउ का पञ्चामृताभिषेक दिगम्बर परम्परा मे घुस बैठा। विमलसूरि की आम्नाय यापनीय हो सकती है। दिगम्बर परम्परा के तो वह नही थे। रविपेणाचार्य के उल्लेख का महापुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन पर तो कोई प्रभाव नही पड़ा। उन्होने महापुराण के प्रारम्भ मे रविषेण का स्मरण भी नही किया। किन्तु हरिवशपुराणकार जिनसेन ने उन्हे अपना पूर्व पुरुप मानकर अपने पुराण के प्रारम्भ मे रविपेण का स्मरण भी किया और पञ्चामृताभिषेक को पूर्वाचार्य कथित मानकर अपना लिया। बस

परम्परा चल पड़ी। सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन में सभी फलों के रसों से भगवान का अभिषेक करा दिया।

सोचने की बात है कि दुनिया जल से स्नान करती है। साक्षात् जिन का अभिषेक भी क्षीर समुद्र के जल से ही हुआ था। फिर उनकी मूर्ति का अभिषेक रसों से करने की क्या तुक है। दूसरे निवृत्ति प्रधान जैनधर्म में घी दूध दही आदि को अमृत कहीं भी नहीं बतलाया है। इनकी गणना तो विकृतियों में की गई है। इनके सेवन से विकार पैदा होता है अतः रस परित्याग में इनका त्याग कराया जाता है। ये तो हिन्दू धर्म में ही अमृत माने गये हैं। उन्हीं के यहाँ इन पञ्चामृतों से मूर्ति का अभिषेक होता है उन्हीं का प्रभाव हम पर भी पड़ गया है यह निश्चित है।

इसी तरह जैनधर्म में पूज्य केवल पञ्चपरमेष्ठी हैं क्योंकि उनमें रत्नत्रय का एकदेश या सर्वदेश पाया जाता है। जिनमें रत्नत्रय की पात्रता भी नहीं है वे जैनधर्म में पूज्य नहीं माने गये हैं। वैदिक धर्म में एक समय इन्द्र का बड़ा प्राधान्य था। जैनधर्म में उसी इन्द्र को जिनेन्द्र का सेवक बतलाया गया है। समवसरण में यक्ष यक्षिणियों को भगवान के ऊपर चमर ढोरने वाला बतलाया है। किन्तु बहुदेवतावादी हिन्दू संस्कृति के प्रभाव से जैनधर्म में इन यक्ष यक्षिणियों को शासन का रक्षक मानकर पूजने की परम्परा भट्टारक युग में चल पड़ी।

जैन आगम के अनुसार जैनधर्म में भट्टारक कोई पद नहीं है। शंकराचार्य ने बौद्ध और जैनधर्म के विरुद्ध जो अभियान शुरू किया था उससे बचने के लिये शंकराचार्य के द्वारा स्थापित मठों की तरह ही जैनधर्म में भी मठों और मठपतियों-भट्टारकों की परम्परा प्रवर्तित हुई। उससे जैनधर्म की रक्षा भी हुई। किन्तु हिन्दू मठपतियों से प्रभावित जनता के संरक्षण के लिये उनकी कुछ प्रक्रियाओं को भी अपनाना पड़ा। श्री पी० बी० देसाई ने अपनी 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया' नामक पुस्तक में तमिल प्रान्त में यक्षी संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि तमिल में जैन-

धर्म को शैव और वैष्णव धर्म से टक्कर लेनी पडी । शैव और वैष्णव धर्म मे पार्वती और लक्ष्मी पूजा का प्राधान्य था । क्योकि ये दोनो शिव और विष्णु की अर्धांगिनी थी । उधर जैनधर्म मे तीर्थङ्करो की कोई स्त्री नही थी । अत भक्त जनो के मन को आकृष्ट करने के लिये जैन यतियो ने अपने धर्म में यक्षी पूजा का आविष्कार किया ।

जैन प्रतिष्ठाविधि मे देवताओ का आह्वान वलिग्रहण, पूजन विसर्जन आदि सब हिन्दू धर्म के प्रभाव की देन है । यह तात्रिक-मात्रिक युग बौद्ध-धर्म को तो खा ही गया । जैनधर्म को वह खा तो नही सका किन्तु उसे उसने निवृत्तिवादी धर्म से प्रवृत्तिवादी धर्म वना दिया, उसीका प्रभाव है कि निवृत्तिवादी मुनिमार्ग भी प्रवृत्तिवाद पर उतर आया है । वह भी श्रावक-धर्म सम्बन्धी क्रियाकाण्ड का पुरस्कर्ता वन गया हे, उसे भी प्रतिदिन पञ्चामृताभिषेक देखे बिना चैन नही पडती । कहाँ कुन्दकुन्द का मार्ग और कहाँ अपने को कुन्दकुन्दान्वयी मानने वालो का मार्ग ? दोनो मे कितना अन्तर पड गया है ।

प्रस्तुत निवन्धावली के अनेक निवन्ध इन देवताओ की यथार्थता पर प्रकाश डालने वाले है और वे ही सग्रह की लेखगत विशेषता के लिये उल्लेखनीय हे । अभीतक किसी भी विद्वान् ने जैन क्रियाकाण्ड मे प्रविष्ट इस अंग पर आलोचनात्मक रूप से प्रकाश नही डाला था । दोनो विद्वानो ने शास्त्राधारपूर्वक इस विषय पर प्रकाश डाला है ।

श्री प० मिलापचन्द जी कटारिया का 'जैनधर्म और हवन' शीर्षक लेख भी वहुत महत्त्वपूर्ण है । अग्नि मे आहुति देकर देवताओ को तृप्त करने की वैदिकविधि इसके मूल मे है । वैदिक धर्म मे अग्नि को देवताओ का मुख कहा है । किन्तु जैनधर्म मे तो अग्नि न तो स्वय कोई देवता है और न देवताओ का मुख है । वह तो एक भस्म कर देने वाली जड वस्तु है । अत उसमे आहुति देकर किसी को तृप्त करने का वहाँ कोई प्रश्न नही है । पूजन तो अग्नि मे क्षेपण बिना भी सभव है ।

(इन्ही सब प्रवृत्तियों का विरोध उत्तरभारत में एक समय लहर के रूप में फैला। और वह तेरहपन्थ कहलाया। उस पन्थ ने पूज्य के स्थान में केवल पञ्चपरमेष्ठी को मान्य किया, पूजन में शुद्ध जलाभिषेक पूर्वक प्रासुक द्रव्य को अपनाया। मूर्ति पर किसी भी प्रकार का लिम्पन या पुष्पारोहण को अमान्य किया क्योंकि उनसे वीतराग छवि में दूषण लगता है।)

एकीभावस्तोत्र में वादिराज आचार्य ने कहा है —

आहार्येभ्य स्पृहयति पर य स्वभावादहृद्य
शस्त्रग्राही भवति सतत वैरिणा यश्च शक्य ।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्व न शक्य परेषाम्
तत्कि भूषावसनकुसुमै किञ्च शस्त्रैरुदस्त्रै ॥

हे जिन! जो स्वभाव से अमनोरम—असुन्दर होता है वह अपनी ऊपरी सजावट से दूसरो को आकर्षित करता है। जो वैरियो के वश में आने योग्य होता है वह सदा शस्त्र लिये रहता है। हे जिन! तुम तो सर्वाङ्ग सुन्दर हो, दूसरो के वश में भी आने योग्य नही हो, तब तुम्हें आभूषण, वस्त्र और फूलो से तथा अस्त्र-शस्त्र से क्या प्रयोजन है।

(यहाँ पुष्प का भी निषेध किया गया है।)

इस पन्थ का नाम तेरापन्थ था या तेरहपन्थ था? यह भी एक चर्चनीय विषय है। प० पन्नालालजी का 'तेरहपन्थ खण्डन' नाम का ग्रन्थ है। यह जयपुरी गद्य में है। इसके प्रारम्भ में लिखा है—

'दिगम्बरम्नाय है सो शुद्धम्नाय है। या विषै भी तेरहपन्थी को अशुद्ध अम्नाय है सो याकी उत्पत्ति तथा श्रद्धा ज्ञान आचरण कैसे है ताका समाधान—पूर्वरीतिकू छाडि नई विपरीत आम्नाय चलाई तातैं अशुद्ध है। पूर्वरीति तेरह थी तिनकौ उठा विपरीत चले, तातैं तेरापथी भये, तेरह पूर्व किसी, ताका समाधान—

दसदिकपाल उथापि १, गुरूचरणा नहि लागै २ ।
केसरचरणा नहि धरै३, पुष्पपूजा फुनि त्यागै ॥ ४ ॥
दीपक अर्चा छाडि ५, आसिका ६ माल न करही ७ ।
जिन न्हावण ना करै ८, रात्रिपूजा परिहरही ॥ ९ ॥
जिन शासनदेव्या तजी १०, राध्यौ अन चढ़ौडै नही ११ ।
फल न चढावै हरित पुनि १२, वैठिर पूजा करै नही ॥१३॥
ये तेरै उरधारि पंथ तेरै उरथप्पे ।
जिनशासन सूत्र सिद्धातमाहि ला वचन उथप्पे ॥

अर्थात्—दस दिग्पालो की पूजा, भट्टारको की पदवन्दना, भगवान के चरणो मे केसर चढाना, पुष्प पूजा, दीपक पूजा, आसिका, माल, जिनाभिषेक, रात्रिपूजा, शासनदेवता, राधे हुए अन्न का चढाना, हरितफल चढाना, बैठकर पूजा करना ये तेरह बातो को छोड देने से तेरह पन्थ कहलाया।

इसके आगे पद्धडीछन्द मे कामा से सागानेर की लिखी हुई एक चिट्ठी दी है। कामा से लिखनेवाले है—हरि किसन, चिन्तामणि, देवीलाल और जगन्नाथ। और सागानेरवालो के नाम है—मुकुददास, दयाचन्द, महासिह, छाज, कल्ला, सुन्दर और बिहारीलाल। सागानेरवालो से आग्रह किया गया है कि हमने इतनी बाते छोड दी है सो आप भी छोड देना—जिनचरणो मे केसर लगाना, बैठकर पूजा करना, चैत्यालय मे भण्डार रखना, प्रभु को जलौट पर रखकर कलश ढोलना, क्षेत्रपाल और नवग्रहो की पूजा करना, मन्दिर मे जुआ खेलना और पखे से हवा करना, प्रभु की माला लेना, मन्दिर मे भोजको को आने देना, भोजको द्वारा बाजे बजवाना, राधा हुआ अनाज चढाना, थालोडी (?) करना, मन्दिर मे जीमन करना, रात्रि को पूजन करना, रथयात्रा निकालना, मन्दिर मे सोना आदि। यह चिट्ठी फागुन सुदी १४ स० १७४९ को लिखी गई बतलाई है।

यह कथन तो तेरापंथ के विरोधियों का है।

जोधराज गोदीका ने अपने प्रवचनसार भाषा के अन्त में लिखा है—

कोई [illegible] ,
[illegible] ।
कोई [illegible],
[illegible] ॥
कोई [illegible],
[illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥

अर्थात् सारे लोग [illegible], तेरापंथ आदि [illegible] परन्तु जोधराज [illegible] तेरापंथ [illegible] है।

तेरापंथ के विरोधियों और [illegible] के द्वारा समाज में तेरापंथ और तेरहपंथ दोनों ही नाम प्रचलित होते हैं। किन्तु बीसपंथ नाम से तो यही प्रतीत होता है कि तेरहपंथ नाम के प्रतिवाद में ही बीसपंथ नाम रखा गया था। जैसे बीस संख्या परक है वैसे ही तेरह भी संख्या परक होना चाहिये। जिसमें से बीस की उत्पत्ति समझ में नहीं आती। हाँ, तेरापंथियों से बीस का विरोध बता दिया हो यह सम्भव है। जैसे दस्सों से ऊँचे बीसा होते हैं। वैसे ही तेरह से ऊँचे बीस हैं सम्भवतया यही प्रकट करने के लिये बीसपंथ नाम रखा गया होगा। अस्तु जो कुछ हो, किन्तु पूजाविधि को लेकर झगड़ने की बात समझ में नहीं आती। और मुनिराजों को तो गृहस्थों के इस विवाद में पड़ना ही नहीं चाहिये। उनके लिये तो द्रव्यपूजा ही विधेय नहीं है तब सचित्त और बहुआरम्भी पूजा का विधान वे कैसे कर सकते हैं?

जैनधर्म का लक्ष्य पूर्ण वीतरागता है अत राग को घटाना ही विधेय है। शुद्ध जलाभिषेक मे अल्प आरम्भ होने से अल्पसावद्य है, पञ्चामृताभिषेक मे बहुत आरम्भ होने से सावद्य भी विशेष है इसी तरह सचित्तपूजा से अचित्तपूजा मे अल्पसावद्य है, हिंसा कम है। फिर भी जिन गृहस्थो को वही पसन्द हो वे करे, किन्तु मुनिमहाराजो को उसका आग्रह होना उचित नही है। आज उन्हीके आग्रहवश यह पन्थ विवाद जोर पकड रहा है। अस्तु,

इस निवन्धावली मे कुछ लेख शुद्ध साहित्यिक भी है। जैसे देवसेन का भावसग्रह और देवसेन का नयचक्र। प्रथम लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है उसमे भावसग्रह का पर्यवेक्षण करते हुए उसे सारान्त ग्रन्थो के रचयिता देवसेन की कृति माने जानेका जो निषेध किया है वह सवल है। हमने भी भावसग्रह को तुलनात्मक दृष्टि से देखा है। हमे भी वह गोमट्टसार जीवकाण्ड के पश्चात् ही रचा गया प्रतीत होता है। जीवकाण्ड को सामने रखकर उसकी रचना हुई है। भावसग्रह मे केवल १४ गुणस्थानो की चर्चा है। १४ गुणस्थानो का नाम वतलाने वाली दोनो गाथाएँ जीवकाण्ड की है केवल दूसरी गाथा के अन्तिम चरण मे 'चउदस जीवसमासा' के स्थान मे 'ए चउदस गुणठाणा' पद कर दिया गया है। प्राकृत पंचसग्रह के अन्तर्गत जीवसमास मे भी ये दोनो गाथाएँ है। वहाँ भी 'चोद्दस गुणठाणाणि' पाठ है। अत यह भी सभावना की जा सकती है कि भावसग्रह के कर्ता ने उन गाथाओ को जीवकाण्ड से न लेकर प्राकृत पञ्चसग्रह से लिया होगा। किन्तु प्राकृत पञ्चसग्रह मे मिथ्यात्व के पाच भेदो और उनको मानने वाले मतो की चर्चा नही है। यह कथन जीवकाण्ड मे है और भावसग्रह मे भी है। भावसंग्रह मे भी जीवकाण्ड की तरह ही ब्रह्म को विपरीत मिथ्यादृष्टि, वुद्ध को एकान्त मिथ्यादृष्टि, तापस को वैनयिक मिथ्यादृष्टि, इन्द्र (श्वेताम्वरो को) सशय मिथ्यादृष्टि और मस्करी को अज्ञान मिथ्यादृष्टी वतलाकर उनके मतो का विस्तार से

निरूपण और खण्डन किया है जैसा सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में किया है।

जीवकाण्ड की गाथा १२ भावसग्रह मे ३६० वी गाथा है। भावसग्रह की गाथा ३१३ जीवकाण्ड की गाथा ५७३–५७४ का एक-एक अर्ध लेकर रची गयी है। किसी-किसी गाथा पर द्रव्यसग्रह की भी छाया प्रतीत होती है। यथा—

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसजुदो देहमित्तो।
कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

भावसग्रह की इस गाथा को पढकर द्रव्यसग्रह की नीचे लिखी गाथा का स्मरण होता है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

दोनो के अन्तिम चरण विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है।

३४५ गाथा का चरण 'जहकालेण तवेण य' द्रव्यसग्रह की गाथा ३६ का 'जहकालेण तवेण य' का वरवस स्मरण कराता है।

देवसेन ने भावसगह मे कौलधर्म की भी आलोचना की है। यह एक वाम मार्ग था जो दसवी शताब्दी मे भारत मे फैला हुआ था, सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन मे भी उसकी चर्चा की है। उसी समय के राजशेखर ने अपनी कर्पूरमजरी मे भी कौलधर्म को चर्चा की है। कर्पूरमजरी और भावसग्रह के निम्न पद्य समानता की दृष्टि मे उल्लेखनीय है—

रण्डा चण्डा दिक्खिआ धम्मदारा
मज्ज मस पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्ज चम्मखण्ड च सेज्जा
कालो धम्मो कस्सणो भाइ रम्मो ॥

—कर्पूरमजरी १–२३।

रडा मुडा थडी सुडी दिक्खिदा धम्मदारा।
सीसे कता कामासत्ता कामिया सा वियारा॥
मज्जं मस मिट्ठं भक्ख भक्खिय जीवसोक्ख च
कउले धम्मे विसये रम्मे त जि हो सग्गमोक्ख ॥१८२॥

—भावसग्रह ।

इन तथा प्रस्तुत सग्रह के लेख मे प्रदर्शित युक्तियो के प्रकाश मे भाव-सग्रह के रचयिता देवसेन सारान्त ग्रन्थो के रचयिता देवसेन से भिन्न ही सिद्ध होते है। हा, नयचक्र की स्थिति विचारणीय है। देवसेन कृत जिस नयचक्र का उल्लेख माइल्लधवल ने किया है वह सस्कृत नयचक्र तो नही हो सकता क्योकि उसके रचने पर नयचक्र पर आलापपद्धति रचने की आवश्यकता नही रहती, सस्कृत नयचक्र मे आलापपद्धति का भी उपयोग किया गया है ऐसा तुलना से प्रतीत होता है। आलापपद्धति की रचना मे जो वैदुष्य और शालीनता है, सस्कृत नयचक्र मे वह सब नही है। जो प्राकृत नयचक्र देवसेन के नाम से मुद्रित है वह प्राय माइल्लधवल के द्रव्यस्वभाव प्रकाश मे समाया हुआ है। सभव है माइल्लधवल ने अपने गुरु के नयचक्र को वेष्ठित करके ही अपना ग्रन्थ रचा हो। इस विषय मे अभी अनुसन्धान की आवश्यकता है।

'कुछ श्लोको के अर्थ पर विचार' करते हुए विद्वान् लेखक ने 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' अनेक युक्तियो और प्रमाणो से सिद्ध किया है। वह मननीय है। उससे यह भी प्रकट होता है कि आचार्य प्रणीत ग्रन्थो मे आगत शब्दो का अर्थ करते समय सावधानी की कितनी अधिक आवश्यकता है। और उसके लिये शास्त्रीय व्युत्पत्ति के साथ सामयिक स्थिति के भी परिशीलन की आवश्यकता है।

अधिकाश जैन विद्वान् यह मानकर चलते है कि प्रत्येक आचार्य प्रणीत प्रत्येक ग्रन्थ का प्रत्येक शब्द सर्वज्ञ कथित है। साथ ही वे अपनी विचार-

धारा के साथ भी उसका मेल बैठाना चाहते हैं। उचित तो यह है कि ग्रन्थ के अनुसार अपनी विचारधारा को बनाया जाये और यदि समन्वय शक्य न हो तो तत्कालीन उन सामयिक स्थिति का पर्यवेक्षण किया जाये जिसमे रहकर ग्रन्थकार ने ग्रन्थ रचना की है। क्योंकि प्रत्येक बहुमूल्य रचना केवल उस परम्परा का ही प्रतिनिधित्व नही करती जिस परम्परा से उसका सम्बन्ध होता है किन्तु अपने समय का भी प्रतिनिधित्व करती है। जो समय का प्रतिनिधित्व नही करती वह रचना रचना ही नही है। प्रत्येक दृष्टिसम्पन्न ग्रन्थकार ग्रन्थ रचना करते समय लोक मे प्रवर्तित सामयिक विचारो के अनुकूल या प्रतिकूल कुछ न लिखे यह सम्भव नही है। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलक, विद्यानन्द, अमृतचन्द्र, प्रभाचन्द्र, सोमदेव आदि की कृतियाँ इसके साक्षी है। कुन्दकुन्द के सामने वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध और वेदान्त की विचारधारा थी। समन्तभद्र और सिद्धसेन के सामने षड्दर्शनो के व्याख्याकार थे। अकलक के सामने प्रख्यात बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति और मीमासक कुमारिल थे। इन सबकी कृतियाँ तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओ की आलोचना-प्रत्यालोचना से भरी हुई है। दार्शनिक उथल-पुथल के साथ धार्मिक उथल-पुथल का होना भी स्वाभाविक है। जिनसेनाचार्य का महापुराण इसका साक्षी है। उसमे तत्कालीन ब्राह्मणवाद का पूरा चित्र अकित है। लोकवित् सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू भारतीय साहित्य का अनमोल रत्न है। उसमें तत्कालीन भारतीय सस्कृति की इतनी सामग्री भरी हुई है कि उस सबका अवगाहन कर सकना भी कठिन है।

सोमदेव जैन विचारधारा के कट्टर अनुयायी थे किन्तु उदार भी थे। उनकी वह उदारता थी परम्परा के सरक्षण के लिये। उनकी यह उक्ति जैन परम्परा के सरक्षण के लिये स्वर्णिम सदेश है—

‘सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि’।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥’

सभी जैनो को वह लोकाचार प्रमाण है जिससे सम्यक्त्व मे हानि न आती हो और न व्रत मे दूषण लगता हो।

उन्होने जो सत् शूद्र को दान का अधिकारी बतलाया है वह आज कुछ विद्वानो को इसलिये अयुक्त लगता है कि आज शूद्र जल त्याग का नया धर्म प्रवर्तित कर दिया गया है। किन्तु जैनधर्म मे सत् शूद्र की वही स्थिति नही थी जो मनुस्मृति मे प्रतिपादित है। उसे अमुक सीमा तक धर्म सेवन का अधिकार था।

इसी तरह सोमदेव ने ब्रह्माणुव्रत के लक्षण मे वधू की तरह वित्तस्त्री (वेश्या) की भी छूट दे दी है। यह सामयिक प्रभाव है। इसे न समझकर कुछ नासमझ लोगो को 'वित्तस्त्री' का अर्थ वेश्या करने पर आपत्ति है किन्तु उनकी वह आपत्ति भावनामूलक है। वित्तस्त्री का वेश्या के सिवाय दूसरा अर्थ होता ही नही।

सोमदेव का 'नीतिवाक्यामृत' शुद्ध अर्थशास्त्र का ग्रन्थ है। जैन दृष्टिकोण से उसका मूल्य आँकना ही नही चाहिये। वह तो लौकिक ग्रन्थ है। लोकधर्म को लेकर लिखा गया है। सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन मे लिखा है—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक पारलौकिक'।
> लोकाश्रयो भवेदाद्य पर स्यादागमाश्रय ॥

गृहस्थ के दो धर्म होते है—लौकिक और पारलौकिक। लौकिक धर्म-लोक के आश्रय से चलता है और पारलौकिक धर्म आगम के अनुसार चलता है।

अत नीतिवाक्यामृत उसी लोकाश्रय धर्म का प्रतिपादक है और उपासकाध्ययन मे प्रतिपादित धर्म पारलौकिक धर्म है। परलोक के लिये उसी का अनुसरण करना चाहिये। यद्यपि उसमे ऐसा भी कथन है जो शिथिलाचार का पोषक है किन्तु ग्रन्थकार की भावना दूषित नही है। उसके मूल

मे भी धर्म प्रेम है। उसके कारण सोमदेव जैसे महान् ग्रन्थकार का अनादर नही होना चाहिये, इतना ही हमारा अभिप्राय है।

अन्त मे इस सकलन के सम्बन्ध मे हम इतना कह देना अपना कर्त्तव्य समझते है कि लेखो का चुनाव और क्रम सन्तुलित नही है। उसमे परिवर्तन की आवश्यकता थी। अखबारी दुनिया और पुस्तकीय ससार मे भेद है। पहली मे सब चल जाता है किन्तु दूसरी मे नही। अत यदि उनमे तदनुकूल परिवर्तन कर दिया जाता तो उचित होता।

इस सग्रह के प्रकाशक बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता एक गुणग्राही व्यक्ति है। साहित्य और साहित्यकारो के प्रति उसके चित्त मे बहुमान है। उन्होने इस सग्रह को प्रकाशित करके अपनी गुणग्राहकता का ही परिचय दिया है। किन्तु खेद है कि इन पक्तियो के लिखे जाने के बाद ही २६ जनवरी सन् १९६६ को उनका स्वर्गवास हो गया और वे अपने इस प्रकाशन की एक झलक भी नही देख सके।

अन्त मे मै लेखक और प्रकाशक दोनो का ही आभारी हू कि उन्होने मुझे अपने भाव प्रदर्शित करने का अवसर दिया।

ऋषभ निर्वाण दिवस
वी० नि० स० २४९२

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन निबन्ध रत्नावली



प्राकृत भाषा के प्रति हमारी उपेक्षा

अनेक भापाओ मे प्राकृत भी एक भापा है। इस भापा के विशेपज्ञो का कहना है कि अति प्राचीनकाल मे इस देशके आर्य लोगोकी यह वोल-चाल की भापा थी। आज भी भारत के अनेक प्रदेशो मे वोली जाने वाली भाषाओ मे इस भापा के प्रचुर शव्द पाये जाते है। अन्य अनेक भापाओ का उद्गम इसी भापा से हुआ है। वस्तुत प्राकृत भाषा को अनेक भापाओ की जननी कहना चाहिये। इस मान्यता को ईसा की ८ वी शताव्दी के जैनेतर महाकवि वाक्पतिराज ने भी अपने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य मे इन स्पष्ट शव्दो मे व्यक्त किया है—

सयलाओ इम वाया विसति एत्तो य णेति वायाओ।
एति समुद्द चिय णेति सायराओच्चिय जलाइ ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसी प्राकृत भापा मे सव भापाये प्रवेश करती है और इस प्राकृत भापा से ही मव भापाये निकली हैं। जल समुद्र मे ही प्रवेश करता है और समुद्र से ही (वाष्प रूप से) वाहर निकल जाता है।

ये ही महाकवि उसी ग्रन्थ मे प्राकृत की प्रशसा करते हुये कहते है—

णवमत्थदसण सनिवेससिसिराओ वधरिद्धीओ।
अविरलमिणमो आभुवणवधमिह णवर पययम्मि ॥ ७२ ॥

अर्थ—पृथ्वी भर में मे नूतननूतन अर्थोका दर्शन और सुन्दर रचना वाली प्रवन्ध सम्पत्ति यदि कही भी है तो वह केवल प्राकृत भापा मे ही है।

ईसाकी नवमी शताव्दी के जैनेतर कवि राजशेखर ने भी प्राकृत भापा की महत्ता वताते हुये कहा है कि—

परुसो सक्कअ-वधो पाउअ-वधोवि होइ सुउमारो।

"कर्पूर मजरी"

प्रकृतिमधुरप्राकृतगिर ।

"बालरामायण"

अर्थ—संस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार कोमल है। प्राकृत भाषा स्वभाव से ही मधुर है।

जैनियो की प्रधान भाषा प्राकृत ही है। अति प्राचीन काल के जैन ग्रन्थ इसी भाषा मे रचे मिलते है। इसी भाषा के मौलिक साहित्य के आधार पर संस्कृत के अनेक उत्तम जैन ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। अगर प्राकृत भाषा को जैन भाषा कहा जावे तो अत्युचित नही है। जो भाषा इतनी प्राचीन, सरल और जैनो की खास आगमिक भाषा है, खेद है कि आज उसी की तरफ हमारा पूरा दुर्लक्ष्य है। हमारे विद्यार्थी संस्कृत पढते है—अँग्रेजी पढते है परन्तु प्राकृत भाषा को कोई भी नही पढता है। भगवान् महावीर की पवित्र वाणी के प्रचार के लिये, जैनतत्त्व बोध के लिये और प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों का रहस्य समझने के लिये ही तो भारतवर्ष भर के जैन विद्यालयोमे जैन समाज का लाखो रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है। तब फिर प्राकृत शिक्षा की तरफ हमारी इतनी उपेक्षा क्यो है? हम ही अपनी मूलभाषा की पूछ न करेगे तो अन्य कौन करेगा? खासकर दि० जैन समाज मे तो मानो प्राकृत भाषा उठ ही गई है। हमारे यहाँ प्राकृत ज्ञान की इतनी कमी है कि रोजमर्रा बोलने के साधारण प्राकृत पाठ भी अशुद्ध प्रचार मे आ रहे है। नमूने के तौर पर मंगलोत्तम शरण पाठ को ही लीजिये। यह पाठ नित्य नियम पूजा आदि मे निम्न प्रकार छपा मिलता है—

"चत्तारि मगल। अरहत मगल, सिद्ध मगल, साहू मगल, केवली-पण्णत्तो धम्मो मगल। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहता लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलीपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहत सरण पव्वज्जामि, सिद्ध सरण पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलीपण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि।"

दि० जैनसमाज मे इस अशुद्ध पाठ का खासा प्रचार हो रहा है। छोटे से वडे तक प्राय सव इसी तरह उच्चारण करते पाये जाते हैं। प्राकृत का मामूली ज्ञाता भी जान सकता है कि यह पाठ कितना अशुद्धिपूर्ण है।

अरहत मगल, सिद्ध मगल, अरहत लोगुत्तमा, सिद्ध लोगुत्तमा मे अरहत सिद्ध शव्दको कौन-सी विभक्ति का कौन-सा वचन माना जावे ? प्रथमाविभक्ति का तो कोई भी रूप ऐसा नही वनता है। अरहत शव्द की प्रथमा विभक्ति का एकवचन प्राकृत मे 'अरहतो' होता है, वहुवचन 'अरहता' होता है। इसी तरह सिद्ध शव्दका क्रमश 'सिद्धो' 'सिद्धा' होता है। जैसा कि "केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल" वाक्यमे पण्णत्त व धम्म शव्द का पण्णत्तो-धम्मो यह प्रथमा विभक्ति का एकवचन हुआ है। अरहत, सिद्ध ऐसे तो रूप ही नही होते हैं। 'लोगुत्तमा' यह प्रथमा का वहुवचन है तव 'धम्मो लोगुत्तमा' यह स्पष्ट ही अशुद्ध है। क्योकि धम्मो इस एक-वचन के साथ लोगुत्तमा यह वहुवचन नही वन सकता। इसी तरह "अरहत सरण पव्वज्जामि, सिद्ध सरण पव्वज्जामि" मे अरहत सरण, सिद्ध सरण को समासात पद मानकर शुद्ध समझ लिया जावे तो "केवलि-पण्णत्तो धम्मो सरण पव्वज्जामि" मे कैसे माना जावे ? मतलव कि यह सव पाठ ही काफी अशुद्धियो से भरा हुआ है।

यहाँ हम इसी का शुद्ध पाठ सस्कृत छाया सहित लिख देना उचित समझते है—

"चत्तारि मगल—अरहता मगल, सिद्धा मगल, साहू मगल, केवलि-पण्णत्तो धम्मो मगल। चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि—अरिहते सरण पव्वज्जामि, सिद्धे सरण पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि।"

इसकी सस्कृतछाया—

चत्वारि मगलानि—अर्हतो मंगलं, मिद्धा मगल, माधवो मगलं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मगलं। चत्वारो लोकोत्तमा – अर्हतो लोकोत्तमा, सिद्धा लोकोत्तमा, साधवो लोकोत्तमा, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तम। चतुर शरण प्रव्रजामि-अर्हत शरणं प्रव्रजामि, सिद्धान् शरण प्रव्रजामि, साधून् शरण प्रव्रजामि, केवलिप्रज्ञप्तं धर्म शरण प्रव्रजामि।*

यह एक ही ऐसा पाठ है जिसका लाखो जैनियोको भगवद्दर्शनपूजनमे नित्य काम पडता है। और जैनविद्यालयो मे गुरु ही मे पढाया जाता है। उसीमे इतनी अशुद्धियो की भरमार होना यह वताता है कि दि० जैन-समाज मे प्राकृत शिक्षाकी भारी कमी है जिसके दूर किये जानेकी सख्त जरूरत है।



* पव्वज्जामिका सस्कृत रूप जिनसेनाचार्यने 'प्रपद्यामि' दिया है। और प्रभाचन्द्र ने 'प्रव्रजामि' दिया है। इनके लिए क्रमश देखिए—'महापुराण, पर्व ४० श्लोक २७ से ३० तथा क्रियाकलाप, पृ० १४४।

देवनंदि और गुणभद्र के अभिषेक पाठ

करीब २५ वर्ष पहिले 'वनजी ठोलिया ग्रथमाला, जयपुर से "अभिपेक पाठ सग्रह" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। जिसके सपादक और सशोधक है प० पन्नालालजी सोनी शास्त्री। इस सग्रह मे कई एक अभिपेक पाठो का सकलन किया गया है जिनमे से पूज्यपाद और गुणभद्र के अभि-पेक पाठो को सपादकजी ने प्रस्तावना मे उन्ही प्राचीन पूज्यपाद और गुण-भद्र के रचे हुए वताये है जो पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि आदि के कर्ता है और जो विक्रम की पाँचवी छठवी शताब्दी मे हुए है। तथा जो गुणभद्र उत्तरपुराण आदि के कर्ता व आचार्य जिनसेन के शिष्य है और जो विक्रम की ९वी शताब्दी मे हुए है। सपादकजी ने इस विपय मे जो भी दलीलें दी है वे सब नि सार और तथ्यविहीन है। प्रस्तुत लेख मे हम इसी विपय पर अपने विचार रखते है।

अवतक के उपलब्ध अभिपेक साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस विपय के ज्ञात साहित्य मे अभिपेक का थोडा वहुत वर्णन करने वाला सबसे प्रथम सोमदेव कृत यशस्तिलक के उपासकाध्ययन प्रकरण का ३६वाँ कल्प है। सोमदेव का समय विक्रम की ११वी सदी है। इसके वाद इसी को आधार बनाकर प० आशाधरजी ने कुछ विस्तार से नित्यमहोद्योत नाम का अभिपेक पर एक स्वतत्र ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसके पहिले इस विपय का कोई स्वतत्र ग्रन्थ देखने मे नही आया है। पं० आशाधर जी के जीवन का पता विक्रम की १३वी सदी के अत तक लगता है। शेप अभिपेक पाठ जो उक्त सग्रह मे छपे है वे सब आशाधरजी के वाद बने हुए है। इन पाठो मे इद्रनंदि, देवनंदि और गुणभद्र कृत पाठ मुख्य है। ये तीनो पाठ आशाधरजी के कुछ ही

वाद वने जान पड़ते है। इन तीनो पाठो मे आशाधर का अनुसरण करते हुए कही कुछ भिन्न विधान भी लिखे है। तीनो का तुलनात्मक अध्ययन करने मे पता लगता है कि ये तीनो एक ही कोटि के ग्रथ है और तीनो के कर्ताओ का समय भी करीव पास पास ही है। इन तीनो ही का उल्लेख आशाधर के वाद के ग्रथो मे तो मिलता है किंतु आशाधर के पूर्व कही नही मिलता है। न आशाधर ने ही इनका कही उल्लेख किया है। मुख्यत इनका उल्लेख एकसधि, अर्यपार्य और पूजासार के सकलनकर्त्ता ने किया है और ये सब आशाधर के वाद १४वी सदी मे हुए है।

उक्त अभिपेक पाठो के कर्ता इद्रनदि आदि तीनो मे से इन्द्रनन्दि का समय तो स्पष्ट ही है कि ये आशाधर के वाद हुए है। क्योकि आशाधर की कोई कोई रचना इन्होने ज्यो की त्यो अपनी इद्रनदिसहिता मे उद्धृत कर ली है जिसे सपादक जी ने भी स्वीकार किया है। अव रहे देवनदि और गुणभद्र के अभिपेकपाठ, तो इनको भी हम निम्नलिखित आधारो से आशाधरजी के वाद की ही कृतियाँ समझते है।

१—आशाधरजी के ग्रन्थो की रचना शैली का अध्ययन करने वाले जानते है कि उनमे जो विपय चर्चित किया जाता है उसके समर्थन मे कही न कही प्रसगोपात्त किसी अन्य ग्रंथ का उद्धरण दिया जाता है। उनके वनाये नित्यमहोद्योत अभिपेकशास्त्र मे या अन्यत्र सोमदेव का तो उद्धरण है किन्तु इन देवनदि गुणभद्र के पाठो का कही उद्धरण नही है। इससे स्पष्ट है कि—प० आशाधर जी के पूर्व सोमदेवकृत अभिपेकप्रकरण तो मौजूद था किन्तु देवनदि गुणभद्र के अभिपेक पाठ नही थे।

२—आशाधरजी के अभिपेकपाठ मे वहुत ही कम मन्त्र पाये जाते है। यहां तक कि खास जलादि अभिपेक के वक्त के भी नित्यमहोद्योत मे मूल मे मत्र नही है वे भी टीकाकार श्रुतसागर ने लिखे है। आशाधर के पहिले सोमदेव ने तो ये आशाधर वाले मत्र भी नही लिखे है। नित्य महोद्योत मे प्रयुक्त मत्रो का प्रसग निम्न प्रकार है—

क्षेत्रपाल, वास्तुदेव, दिग्पाल व वात मेघ-अग्नि कुमार और नागदेव इन देवोके आह्वानादि मत्र। अर्हत आह्वानादि मत्र। कलशस्थापन, प्रतिमास्पर्शन, प्रतिमास्थापन, पाद्य और आचमन वस इनके मत्र ही प्राय आशाधरने लिखे है। किंतु इद्रनन्दि, देवनदि और गुणभद्रके पाठोमे उक्त मत्र तो है ही साथ ही, निम्नलिखित प्रसगोके भी मत्र लिखे मिलते है—

(भूमिशुद्धि, दर्भस्थापन, मुद्रिका-ककण-शेखर—यज्ञोपवीतधारण, धोती-डुपट्टाधारण, कलशार्चन, पीठस्थापन, पीठप्रक्षालन, पीठार्चन, श्री लेखन, श्रीयत्रार्चन, जलादिअभिषेक, गोमयपिण्डादि-अवतारण और पुष्पार्पण इन सब क्रियाओ के मत्र लिखे है। तथा जलादि अष्टद्रव्य चढाने के "परमेष्ठिभ्य स्वाहा जल। परमात्मकेभ्य स्वाहा चदन। अनादिनिधनेभ्य स्वाहा अक्षत आदि मत्र भी लिखे है जो विलक्षण से लगते है) ये सब मंत्र आशाधरके अभिषेकपाठ मे ही नही उनके प्रतिष्ठासारोद्धारमे भी कही नही है। यह कभी नही हो सकता कि ये मत्र देवनदि आदि प्राचीन ऋषिप्रणीत होते और आशाधरजी इनका उपयोग नही करते। (इन देवनन्दि-गुणभद्र के अभिषेक पाठो मे पाये जाने वाले इन मत्रो से तो उल्टे यह कहा जा सकता है कि—इन्होने जहाँ आशाधर के मत्र थे वहाँ तो वे काम मे लिये है और जहाँ न थे वहाँ इन्होने अपनी तरफ से नये बना लिये है। सच तो यह है कि मत्रो की यह अधिक भरमार ही इन अभिषेकपाठो को अर्वाचीन सिद्ध कर रही है।)

यह भी नही कह सकते कि—ये सभी मत्र पीछे से ग्रथ मे किसी ने जोड दिये है। (क्योकि खुद ही इन देवनन्दि ने अपने इस अभिषेकपाठ मे मत्र होने की विज्ञप्ति की है। यथा—

निष्ठाप्यैव जिनाना सवनविधिमनु प्राच्यंभूभागमन्य
पूर्वोक्तैमन्त्रयन्त्रैरिह भुवि विधिनाराधनापीठयन्त्रम् ॥ ३७ ॥

इसमे लिखा है कि—"इस प्रकार जिनाभिषेक की विधि को समाप्त

करके वाद मे पूर्वोक्त अभिषेक विधि मे कहे गये मत्र यंत्रो के द्वारा मडल-पूजा के लिये अन्य भूभाग की पूजा करके यहाँ इस भूभाग मे विधि के साथ आराधनापीठ को रखकर ।")

अलावा इसके एकसंधिभट्टारक भी इनमे लिखे मत्रो को ग्रहण करने का आदेश देते है । वे अपनी वनाई जिनसहिता के मत्रविधि नामक २०वे परिच्छेद के अन्त मे निम्न प्रकार लिखते है—

पूज्यपादगुणभद्रसूरिभिर्वज्रपाणिभिरपि प्रपूजितैं ।
मन्त्रवद्वचनमप्युदीरितं शस्यतेऽत्र सकलेऽपि कर्मणि ॥

अर्थ—पूज्यपाद गुणभद्र और इन्द्रनन्दि इन ग्रथकारो ने जो मत्र वाक्य लिखे है वे सभी कर्म मे प्रशसनीय है यानी उनका सव क्रियाओ मे उपयोग करना चाहिये ।

इससे सिद्ध है कि एकसधि के वक्त मे भी इन अभिषेकपाठो मे मत्र लिखे हुए थे । एकसधि का समय विक्रम स० १३५० के करीव माना जा सकता है ।

[मुद्रित अभिषेकपाठसग्रह मे गुणभद्र के अभिषेक पाठ के साथ मत्रभाग नही छपा है । यह सम्पादक महोदय की कूटनीति का परिणाम है जो उनके सामने मत्रभाग वाली प्रतियाँ होते हुए भी उनकी अवहेलना की । पूजासार नाम के हस्तलिखित ग्रन्थ मे गुणभद्र का यह सारा का सारा पाठ आदि से अत तक ज्यो का त्यो उद्धृत है । उनमे वे सव मत्र लिखे हुए है जो इन्द्रनन्दि और देवनदि के अभिषेकपाठो मे पाये जाते है । गुणभद्र के पाठ की मुद्रित प्रति मे तो मन्त्रभाग ही क्या वल्कि उसके कई स्थलो के कई श्लोक और गद्यभाग भी छपने से छूट गये है । इस सवध मे हम आगे लिखेगे]

३—आशाधर ने रसाभिषेक का वर्णन करते हुए इक्षुरस, खजूर-आँवला-नारियल-द्राक्ष आदि फलो का रस इन सवके सयुक्त रस से एक ही वार मे अभिषेक करने का विधान किया है । [किन्तु देवनन्दि आदि उक्त

तीनो के पाठो मे इस तरह से रसाभिषेक करना नही बताया है। वहाँ नारियल का जल, इक्षुरस और आम्ररस इन तीनो के द्वारा क्रम से अलग-अलग अभिषेक करने का कथन किया है व रसो मे इन तीन ही का रस लिखा है, अन्य फलो का रस नही। तथा आशाधर ने कषायोदक से स्नान आरती के पहिले करना बताया है जब कि उक्त तीनो पाठो मे आरती के बाद कषायोदक से स्नान करने को कहा है। इस प्रकार देवनदि आदि तीनो के पाठो से आशाधर का कथन भिन्न पड़ता है। चूंकि आशाधर सोमदेव के बाद हुए है इसलिये आशाधर ने इस विषय मे सोमदेव का अनुसरण किया है यहाँ तक कि रसाभिषेक मे सोमदेव ने यशस्तिलक मे जिन-जिन फलो के नाम लिखे है वे ही नाम आशाधर ने भी लिख दिये है। अगर इन अभिषेकपाठो के कर्ता देवनन्दि और गुणभद्र प्राचीन होते तो इनमे जैसी और जिस क्रम से अभिषेकविधि बताई गई है वैसी ही आशाधरजी भी लिखते और वैसी ही सोमदेव भी।

४—देवनदि के अभिषेक पाठ के पृष्ठ २ मे छपा "नीरजसे नम" आदि अष्टविधार्चन जिनसेन के आदिपुराण के समान है और उसी के पृष्ठ ४ मे छपा अष्टविधार्चन इद्रनदि गुणभद्र के पाठो के अनुसार है। यदि यह अभिषेक पाठ प्राचीन देवनदि कृत होता तो पृ० २ वाला अष्टविधार्चन ही इसमे लिखा मिलता। तब इससे यह समझा जाता कि इनका अनुसरण जिनसेन ने किया है किन्तु दो तरह का अष्टविधार्चन इसमे लिखा होने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस अभिषेक पाठ के कर्ता देवनदि के सामने जिनसेन का अष्टविधार्चन और आधुनिक अष्टविधार्चन दोनो मौजूद थे।

५—देवनदि के इस अभिषेक पाठ के प्रारभ के २ श्लोक गुणभद्र पाठ के है। क्योकि इद्रवामदेव ने गुणभद्र पाठ की पजिका लिखी है जो इसी सग्रह मे छपी है। उसमे इन दोनो श्लोको के भी कठिन शब्दो की व्याख्या की है। इससे देवनदि का पाठ गुणभद्र के पाठ के बाद मे बना

सिद्ध होता है। इद्रवामदेव का समय करीव विक्रम की १४वी सदी का अन्त कहा जा सकता है। उस वक्त भी उक्त २ श्लोक गुणभद्र के पाठ मे लिखे मिलते थे।

६—देवनदि के इस पाठ के श्लोक ३८ मे तिथिदेव, ग्रह, यक्ष, यक्षी, द्वारपाल और लोकपाल इन देवो की आराधना का कथन किया गया है। वल्कि इस स्थल का सारा ही विधान इद्रनदि और गुणभद्र के पाठो से मिलता-जुलता है। यह पद्धति प्राचीन पूज्यपाद की आम्नाय से मेल नही खाती है। क्योकि इन्होने सर्वार्थसिद्धि के ६ वे अध्याय सूत्र ५ की टीका मे अर्हत आदि से अतिरिक्त देवो की पूजा को मिथ्यात्वक्रिया लिखी है—

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुकी प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया।"

अर्थ—जिनप्रतिमा, गुरु, जिनवाणी की पूजास्तुतिरूप सम्यक्त्व वढानेवाली क्रिया सम्यक्त्वक्रिया कहलाती है। और इनसे अतिरिक्त अन्य देवो की स्तुति करना मिथ्यात्वप्रवृत्ति की हेतुभूत मिथ्यात्वक्रिया कहलाती है।

यहाँ मै यह सूचित कर देना चाहता हूँ कि मुद्रित सग्रह मे इद्रनदि का अभिपेक पाठ भी पूरा नही छपा है। जितना छपा है उससे आगे का भी कितना ही अश पूजासार मे लिखा मिलता है।

७—ऊहापोह से देवनदिके इस अभिपेक पाठ का रचना काल करीव विक्रम की १४वी सदी का प्रारभिक भाग पडता है। इस समय मे कोई देवनदि हुए भी है या नही अव इस पर विचार किया जाता है—

प० नेमिचद्र ने द्विसधान काव्य की टीका लिखी है। उसमे वे अपने गुरु देवनदिको विनयचद्र का शिष्य वताते हुए प्रणाम करते हैं और साथ ही त्रैलोक्यकीर्ति को भी प्रणाम करते है। इन्ही त्रैलोक्यकीर्तिका स्मरण इद्रवामदेव ने अपने वनाये त्रैलोक्यदीपक ग्रथ मे किया है। ये

वामदेव सस्कृतभावसग्रह की प्रशस्ति मे अपनी गुरुपरपरा इस प्रकार देते है—वामदेव, लक्ष्मीचद्र, त्रैलोक्यकीर्ति, विनयचन्द्र। यानी त्रैलोक्यकीर्ति वामदेव के दादागुरु लगते है। इन उल्लेखो से फलितार्थ निकलता है कि—उक्त विनयचद्र के दो शिष्य थे देवनदि और त्रैलोक्यकीर्ति। जिनमे देवनदि के शिष्य नेमिचद्र ने तो द्विसधान काव्य की टीका वनाई और देवनदि के गुरु भाई त्रैलोक्यकीर्ति के प्रशिष्य वामदेव ने भावसग्रहादि ग्रथ वनाये। अपने गुरु देवनदि के गुरुभाई होने के नाते त्रैलोक्यकीर्ति को भी नेमिचद्र ने गुरुरूप से नमस्कार किया है। ये विनयचन्द्र कही वे ही तो नही है जिनको आशाधर ने धर्मशास्त्र पढाये थे और जिनकी प्रेरणा से आशाधर ने इष्टोपदेश की टीका और भूपाल चतुर्विंशतिका की टीका लिखी थी। अगर यह अनुमान ठीक हो तो विद्यागुरु की अपेक्षा इन देवनदि के आशाधर जी दादा गुरु कहे जा सकते है। वामदेव का समय विक्रम की १४वी सदी के अत के लगभग का अनुमान किया जा सकता है। चूँकि वामदेवकृत त्रैलोक्यदीपक ग्रथ का लिपिकाल विक्रम स० १४३६ का मिलता है। वामदेव ने जो अपनी उक्त गुरु परपरा दी है उसको देखते हुये विनयचद्र के शिष्य उक्त देवनदि का समय भी १४वी सदी का प्रारम्भिक भाग प्रतिभासित होता है। इससे यह नि सकोच कहा जा सकता है कि—विक्रम की १४ वी सदी के प्रारम्भ मे कोई देवनदि अवश्य हुये है और सभवत प्रस्तुत अभिषेक पाठ के कर्ता भी शायद ये ही हो। चूँकि प्राचीन देवनदि आचार्य तो ऐसे निस्पृह थे जिहोने सर्वार्थसिद्धि, समाधिशतक आदि अपने किसी भी ग्रथ के अन्त मे अपना नाम किसी भी रूप मे व्यक्त नही किया है तब वे इस अभिषेक पाठ के अन्त मे ही भला अपना नाम क्यो देने लगेगे। इससे भी कह सकते है कि इस अभिषेक पाठ के कर्ता ये देवनदि कोई जुदे ही है और इनके इस अभिषेक पाठ का उल्लेख भी १४ वी सदीसे पूर्वके किसी भी ग्रथ मे नही मिलता है।

(सिद्धिप्रियस्तोत्र भी इन अर्वाचीन देवनदि का ही बनाया हुआ हो सकता है। क्योंकि काव्य की जो ललित छटा अभिषेक पाठ में पाई जाती है वही सिद्धिप्रियस्तोत्र में भी है और अभिषेक पाठ की तरह ही इसमें भी अन्त में अपना नाम देवनदि प्रकट किया है। तथा इन्होंने ही २१ श्लोकों में 'मरुदेवी स्वप्नावली' लिखी है जो अनेकात वर्ष ५ किरण १-२ में प्रकाशित हुई है।)

इस अभिषेक पाठ के अन्तिम श्लोक के तीसरे चरण में आया 'पूज्यपाद' वाक्य भगवान् का वाचक है। इसका प्रयोग ग्रन्थकार ने अपना नाम ध्वनित करने के अभिप्राय से नहीं किया है। ऐसा प्रयोग तो श्लोक ३३ में भी किया है। जब कि चौथे चरण में ग्रथकार ने अपना नाम साफ दे दिया तो फिर तीसरे चरण में दुबारा नाम देने की आवश्यकता भी क्या रहती। 'ग्रन्थकार के दो नाम होने से दोनों नाम दिये गये, ऐसा कहना विकट कल्पना ही कही जायगी जिसका समर्थन प्राचीन पूज्यपाद के अन्य किसी ग्रन्थ से हो सकना सभव नहीं है। जहाँ वे अपना गद्यात में एक नाम ही नहीं देते वहाँ वे अपने दो नाम देंगे यह कोई कैसे मान सकता है।

प्राचीन देवनदि की ख्याति पूज्यपाद नाम से भी थी इसीसे एकसंधि भट्टारक भी भूल से या ऐसे ही किसी गूढ अभिप्राय से इस अभिषेक पाठ के कर्ता देवनदि को पूज्यपाद नामसे लिख बैठे है और एकसधि की देखादेखी ऐसा ही अर्यपार्य और पूजासार के सग्रहकार ने लिख दिया है। त्रिभगीसारकी सोमदेवकृत लाटी टीका की प्रशस्ति में 'पूज्यपाद' का सकेत मिलता है। हो सकता है इन देवनदि ने प्राचीन की तरह अपना भी 'पूज्यपाद' यह दूसरा नाम रखा हो या शिष्यभक्तों ने प्रसिद्ध कर दिया हो।

(एकसधि का बनाया सिर्फ जिनसहिता नामक एक ही ग्रन्थ मिलता है। इनकी अन्य कोई रचना देखने सुनने में नहीं आई है। इनकी जिनसहिता

के प्रारम्भ मे इन्होने जितने परिच्छेदो की सूचना की है और उनके जो नाम लिखे है उनमे से अन्तिम परिच्छेदके सिवा बाकी सब इदानी उपलब्ध इनकी सहिता मे पाये जाते है। यह नही जान पडता कि इनकी गुरु परपरा क्या थी। ग्रथ के आदि में भी इन्होने अपने किसी गुरु का नाम नही प्रकट किया है। इनका समय तो एक तरह से निश्चित ही है। इन्होने इद्रनदि का उल्लेख किया है और इन एकसधि का उल्लेख विक्रम स० १३७६ मे होने वाले अर्यपार्य ने किया है अत ये एकसधि, इन्द्रनदि और अर्यपार्य के मध्य किसी समयमे हुये है, सभवत इनका समय वि० स० १३५० के करीब का हो सकता है। ये कोई प्रामाणिक ग्रन्थकार मालूम नही होते है। 'एकसधि' यह नाम भी इनका अटपटा सा ही है। इनकी बनाई जिनसहिता के वास्तु आदि विषयक कई एक परिच्छेदो मे स्पष्टत जैनेतर ग्रन्थो का अनुसरण पाया जाता है। उदाहरण के तौर पर इसके २८वें परिच्छेद का निम्न श्लोक देखिये—

आयामेन परित्यक्त चतु शाल निकेतनम्।
योग्य दानम्य विप्राणामपि पाखडिनामपि ॥४४॥

अर्थ—चार शाल का घर लबाई रहित हो तो वह अशुभ है उसे ब्राह्मणो और साधुओ को दान कर देना चाहिये।

इसी तरह इसके ४०वे परिच्छेद मे नयनोन्मीलन विधि का ऐसा विलक्षण वर्णन है जो आशाधर आदि किसी के भी प्रतिष्ठा शास्त्रो मे नही पाया जाता है। यो तो एकसधि अपने इस जिनसहिता ग्रथ की सधियो मे इसे आर्ष लिखते है और अपने आपको भगवत् शब्द से निर्देश करते है। यही क्यो ये तो इसकी उत्थानिका मे यहाँ तक लिखते है कि—"सहिताविषयक व्याख्यान जो गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक के प्रश्न करने पर सुनाया था वह अविच्छिन्न रूप से गुरु परम्परा से चला आ रहा था उसे ही मैंने इस समय सक्षेपसे इस जिनसहिता मे प्रकाशित किया है। यथा—

चराचरजगद्वन्धुस्ततस्ता जिनसहिताम् ।
भगवान् गौतमस्वामी मागध प्रत्यबूबुधत् ॥
तत प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागता ।
सेय मयाधुना साधु सक्षेपेण प्रकाश्यते ॥

इसी तरह इन्होने हर परिच्छेद के आदि मे राजा श्रेणिक को सम्वोधन कर विवेचन शुरु किया है। कहना न होगा कि जहाँ सैद्धान्तिक विषय की परम्परा ही विच्छिन्न हो गई वहाँ संहिता विषय की परम्परा गौतम-गणधर से लेकर आज तक अविच्छिन्न ही वनी रही यह एकसधि के कहने से ही कैसे मानने मे आ सकती है। ये सब लुभाने और स्वमतव्यके प्रचार करने के तरीके है और इनमे कुछ तथ्य नही है।

यहाँ एक वडे मजे की वात है कि—उत्थानिका का यह प्रकरण एकसधिसहिता, इद्रनन्दिसहिता, पूजासार और कुमुदचद्रकृतप्रतिष्ठाकल्प-टिप्पण इन चारो ग्रन्थो मे एक समान पाया जाता है। "विज्ञान विकल यस्य " इत्यादि श्लोक से यह प्रकरण शुरु होता है। इस प्रकरण के खास रचयिता हमे इन्द्रनन्दि मालूम पडते है। यह प्रकरण इन्द्रनन्दिसहिता के शुरु मे ही है। पूजासार मे भी प्रारम्भ मे यह ज्यो का त्यो उद्धृत है जो इन्द्रनदि सहिता से लिया जान पडता है। एकसधिसहिता मे शुरु मे एक श्लोक मङ्गलाचरण का नया वनाकर फिर इस प्रकरण को मामूली कही पाठ भेद करके अपना वना लिया है। किन्तु कुमुदचद्र का रवैया कुछ और ही है वे प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण मे प्रारम्भिक श्लोक मे अपने को माघनन्दि का पुत्र वताते हुए 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' के रचने की प्रतिज्ञा करते है और इसी के आगे वही "विज्ञान विमल " वाला प्रकरण ज्यो का त्यो लिख देते है। यही क्या इन्द्रनन्दिसहिता के कई एक प्रकरणो को भी इनने ज्यो के त्यो ले लिये है और ग्रन्थ का 'प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण' यह नया नाम धर के आप उसके निर्माता वन वैठे है।

८—ऊपर के विवेचन मे यह दर्शाया गया है कि—देवनन्दि

आदि के अभिषेक पाठ प० आशाधरजी के बाद विक्रम की १४वी सदी के प्रारम्भिक भाग मे रचे गये है। इनके विरोध मे न० ४० का शिलालेख पेश किया जा सकता है जिसमे पूज्यपाद द्वारा रचे गये एक जैनाभिषेक ग्रन्थ का उल्लेख है व जिस शिलालेख को विक्र० स० १२२० के समय का वताया जाता है। नीचे हम इसी पर विचार करते है—

प्रथम तो शिलालेखानुसार कोई जैनाभिषेक ग्रन्थ प्राचीन पूज्यपाद रचित होना मान भी लिया जाये तो भी वह आज ही नही आशाधरजी के वक्त भी उपलब्ध न था और जो यह मुद्रित अभिषेकपाठ है वह तो कदापि शिलालेख मे उल्लिखित जैनाभिषेक नही हो सकता है।

दूसरे उक्त शिलालेख का हाल यह है कि—श्रवणवेलगोल के चद्रगिरि पर जिस पाषाण स्तम्भ पर यह खुदा हुआ है वह स्तम्भ चार पहलू का है। जिसके एक पहलू पर तो ३९वें नम्बर का शिलालेख है और शेष तीन पहलुओ पर ४०वे नम्बर का शिलालेख है। इस प्रकार एक ही पाषाण स्तम्भ पर दो शिलालेख अकित है। ३९वें न० के शिलालेख मे प्रथम ही मगलाचरण के वाद देवकीर्ति मुनि की विद्वत्ता का कीर्तन कर उनके स्वर्गवास का समय वि० स० १२२० वताकर अन्त मे उनकी निषद्या की, उनके शिष्य लक्खनन्दि, माधवचद्र और त्रिभुवनदेव ने प्रतिष्ठा की, ऐसा लिखा है। तथा ४०वें न० के शिलालेख मे भी प्रथम ही मङ्गलाचरण के वाद उन्ही देवकीर्ति मुनि के पूर्व होने वाले अनेक आचार्यो की नामावली दी है जिसमे पूज्यपाद और उनके रचे जैनाभिषेक आदि शास्त्रो का भी उल्लेख किया है। अन्त मे फिर उन्ही लक्खनन्दि आदि द्वारा देवकीर्ति की निषद्या के प्रतिष्ठित होने की वात दुवारा कही गई है। साथ ही इनमे निषद्या के निर्माता रूप मे हुल्लपमश्री का नाम भी नया लिखा गया है। इन दोनो ही शिलालेखो मे दुवारा मङ्गलाचरण होने और दोनो ही के अन्त मे निषद्या प्रतिष्ठित करने वालो के दुवारा नाम देने आदि से दोनो शिलालेख भिन्न-भिन्न और जुदे-जुदे समय के लिखे

सिद्ध होते हैं। शायद इसी से राइस साहब ने भी जो इन शिलालेखों के संग्रहकर्ता हैं इन दोनों के भिन्न-भिन्न नम्बर कायम किये ऐसा प्रतीत होता है। ३९वे शिलालेख की अपेक्षा ४०वे शिलालेख में सिर्फ दो बाते विशेष हैं—आचार्यों की नामावली और हुल्लसमश्री के द्वारा निषद्या निर्माण। किन्तु आचार्यों की नामावली लिखना ही यदि इष्ट होता तो नामावली तो ३९वे न० के शिलालेख में भी दी जा सकती थी। बात दर असल यों हो सकती है कि—उक्त स्तम्भ के ३ पहलुओं का स्थान खाली पड़ा था उसी की पूर्ति के लिए ३९वे नम्बर के शिलालेख के न जाने कितने समय बाद हुल्लसमश्री के किसी कुटुम्बी ने इस ४०वे न० के शिलालेखकी सृष्टि की होगी। अन्यथा एक ही वृत्तान्त के दो शिलालेख एक ही स्तभ पर लिखने का अन्य क्या कारण हो सकता है? ऐसी अवस्था में यह अनुमान लगाना सहज ही है कि—३९वा शिलालेख ही देवकीर्ति के स्वर्गवास के अवसर का लिखा हो सकता है। ४० वा शिलालेख तो बाद मे न जाने कब लिखा गया है कुछ निश्चित नही है। इसलिए ४०वें शिलालेख में उल्लिखित जिनाभिषेक को वि० स० १२२० के पूर्वका समझना भ्राति युक्त है। कुछ भी हो न० ४० के शिलालेख की स्थिति अवश्य ही सन्देह पूर्ण है। अत जब तक उसकी स्थिति साफ न हो जाये तब तक प्रस्तुत चर्चा मे उसका प्रमाण पेश करना निरर्थक है।

आगे हम गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ पर विचार करते है—

इसके विषय मे कितना ही विवरण तो ऊपर देवनदि के अभिषेक पाठ की चर्चा के शामिल मे लिखा जा चुका है। यहाँ खास इसी से सबधित चर्चा की जायेगी। प्रथम ही प० पन्नालाल जी सोनी ने जो इस गुणभद्र के अभिषेकपाठ के सपादन मे अधाधुन्धी बरती है और जिसके कारण इस ग्रन्थ की मिट्टी पलीद की है हम उसका यहा कुछ दिग्दर्शन करा देते है।

हस्तलिखित पूजासार मे चार अभिषेक पाठ उद्धृत है इनमे से एक यह भी है। उससे इस मुद्रित पाठ को मिलान करने मे जाना जाता है कि यह अधूरा छपा है। कई स्थानो के पद्य व गद्य छूट गये है और इसका मत्र भाग तो प्राय सारा का सारा छूटा हुआ है। इद्रवामदेव ने जो इस पर पजिका टीका की है वह भी अभिषेक पाठ सग्रह के अन्त मे छपी हुई है उसमे कितने ही ऐसे शब्दो की व्याख्या है जो शब्द इस मुद्रित प्रति के पद्य गद्य मे कही भी नही है जबकि वे लिखित प्रति मे पाये जाते है। सपादक जी को भी जब वे शब्द मुद्रित पाठ मे नही मिले तो उन्होने उनमे से कुछ शब्दो को × इस चिह्न से अकित किया है। इससे स्पष्ट है कि यह अधूरा छापा गया है। आश्चर्य है कि इतना होते भी इसका खडित रूप सपादक जी के दिमाग मे प्रवेश न कर सका। जिस-जिस प्रसग के श्लोक छूटे है उनकी मोटे रूपमे यह तालिका है—

"भूमिशुद्धयर्थ अग्निज्वालन, भूम्यर्चन, कलशस्थापन, कलशार्चन, पीठदर्भस्थापन, प्रतिमास्पर्शन, जिनपादप्रक्षालन, पचगुरुमुद्रा, पाद्याचमन, मगलद्रव्यावतरण के ७ श्लोक, पुष्पाजलि, जलादिप्रत्येक अभिषेक के बाद अर्घ चढाने के ११ श्लोक, गधोदक ग्रहण, मगलद्रव्यो से पूजा, पूजाभेद और पूजाफल।"

छूटे हुए गद्य भाग का विवरण इस प्रकार है—

श्लोक ८९ के आगे का "ओ ह्री क्रौं अर्हन् मम पाप खड" इत्यादि व "ओ निखिलभुवनभवनमगलीभूत" इत्यादि तथा "ॐ नमोऽर्हते भगवते" इत्यादि। (मालूम रहे कि ये तीनो लबे गद्य अर्यपार्य के अभिषेक पाठ पृष्ठ २०९-३१० पर पूर्णत छपे है। अर्यपार्य ने यह अश इसी गुणभद्र के अभिषेक पाठ से लिया है।) इन गद्यो के भी कुछ कठिन शब्दो की व्याख्या उक्त वामदेव की पजिका मे पाई जाती है जिससे ये गद्य गुणभद्र कृत अभिषेक पाठ के ही है ऐसा स्पष्ट हो जाता है। तथा श्लोक ९० के आगे भी गद्य है जिसका अर्थ इस प्रकार है—

"इस प्रकार अभिषेक विधि समाप्त करके नव देवो की आराधना-विधिका उपक्रम करते हुए पूर्वरीति के अनुसार पृथ्वी का शुद्धि-विधान करके उस पर रखे पीठ पर अष्टदल कमल को रचकर उसकी कर्णिका पर पुष्पाक्षतो को क्षेपण करते हुए अभिषेकार्थ आहूत देवो का विसर्जन करके उस कमल की कर्णिका व पत्तो पर नवदेवो की स्थापना कर आगे के ९१ आदि श्लोको को पढते हुए अष्टद्रव्य से पूजा करे।" तथा श्लोक १०० के आगे गद्य है जिनमे उक्त कमल को घेर कर पाँच मण्डलो मे ८२ देवो की स्थापना बताते हुए उनके नाम यो लिखे है—

१५ तिथि देव, ९ ग्रह, २४ यक्षियाँ, १० लोकपाल। फिर ६ देवो का स्थान जिन मदिर की भीतरी कक्षा मे बताया है। उनके नाम ये है—

"क्षेत्रपाल, श्रीदेवी, गधर्व, किन्नर, प्रेत और भूत। इस प्रकार ८८ परिवार देवो की पूजा का निर्देश कर चैत्यादि तीन भक्ति व विसर्जन का कथन करके अन्त मे २ श्लोको मे पूजा के भेद और उनका फल बताया है।

इस प्रकार गुणभद्रकृत अभिषेक पाठ के जो स्थल मुद्रित प्रति मे अपने से छूट गये है उनकी प्राय उपरोक्त तालिका है। विधिविधान के अनेक मन्त्र छूट गये है वे इनमे जुदे ही है।

सोनीजी न केवल इसके सपादक है प्रत्युत सशोधक भी है। उनके सशोधन का भी जरा नमूना देखिये—

पृ० २० पर "ॐ अखडितमुखाभिनवनूतने स्मितार्द्रसिततदुलैर्नमेरु-मदारवत्सरोजदलचपकप्रभृति पुष्पपूर्ण स्फुट भगवतोऽर्हतोऽवतारण करोमि श्रियै" इसे गद्य रूप मे छापा है। चूँकि अशुद्ध होने से छद बनता नही है इसलिये इसे गद्य समझ लिया है। किन्तु यह गद्य नही पद्य है और शुद्ध रूप में वह इस प्रकार है—

अखडितमुखाभिनूतनमितार्द्रसत्तण्डुल,
स्फुटत्कमलचपकप्रभृतिपुष्पपूर्णाञ्जले ।

प्रदक्षिणमह द्विधा पदसरोजमामस्तकं,
पुरो भगवतोऽर्हतोऽवतरण करोमि श्रियै ॥

इसी प्रकार मुद्रित ग्रथ मे अन्य अनेक अशुद्धियाँ भरी पडी है जिनका उल्लेख विस्तार भय से छोडा जाता है। यदि सोनीजी चाहते तो ग्रन्थ को कितनी ही अशुद्धियाँ तो पजिका से भी शुद्ध की जा सकती थी किन्तु सोनीजी ने तो इतना सा श्रम भी करना उचित नही समझा। शुद्धाशुद्ध जैसी भी प्रति मिली उसकी वैसी ही नकल करके प्रेस मे दे दी गई। क्या यही सम्पादक सशोधक का कर्तव्य है ?

सपादक जी प्रस्तावना मे लिखते है जिसका आशय यह है कि 'दसवी सदी मे होने वाले उत्तर पुराण के कर्ता गुणभद्र से लगाकर १४वी सदी तक गुणभद्र नाम के किसी आचार्य का इतिहास मे कही पता नही लगता है और यह निश्चित है कि गुणभद्रकृत इस अभिपेक पाठका समय १४वी सदीके भीतर भीतर है। ऐसी अवस्थामे यह अभिपेक पाठ उन्ही गुणभद्र का बनाया हुआ हो सकता है जो उत्तरपुराणके कर्ता और आचार्य जिनसेनके शिष्य थे।"

यह भी सब सोनीजी की अटकलू बाते है। (इन्हे जानना चाहिये कि प० सोमदेवने एक त्रिभगीसार की टीका लिखी है। उसकी प्रशस्तिमे वे गुणभद्रसूरिको नमस्कार करते है और वही शिवाशाधरका भी उल्लेख करते है। इससे ऐसा आभास होता है कि ये गुणभद्र शायद १४वी सदी मे हुए है और सभवत यही इस अभिपेक पाठ के कर्ता हो ? या और कोई गुणभद्र भी १४वी सदी मे हो सकते है। इतिहास का क्षेत्र विस्तृत है, इद्रियातीत है और एक नामके अनेक भिन्न-भिन्न ग्रन्थकर्ता भूतकाल मे हो चुके है। अत छद्मस्थ, सबल प्रमाणोके विना कोई निश्चित बात नही कह सकता है।)

(उसी प्रशस्तिमे सोमदेवने अपनेको प्रतिष्ठाचार्य भी लिखा है। प्रतिष्ठाविधि का ज्ञान इन्होने अपने गुरु गुणभद्र से ही प्राप्त किया होगा।

इससे इन गुणभद्र का क्रियाकाडी विद्वान् होना पाया जाता है अ र इससे इनके द्वारा अभिपेक पाठ का रचा जाना सभव माना जा सकता है)

सपादक जी ने इसके कर्ता को प्राचीन गुणभद्र बनानेके लिये दूसरी युक्ति यह दी है कि "इनके नामके साथ गणभृत् शब्द लगा हुआ है इससे ये कोई बडे आचार्य है।" उत्तर मे लिखना है कि–प्रथम तो उत्तरपुराणके कर्ता गुणभद्र की किसी भी रचना मे इनके नाम के साथ गणभृत् शब्द लगा नही देखा जाता है और न इस नाम से इनकी कोई ख्याति ही है। दूसरे गणभृत् के पर्यायनाम गणी, गणाधिप, गणप, ऐसे शब्दोका प्रयोग भट्टारक भी अपने नाम के साथ करते है। देखिये शुभचन्द्र भट्टारक ने प्राकृत व्याकरण की स्वोपज्ञचितामणि वृत्ति की प्रशस्ति मे अपने को गणप और अपने गुरु विजयकीर्ति को गणी लिखा है। यथा—

"विजयकीर्तियतिर्जगता गुरुर्गरिमगीर्मुदितागिगणो गणी।"

"श्रीमच्छुभेन्दुगणपो गुणिगेयकीर्तिश्चितामणि विशदशब्दमय चकार।"

तीसरी युक्ति इसके प्राचीन होने मे सपादक जी यह देते है कि—

इसका निम्न श्लोक आशाधर के सागारधर्मामृत मे उक्त च रूप से पाया जाता है—

निस्तुपनिर्वणनिर्मलजलार्द्रशालेयधवलतन्दुलैर्लिखिते।
श्रीकाम श्रीनाथ श्रीवर्णे स्थापयामि जिनम्॥ ३१॥

इसलिये यह पद्य आशाधर के पूर्व का तो सिद्धही है। इसे सपादकजी ने अपनी सबसे बडी युक्ति समझी है। इसका भी हम यहाँ भडाफोड कर देते है। गुणभद्र के मुद्रित अभिपेक पाठ मे जो आपने उक्त श्लोक जिस रूप मे प्रकाशित किया है वह लिखित प्रति मे उस रूप मे लिखा नही मिलता है। वह लिखित प्रति मे निम्न प्रकार है—

निस्तुपनिर्व्रणनिर्मलजलार्द्रशालेयतदुलै श्रीवर्णम्।
विलिखामि श्रीपीठे त्रिलोकनाथस्य केवलिश्रीभर्तु॥

इसमे सिंहासन पर गीले चावलो से श्रीवर्ण लिखने को कहा है। इसके आगे के "जिनराजप्रतिविंव ..." श्लोक मे जिनप्रतिमा को स्पर्श करनेको कहा है। यह श्लोक मुद्रित मे नही है, लिखित प्रति मे हैं। फिर आगे के "द्वीपे नदीश्वरास्ये " श्लोक मे जिनप्रतिमा को वेदी पर से उठा लाने को कहा है। इसका भी आगे का श्लोक लिखित प्रति मे यह है—

प्रणमदखिलामरेश्वरमणिमुकुटतटांशुखचितचरणाब्ज ॥
श्रीकाम श्रीनाथ श्रीवर्णे स्थापयामि जिन ॥

इसमे भगवान् को श्रीवर्ण पर विराजमान करने को कहा है।

इस प्रकार मुद्रित प्रति मे जो ऊपर लिखा २१वॉ श्लोक छपा है इसके दो अर्द्ध अर्द्ध भाग अन्य दो अर्द्ध भागके साथ लिखित प्रति मे अलग अलग दो स्थानो मे पाये जाते है। और लिखित प्रति के ये अवतरण विल्कुल सुसगत मालूम पडते हैं। उदगाँवसे वहुत पहिले एक पूजापाठ प्रकाशित हुआ था जिसमे आशाधर विरचित थोडे से पाठ है वाकी सव पाठ अन्य रचित होते भी उसका 'आशाधर विरचित पूजा पाठ' ऐसा नाम प्रकट किया गया है। उसमे भी ये श्लोक लिखित प्रति के अनुसार ही पाये जाते है। इसमे यह स्पष्ट जाहिर होता है कि— मुद्रित प्रति का १३ वॉ श्लोक कतई गुणभद्र के अभिपेक पाठ का नही है। हॉ वह आशाधर के समकाल या पूर्व के किसी पूजापाठ का हो सकता है इसी से आशाधर ने इसे सागारधर्मामृत मे उक्त च रूप से उद्धृत किया है। किन्तु प्रस्तुत गुणभद्र के अभिपेक पाठ का तो वह हरगिज भी नही है। वल्कि ऐसी परिस्थिति मे उल्टे यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि इन गुणभद्र के सामने सागारधर्मामृत का वह उक्तच श्लोक मौजूद था जिसे गुणभद्र ने ही उसके पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध मे अपनी रचना जोडकर दो अलग अलग स्थानो मे अपनाया है।

इस प्रकार इसको प्राचीन सिद्ध करने के लिए सम्पादक जी ने जो प्रमाण पेश किये हे उन पर विचार करने से ये नि सार मिद्ध होते हैं ।

यह भी विचार करने की चीज है कि इसमे अभिपेक समाप्ति के वाद मडल पूजा मे जिन तिथि, ग्रह, यक्ष, दिग्पालादि ८८ परिवार देवोकी आराधना का कथन किया है जैसा कि ऊपर लिखा गया है वैसा कथन इद्रनदि, देवनदि आदि के अभिपेक पाठो मे भी पाया जाता है किन्तु ऐसी आम्नाय प्राचीन गुणभद्राचार्य की प्रतीत नही होती। क्योकि उन्होने या उनके गुरु आचार्य जिनसेन ने इन देवो का कही भी उल्लेख नही किया है वल्कि गुणभद्र स्वामी ने तो उलटे उत्तर-पुराण के चद्रप्रभचरित्र श्लोक १०२ से १०९ तक दिग्पालो को दिशाओ की रक्षा करने मे असमर्थ वताते हुए इनकी सृष्टि करने वाले को महा मूर्ख वताया है। यदि ऐसी आम्नाय प्राचीन देवनन्दि की होती तो वे भी सर्वार्थसिद्धि के चौथे अध्याय मे जो खासतौर से देवगति के कथन से सम्वन्ध रखता है इन यक्ष यक्षी दिग्पाल तिथि देवो का कथन करते किन्तु इन्होने तो कही इनके नाम तक भी नही लिखे है। इससे जान पडता है कि ये सव देव काल्पनिक है और इनका कथन प्राचीन मूल सघ मे नही था।

अलावा इसके इस गुणभद्र के अभिपेक पाठ मे दश मगल द्रव्यो की आरती का कथन करते हुये एक आरती सुगधित चूर्ण की लिखी है ऐसा ही कथन इद्रनदि ने भी किया है किन्तु आशाधर ने इस जाति की आरती का कथन नही किया है। अगर यह कृति प्राचीन गुणभद्र कृत होती तो आशाधर जी भी तदनुसार कथन अवश्य करते।

जवकि आशाधर के ग्रन्थो के पद्य गुणभद्र के इस अभिपेक पाठ मे पाये जाते है तव यह नि सदेह कहा जा सकता है कि अवश्य ही यह गुणभद्र का अभिषेक पाठ आशाधर के वाद का वना हुआ है। जैसा कि निम्न-लिखित अवतरणो से प्रकट है—

"य श्रीमदैरावणवाहनेन " इत्यादि ८ श्लोक आशाधर के नित्यमहोद्योत मे नम्बर ६४ से ७१ तक पाये जाते है। ये ही श्लोक आशाधर कृत प्रतिष्ठासारोद्धार पत्र ९३ मे भी लिखे मिलते है अत निश्चित है कि ये आशाधर के ही रचे हुए है किन्तु ये ही आठो श्लोक गुणभद्र के अभिषेक पाठ मे भी न० २२ से ३० तक ज्यो के त्यो पाये जाते है। यह भी नही कह सकते कि वर्तमान मे उपलब्ध लिखित प्रतियो मे ये प्रक्षिप्त हो गये है क्योकि वामदेव ने इन श्लोको के बावत इसकी पजिका मे लिखा है कि "इन ८ श्लोको के विषम पदो की व्याख्या प्रतिष्ठा ग्रथ मे की जाने की वजह से यहाँ व्याख्या नही की जाती" (देखो पृ० ३७५) इससे सिद्ध है कि इस गुणभद्र के अभिषेक पाठ की ऐसी प्रति वामदेव के वक्त भी मौजूद थी जिसमे आशाधरके बनाये उक्त ८ श्लोक लिखे मिलते थे।

वामदेव ने भी कोई प्रतिष्ठाविषयक ग्रथ बनाया जान पडता है। जिसका उल्लेख उन्होने त्रैलोक्यप्रदीप की प्रशस्ति मे भी किया है। पृ० वामदेव का समय करीब विक्रम स० १४०० है। वामदेव ने उक्त पजिका के पृ० ३८१ पर "शश्वत्, चद्रबलाबल, सत्कृत्य, उपाहिता, प्राप्नुत, और व्यक्त च" इन शब्दो की व्याख्या की है। किन्तु इन शब्दो वाला कोई पद्य उपलब्ध गुणभद्र के अभिषेक पाठ मे मिलता नही है तथापि ऐसे पद्य वाली प्रति भी वामदेव के समक्ष थी वह पद्य भी आशाधर का रचा हुआ है जो प्रतिष्ठासारोद्धार के पत्र ३१ पर पाया जाता है। यथा—

एते सप्तधनु प्रमाणनपुरुत्सेधा नवापि ग्रहा ।
शश्वच्चन्द्रबलाबलाप्यसदसद्दानस्फुरद्विक्रमा ॥
सत्कृत्योपहितामिमामिह महे पूर्णाहुर्ति प्राप्नुत ।
प्रीति व्यक्त च यष्टृयाजकनृपादीष्टप्रदानाद् द्रुतम् ॥

कुछ श्लोक गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ मे ऐसे भी पाये जाते है जिनमे आशय आशाधरकृत अभिषेकपाठ से लिया गया है। उसकी तालिका निम्न प्रकार है—

आशाधरकृत अभिषेकपाठ के—	गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ के—
श्लोक ३५ वा	श्लोक १८ वा
८० वा	३६ वा
११२ वा	६५ के आगे का गद्य
१२४ वा	८१ के पूर्व का गद्य
१२८ वा	८६ वा का पूर्वार्द्ध
१३० वा	८८ ,,

अर्थ की यह समानता आकस्मिक नही हो सकती है, जरूर ही गुणभद्र के सामने आशाधर का अभिषेकपाठ उपस्थित था।

"आशाधर ने ही गुणभद्र का अनुसरण किया हो" ऐसी सम्भावना इसलिए नही की जा सकती कि गुणभद्र ने आशाधर के पद्यो को भी तो ज्यो के त्यो अपनाये है। इसलिए आशाधर ही पूर्ववर्ती हो सकता है, गुणभद्र नही।



त्रिवर्णाचारों और संहिता ग्रन्थों का इतिहास

दिगम्बर जैन धर्म मे इस प्रकार के साहित्य मे वहुतेरे क्रियाकाड वैदिकधर्म के घुस आये हैं। यह वात श्री प० जुगुलकिशोर जी मुख्तार के त्रिवर्णाचारो पर लिखे हुए परीक्षा लेखो से भी खूव स्पष्ट हो चुकी है। ऐसे ग्रन्थो का निर्माण दि० जैन धर्म मे सवसे प्रथम कव से शुरू हुआ और किनने किया ? इस पर जव हम विचार करते है तो हमारी दृष्टि विक्रम की १४वी सदी मे होने वाले गोविन्दभट्ट और उनके वशजो पर जाती है। गोविंदभट्ट स्वय पहिले वत्सगोत्री वैदिक ब्राह्मण था, समतभद्र के देवागमस्तोत्र के प्रभाव से वह जैन हो गया था। उसका पुत्र हस्तिमल्ल हुआ जिसने सस्कृत मे विक्रान्त कौरव आदि जैन नाटको की रचना की है। इन्होने ही सस्कृत मे एक प्रतिष्ठाग्रथ भी वनाया है, जिसकी प्रशस्ति जैन सिद्धात भास्कर भाग ५ किरण १ मे प्रकाशित हुई है। हस्तिमल्लका समय विक्रम की १४वी सदी का पूर्वार्द्ध निश्चित है। ये गृहस्थी थे। इन्ही के समय मे इन्द्रनदि हुए है, जिन्होने इद्रनदि सहिता नाम का एक ग्रन्थ रचा है। इस सहिता का परिचय करीव २५ वर्प पहिले जैन वोधक वर्प ५१ अक १०-११ मे निकला था। उसके अनुसार यह सहिता ११ परिच्छेदो मे कोई डेढ हजार श्लोक प्रमाण है। हमारे देखने मे इसकी एक अधूरी प्रति आई है, जिसमे पूरे ७ परिच्छेद भी नही थे। इसी अधूरी प्रति के आधार पर प्रस्तुत लेख लिखा जा रहा है। इस सहिता मे शौचाचार, आचमन तिलक विधि, स्पृश्यास्पृश्यव्यवस्था, जाति निर्णय, शूद्रो के भेदोपभेद, वर्णसकर सतानसज्ञा, सूतक पातक, कुछ दायभाग, गर्भाधानादि पोडश सस्कार, हवन, सध्या, गोत्रोत्पत्ति, मृत्युभोज, गोदान, पिड दान और तर्पण आदि कई विपयो का वर्णन है। इनमे से कितना ही कथन साफ तौर पर वैदिक धर्म से लिया गया प्रतीत होता है।

इस सहिता मे आशाधर कृत "सिद्ध भक्ति पाठ" पाया जाता है और इसी सहिता के तीसरे परिच्छेद के उपात मे "न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् " यह पद्य भी पाया जाता है जो आशाधर के सागारधर्मामृत का है। इससे इस सहिता के कर्ता इद्रनदि का समय आशाधर के वाद का सिद्ध होता है। इस सहिता के तीसरे परिच्छेद मे गोत्रोत्पत्ति का कथन करते हुए ऐसा लिखा है—

पुष्पदत उमास्वातिरैन्द्रनंदीति विश्रुता ।
वसुनदिस्तथा हस्तिमल्लाख्यो वीरसेनक ॥

इस श्लोक मे प्रयुक्त हस्तिमल्ल के उल्लेख से हस्तिमल्ल के वाद या हस्तिमल्ल के समय मे इद्रनदि हुए, ऐसा कहा जा सकता है। और ये दोनो आशाधर के वाद हुए यह भी प्रकट है। आशाधर का आखिरी समय विक्रम स० तेरह सौ करीव है। विक्रम स० १३७६ मे निर्मापित अर्यपार्य के प्रतिष्ठा पाठ मे इद्रनदि व हस्तिमल्ल का उल्लेख हुआ है अत इनका समय १४वी शताब्दि का प्रथम-द्वितीय चरण सिद्ध होता है। यह समय आशाधर के कुछ ही वाद पडता है।

इद्रनदि ने उक्त सहिता के तीसरे परिच्छेद मे भरद्वाज, आत्रेय, वशिष्ट और कण्व आदि नाम गोत्र प्रवर्तको के वताये है। ये नाम वैदिकऋषियो के है। इससे मालूम होता है कि—इद्रनदि भी पहिले कोई शायद वैदिक ब्राह्मण ही हो और गोविदभट्ट की तरह ये भी फिर जैन हुए हो। कुछ भी हो, हस्तिमल्ल के साथ इनका कोई सपर्क अवश्य रहा है। इद्रनदि यह नाम इनका दीक्षा-नाम जान पडता है। पूर्व मे वैदिक ब्राह्मण होने के कारण ही इन्होने सहिता मे कितना ही विपुल ब्राह्मणधर्म का भर दिया है। सभव है इसकी रचना मे हस्तिमल्ल का भी हाथ रहा हो।

क्रियाकाडी साहित्य के दो अग हे—एक प्रतिष्ठा ग्रन्थ और दूसरा त्रिवर्णाचार ग्रथ। ऐसा लगता है कि दिग० जैनधर्म मे प्रतिष्ठा ग्रन्थो के निर्माण का आधार प्राय आशाधर का प्रतिष्ठा पाठ रहा है और त्रिवर्णाचार

ग्रन्थो के निर्माण का आधार इंद्रनंदि संहिता रही है। इस सहिता मे त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठा दोनो ही विपयो का प्रतिपादन किया है।

विक्रम सं० १३७६ मे होने वाले अर्यपार्य ने एकसधि का भी उल्लेख किया है अत एक संधि भी इद्रनदि के समय मे या इनसे कुछ ही वाद हुए जान पडते है। इंद्रनंदि सहिता का सवसे प्रथम अनुसरण इन्होने ही किया है। तदुपरात अर्यपार्य के द्वारा आशाधर, इद्रनदि, हस्तिमल्ल और एक-संधि के अनुसार प्रतिष्ठा ग्रन्थ रचा गया है। ये अर्यपार्य भी गोविंदभट्ट के ही वंश के है, ऐसा ये खुद लिखते है।

पूजासार नामके ग्रथ मे भी जिसके कर्त्ता का पता नही है, इद्रनदि सहिता का कितना ही अश ज्यो का त्यो भरा पडा है। यह ग्रन्थ अनुमानत १५वी सदी का हो सकता है।

विद्यानुवाद नाम के ग्रन्थ जिसके सग्रहकर्त्ता कोई मतिसागर नाम के विद्वान् हुये है, मे भी कितना ही अश इद्रनदि सहिता का पाया जाता है। उसमे एक जगह हस्तिमल्ल के नाम से भी गणधरवलय मत्र का समावेश किया है। उसी मे पूजासार का भी उल्लेख हुआ है। वसुनदि प्रतिष्ठा पाठ की उत्थानिका मे जिन ग्रन्थो के आधार पर ग्रथ वनाने की प्रतिज्ञा की है उनमे विद्यानुवाद का भी नाम है। वह विद्यानुवाद सभवत यही हो सकता है।

"भावशर्मा ने अभिपेक पाठ की टीका विक्रम् स० १५६० मे वनाई" ऐसा राजस्थान ग्रथ सूची द्वि० भाग के पृष्ठ १४ मे लिखा है। इस टीका मे भावशर्मा ने वसुनदि प्रतिष्ठा पाठ का उल्लेख किया है और आमेर शास्त्र भडार की सूची के पृष्ठ १९३ मे वसुनदि प्रतिष्ठा पाठ का लिपिकाल स० १५१७ दिया है। यह लिपिकाल यदि सही हो तो इस वसुनदि का समय भी अनुमानत १५वी सदी माना जा सकता है। वसुनदि प्रतिष्ठा पाठ मे कितने ही पद्य आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पाये जाते है, इससे वह आशाधर के वाद का तो स्पष्ट ही है।

इस तरह पूजासार, विद्यानुवाद और वसुनदि प्रतिष्ठा पाठ इन तीनों का समय करीव-करीव आस-पास का ही ज्ञान पडता है।

वामदेव ने भी कोई प्रतिष्ठा ग्रन्थ लिखा दिखता है। अपने इस प्रतिष्ठा पाठ का उल्लेख वामदेव ने अभिपेक पाठ की टीका मे किया है। (देखो मुद्रित अभिपेक पाठ सग्रह) वामदेव का समय अर्यपार्य के आस-पास का, १४वी शताब्दी है।

कुमुदचद्र कृत "प्रतिष्ठा कल्प टिप्पण" नामक ग्रन्थ भी सुना जाता है, जिसके कुछ उद्धरण हमारे देखने मे आये, उससे ज्ञात होता है कि वह इद्रनदि सहिता की नकलमात्र है।

ब्रह्मसूरि ने प्रतिष्ठा ग्रथ ही नही त्रिवर्णाचार ग्रथ भी लिखा है। सोमसेन के त्रिवर्णाचार मे कितना ही वर्णन ब्रह्मसूरि के उल्लेख से किया गया है। वास्तव मे वह वर्णन ज्यो का त्यो इन्द्रनन्दि सहिता मे पाया जाता है। इससे जान पडता है—ब्रह्मसूरि ने इन्द्रनन्दि सहिता से लिया और सोमसेन ने ब्रह्मसूरि के त्रिवर्णाचार से। सोमसेन का समय विक्रम स० १६६० निश्चित है।

अलावा इसके एक प्रतिष्ठातिलक नाम का ग्रथ नेमिचन्द्र कृत है जो छप भी चुका है। उसके देखने से मालूम होता है कि वह अर्थश अधिकाश मे हूवहू आशाधर प्रतिष्ठा पाठ की नकल है, भले ही उसके कर्ता ने कही आशाधर का उल्लेख नही किया है। इसकी प्रशस्ति से पाया जाता है कि ये नेमिचन्द्र भी हस्तिमल्ल के ही वश मे हुए है और रिश्ते मे उक्त ब्रह्मसूरि के भानजे लगते है। ये गृहस्थ थे। इन्होने जो प्रशस्ति मे अपनी वशावली दी है उसकी गणनानुसार इनका समय १६वी शताब्दी हो सकता है। और यही समय ब्रह्मसूरि का भी समझना चाहिये।

तदुपरान्त अकलक प्रतिष्ठा पाठ का नवर आता है। इसका निर्माण ब्रह्मसूरि के वाद मे हुआ है।

एक जिससेन त्रिवर्णाचार भी है वह सोमसेन त्रिवर्णाचार के बाद उसकी छाया लेकर बना है।

इस तरह त्रिवर्णाचारो और प्रतिष्ठा पाठो के रचे जाने का यह इतिहास है। इससे जाना जा सकता है कि इन त्रिवर्णाचारोकी परम्परा जहाँ से शुरु होती है वे पहिले वैदिक ब्राह्मण थे बाद मे जैन होकर उन्होने क्रियाकाडी साहित्य की रचना की। पूर्व सस्कार और परिस्थिति वश उनको उसमे कितना ही कथन ब्राह्मण धर्म जैसा करना पडा है। यह परपरा आज से कोई सात सौ वर्ष पहिले से चालू हुई है। और प्रतिष्ठा ग्रथो की परपरा भी प्राय आशाधर को आधार बनाकर यही मे शुरु हुई है। इस प्रकार के साहित्य की परम्परा का उद्गम आशाधर और उसके समय के आस-पास होने वाले हस्तिमल्ल, इद्रनन्दि, एकसधि आदि से हुआ जान पडता है।

(यहाँ खास ध्यान मे रखने की बात यह है कि–हमारे यहाँ इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, माघनन्दि, नेमिचद, अकलक, जिनसेन आदि नाम वाले प्राचीन और प्रामाणिक आचार्य हुये है। वैसे ही नाम वाले अर्वाचीन ग्रथकार भी हुये है। अत नामसाम्य के चक्कर मे पडकर उनको एक ही नही समझ लेना चाहिये। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि—एक ही नाम और एक ही समय मे होकर भी व्यक्ति भिन्न-भिन्न रहे है, जैसे आदिपुराण और हरिवशपुराण के कर्ता जिनसेन। इस तरह से अन्य भी ग्रथकार हो सकते है।)

(जीवराज जैन ग्रथमाला सोलापुर से प्रकाशित "भट्टारक सम्प्रदाय" पुस्तक के पृ० २५२ पर पट्टावली का लेख छपा है जिसमे लिखा है कि— "पद्मसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन ने कुछ विद्या के गर्व से उत्सूत्रप्ररूपण करने के कारण आशाधर को अपने गच्छ से निकाल दिया तो वह कदाग्रही श्रेणीगच्छ मे चला गया।) वह लेख यो है—

"तदन्वये श्रीमत् वाटवर्गट प्रभाव श्री पद्म-सेनदेवाना तस्य शिष्य श्री

नरेन्द्रसेनदेवै किंचिद्विद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशाधर स्वगच्छान्निस्सारितः कदाग्रहग्रस्त श्रेणिगच्छमशिश्रियत् ।"

आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठ मे कई ऐसे देवी देवताओ के नाम, उनके विचित्र रूप व उनकी आराधना करने का कथन किया है जिनके नाम तक करणानुयोगी ग्रन्थो मे नही मिलते है। वैसा वर्णन साफ तौर पर कपोल कल्पित नजर आता है। सम्भव है आशाधर के ऐसे ही कथनो को लेकर नरेन्द्रसेन ने आशाधर का बहिष्कार किया हो। इति।



क्या ऋषि मडल स्तोत्र दिगम्बर परम्परा का है

करीव २५ वर्ष पहिले गुणनन्दि कृत ऋषि-मण्डल यत्र पूजा सस्कृत की भाषा टीका करके उसे प० मनोहरलालजी शास्त्री ने वम्वई से प्रकाशित की थी। उसके वाद इसका दूसरा सस्करण जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय से प्रकाशित हुआ था जो आज भी मिलता है। इस दूसरे सस्करण मे विद्याभूषण सूरि विरचित 'ऋषिमडल कल्प' नामक सस्कृत पाठ भी साथ मे दिया गया है जो प्रथम सस्करण मे नही था। अव वही पुस्तक उन्ही विद्याभूषण और गुणनन्दिकृत सस्कृत के उक्त दोनो पाठो के साथ ब्र० प० श्रीलालजी काव्यतीर्थ रचित हिंदी पद्यो सहित 'श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था महावीरजी' से वृहदाकार मे प्रकाशित हुई है। यह वही सस्था है जो पहिले कलकत्ते मे 'भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था' के नाम से चलती थी। अस्तु।

हम पाठको को प्रस्तुत लेख मे यह वतलाना चाहते है कि गुणनन्दि-कृत ऋषि मण्डल यन्त्र पूजा पुस्तक का आदिसे अन्त तक सव अश गुण-नन्दिकृत नही है। 'अथात ऋषिमण्डलस्तोत्र पठेत्' ऐसा लिखकर जो पुस्तक मे ऋषिमण्डलस्तोत्र पढने की सूचना दी है उसके आगे 'आद्यन्ताक्षर सलक्ष्य' से शुरु करके अन्त मे 'पद प्राप्नोति विस्रस्त परमानदसपदा।' लिखा गया है यह सव स्तोत्रपाठ गुणनन्दि कृत नही है। गुणनन्दि ने तो सिर्फ इसकी पूजा का भाग ही वनाया है। इसलिये इस स्तोत्र पाठ के श्लोको के क्रमिक नम्वर भी पुस्तक मे अलग दिये गये है। चूँकि यह पाठ विद्यानुशासन मे भी पाया जाता है वहाँ भी इसका केवल स्तोत्र पाठ ही लिखा हुआ है—पूजा भाग नही। अगर स्तोत्र व पूजा भाग दोनो अकेले गुणनन्दि की कृति होते तो विद्यानुशासन मे वह सारा का सारा पाया

जाना चाहिये था। अलावा इसके विद्यानुशासन का सकलन सम्भवत गुण-नन्दि से करीब १ शताब्दी पूर्व हो चुका था। पर च विद्याभूपण ने जो 'ऋपि मण्डल मन्त्र कल्प' बनाया है जिसकी चर्चा ऊपर हुई है। ये विद्याभूपण गुणनन्दि के बाद हुए है। इन्होने भी उक्त कल्प मे सिर्फ स्तोत्र ही का रूपातर किया है। इनसे सहज ही यह जाना जा सकता है कि इसका स्तोत्र भाग अलग है और पूजा भाग की ही रचना गुणनन्दि ने की है, स्तोत्र तो पहिले ही से चला आ रहा था जिसके निर्माता कोई और ही है।

गुणनन्दि ने इसकी प्रशस्ति मे अपने को ज्ञानभूपण का शिष्य लिखा है। प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्ति के प्रशिष्य ज्ञानभूपण विक्रम स० १५५० के आस-पास हुये है। "भट्टारकसम्प्रदाय" पुस्तक के पृ० १५४ मे लिखा है कि—इन ज्ञानभूपण के शिष्य नागचन्द्र और गुणनन्दि हुए, नागचन्द्र ने विपापहारस्तोत्र की टीका तथा गुणनन्दि ने ऋपिमण्डलपूजा बनाई।

उक्त विद्याभूपण का समय तो गुणनन्दि से भी बाद का है। ये विक्रम स० १६०४ के करीब हुए है और काष्ठासघ की परम्परा मे हुए है। (इनके बनाये ऋपिमण्डलस्तोत्र, चिन्तामणिपार्श्वनाथस्तवन आदि ग्रन्थ देहली के पचायती मदिर मे है ऐसा वीरसेवामदिर से प्रकाशित जैनग्रन्थ प्रशस्तिसग्रह की प्रस्तावना के पृ० ४९ मे सूचित किया है।)

ऋपिमण्डलस्तोत्र का प्रचार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनो मे है। देखना यह है कि दरअसल दोनो मे से प्रथम यह किस की चीज रही है। इस पर हम यहाँ कुछ ऊहापोह करना चाहते है।

१—दिगम्बर सम्प्रदाय मे सिद्धचक्र, गणधरवलय आदि कई तरह के बीसो यत्रमण्डल मिलते है उनसे इसकी रचनाप्रणाली भिन्न जाति की प्रतीत होती है।

२—इसका उल्लेख विद्यानुशासन के पूर्ववर्ती इद्रनदिसहिता, एकसधि-सहिता, पूजासार आदि क्रियाकाण्डी दिगम्बर साहित्य मे नही मिलता।

पूजासार मे जहाँ वीसो यन्त्रमण्डल लिखे है वहाँ इसको कतई स्थान नही दिया गया ।

३—आशाधर ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ मे जहाँ आचार्यादि की प्रतिष्ठा विधि लिखी है वहाँ वे गणधरवलय का तो प्रयोग करते है पर इस ऋषिमण्डल का नही ।

इससे कहा जा सकता है कि इस ऋषिमण्डल का आशाधर और उनके बाद आसपास होनेवाले हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि आदि के वक्त दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रवेश नही हो पाया था । यह दिगम्बर आम्नाय का न होने की वजह से ही नेमिचन्द्र प्रतिष्ठातिलक मे भी कही इसका उपयोग नही किया गया है ।

इस ऋषिमण्डलस्तोत्र के श्वेताम्बर होने मे खास प्रमाण यह भी है कि—इसमे तीर्थकरो का कायवर्ण श्वेताम्बरसम्मत लिखा हुआ है । पं० आशाधरजी ने तीर्थकरो का कायवर्ण इस प्रकार बताया है—

सितौ चन्द्राकसुविधो श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ।
पद्मप्रभवासुपूज्यौ च रक्तौ मरकतप्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्वपार्श्वौं स्वर्णाभान् शेपाश्चालेखयेत् स्मरेत् ॥

—प्रतिष्ठासारोद्धार, अध्याय १

अर्थ‘—चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त का रग सफेद, नेमिनाथ मुनिसुव्रत का श्याम, पद्मप्रभ वासुपूज्य का लाल और सुपार्श्वनाथ व पार्श्वनाथ का रग मरकत यानी पन्ना जैसा हरा है । शेष तीर्थकरो का सुवर्ण के जैसा रग है ।” ऐसा ही तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४, गाथा ५८८-५८९ मे कहा है । यह तो हुई दिगम्बर मान्यता । अब श्वेताम्बर मान्यता के लिये हेमचन्द्राचार्य का लिखा देखिये ।

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभपुष्पदन्तौ ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ श्रीमल्लिपार्श्वौ कनकत्विपोऽन्ये ॥४९॥

—अभिधानचिन्तामणिकोश प्र० काण्ड

यहाँ मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का रग (विनील) गहरे नीले रग का व सुपार्श्वनाथ का कनकवर्ण लिखा है। जबकि दिगम्बरमत मे मल्लिनाथ को कनकवर्ण के और पार्श्वनाथ सुपार्श्वनाथ को हरे रग के बताये है। इस प्रकार तीर्थकरो के कायवर्ण को लेकर दोनो मतो मे अन्तर मालूम पडता है। अव देखना यह है कि—इस ऋषिमण्डलस्तोत्र मे तीर्थकरो का कायवर्ण किस मत का लिखा गया है।

ऋषिमण्डलस्तोत्र के श्लोक न० १३ मे लिखा है कि—"ह्री इस बीजाक्षर की ईकारमात्रा का रग विनील (विशेप नीला) किया जावे और इस पर इसी रग के तीर्थकर के नाम के अक्षर लिखे जावें।" ऐसा निर्देश करके आगे श्लोक न० १५ मे ईकार मे पार्श्वनाथ और मल्लिनाथ के नाम लिखने को कहा गया है। इस अर्थ के सूचक वाक्य ये है—

"शिर ई स्थित सलीनौ पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ।"

यहाँ स्पष्ट तौर पर मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ का रग हेमचन्द्राचार्य के लिखे अनुसार विनील वतलाया गया है जो श्वेताम्बरमत का द्योतक है। ज्ञात हो कि जब यहाँ का कथन दिगम्बरमत के अनुकूल नही दीखा तो यहाँ के पाठ को वदल दिया है यानी "पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ" के स्थान मे "पार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" पाठ वना दिया है किन्तु वदले हुए पाठ मे डवल नाम पार्श्वनाथ का हो गया है। होना चाहिए सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के नाम, ऐसा करने के लिये "सुपार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" पाठ वनता तो छन्दभग हो जाता इसलिए लाचार वेतुका पाठ "पार्श्वपार्श्वौ जिनोत्तमौ" वनाना पडा है। इससे नि सकोच कहा जा सकता है कि वास्तविक पाठ इसका अवश्य ही श्वेताम्बरसम्मत रहा है। आश्चर्य है कि विद्यानुशासन मे भी इस स्तोत्र का वही श्वेताम्बरसम्मत पाठ "पार्श्व-मल्ली जिनोत्तमौ" ही पाया जाता है और यही पाठ चर्चा-सागर मे है। और तो क्या स्वय विद्याभूषण भी इस पाठ मे तवदीली करना नही चाहते

अत वे भी स्वरचित ऋपिमण्डलस्तोत्र के २७वे श्लोक मे ह्री की ईकार मात्रा मे पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ ही की स्थापना का कथन करते है।

इत्यादि कारणो से यह ऋपिमण्डलस्तोत्र नि.सदेह श्वेताम्वरकृति जान पडता है।

विद्यानुशासन मे जिन प्रकरणो का सग्रह किया गया है उसकी शैली को देखते हुए यह समझना भूल होगा कि ऋपिमण्डलस्तोत्र का विद्यानुशासन मे लिखा मिलने से ही उसे दिगम्बरकृति मान लिया जावे। विद्यानुशासन तो ऐसा खिचड़ी ग्रन्थ है जिसमे रावणकृत वालग्रहचिकित्सा आदि जैनेतर प्रकरणो का भी सकलन किया है तो ऐसी हालत मे उसमे किसी श्वेताम्वर कृति का मिल जाना कौन वडी वात है। ।



भास्करनन्दि और श्रीपालसुत डड्ढा

श्रीमदुमास्वामि विरचित तत्त्वार्थसूत्र पर भास्करनन्दि ने सुखवोध नाम की सस्कृत मे एक टीका लिखी है। टीका सहित यह ग्रन्थ छप चुका है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे भास्करनन्दि ने अपने को जिनचन्द्र का शिष्य लिखा है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना मे शातिराजजी शास्त्री ने भास्करनन्दि का समय अनुमानत क्रिस्तीय सवत् तेरह सौ का अन्तिम भाग वताया है। भास्करनन्दि का वनाया १०० श्लोक प्रमाण एक ध्यानस्तव नाम ग्रन्थ भी है जो भास्कर भाग १२ किरण २ मे प्रकाशित हुआ है, उसकी प्रशस्ति के भी अन्तिम ३ श्लोक प्राय वे ही है जो तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीका की प्रशस्ति मे लिखे मिलते है

भारतीय ज्ञानपीठ काशी से एक पचसग्रह नामक सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमे श्री सुमतिकीर्तिकृत सस्कृत टीका के साथ प्राकृत पचसग्रह छपा है। साथ ही में श्रीपाल सुत डड्ढा कृत सस्कृत का पद्य पचसग्रह भी छपा है। इसकी प्रस्तावना मे प० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री ने डड्ढा का समय अनुमानत विक्रम की १७वी शताब्दी वताया है। शास्त्रीजी ने जिस आधार पर समय का यह अनुमान लगाया है, उनका वह आधार यह है कि "प्राकृत पचसग्रह की जो सस्कृत टीका विक्रम स० १६२० मे सुमतिकीर्ति ने वनाई है उसका प्रभाव श्री डड्ढा पर रहा है। यह वात उनके द्वारा दी गई सदृष्टियो से अवश्य हृदय पर अकित होती है।"

किन्तु डड्ढा के इस समय पर पुन विचार किया जाना आवश्यक है। चूँकि भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र की उक्त टीका मे डड्ढाकृत पचसग्रह के पद्य उद्धृत किये है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

द्वि कापोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा ।
नीलाकृष्णे च कृष्णातिकृष्णा रत्नप्रभादिपु ॥
॥१९८॥१—पचसग्रह

भास्करनन्दि ने इस पद्य को तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र की टीका मे उद्धृत किया है ।

लेश्या योगप्रवृत्ति स्यात्कपायोदयरजिता ।
भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्यच्छवि पोढोभयी तु सा ॥१८४॥
पड्लेश्यागा मतेऽन्येषा ज्योतिष्का भौनभावना ।
कापोतमुद्गगोमूत्रवर्णलेश्या निलागिन ॥१९०॥१
लेश्याश्चतुर्पु पट् पट् च तिस्रस्तिस्र शुभास्त्रिपु ।
गुणस्थानेपु शुक्लैका पट्सु निर्लेश्यमन्तिमम् ॥१९५॥१
आद्यास्तिस्रोऽप्यपर्याप्तेष्वसख्येयाव्दजीविपु ।
लेश्या क्षायिकसदृष्टौ कापोता स्याज्जघन्यका ॥१९६॥
पण्नृतिर्यक्षु तिस्रोऽन्त्यास्तेष्वसख्याव्दजीविपु ।
एकाक्षविकलासज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रय मतम् ॥१९७॥१

डड्ढाकृत पचसग्रह के इन सव पद्यो को भास्करनन्दि ने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ के सूत्र २ की टीका मे उद्धृत किया है। इनमे से १९०वा श्लोक को "तदुक्त सिद्धान्तालापे" इन वाक्योके साथ उद्धृत किया है। डड्ढा ने भी इस श्लोक के आगे "इति सिद्धान्तालापे" ऐसा वाक्य प्रयोग किया है। यहाँ का गद्य भी दोनो मे एक समान है। अलावा इसके भास्करनन्दिने तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ४ सूत्र २२ की टीका मे भी डड्ढाकृत पचसग्रह के दो पद्य उद्धृत किये है।

इन उद्धरणो से डड्ढा का समय भास्करनन्दि से पूर्व का सिद्ध होता है। अगर हम डड्ढा को विक्रम की १७वी शताव्दी का जैसा कि प० हीरालालजी शास्त्री ने अनुमान किया है मान लेते है तो भास्करनन्दि का

समय १७वी शताब्दी से भी बाद मे जा पडता है। और जो भास्करनन्दि का समय १३वी शताब्दी मानते है तो डड्ढा का समय १३वी शताब्दी से भी पूर्व का सिद्ध होता है।

यहाँ यह भी विचारने की चीज है कि डड्ढा की तरह अमितगति ने भी सस्कृत पद्यो मे पचसग्रह बनाया है। जब हम दोनो पचसग्रहो को आमने सामने रखकर देखते है तो ऐसा आभास होता है कि डड्ढा के पचसग्रह मे कितने ही ऐसे पद्य मिलते है जो अमितगतिके पचसग्रह के पद्यो को कुछ हेरफेर करके बनाये हो, पं० आशाधर जी ने अमितगति के पचसग्रह और अमितगति के श्रावकाचार का अपने बनाये अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत मे खूब उपयोग किया है। किन्तु आशाधर जी ने डड्ढाकृत पचसग्रह का कोई भी पद्य कही भी उद्धृत नही किया है। इससे ऐसा लगता है कि डड्ढा के पचसग्रह का निर्माण आशाधर जी के बाद हुआ है और डड्ढा से भी बाद मे भास्करनन्दि हुये है। आशा है खोजी विद्वान् इस पर पुन प्रकाश डालेगे।



देवसेन का भावसंग्रह

देवसेन के वनाये हुए दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र, आलापपद्धति और भावसंग्रह ये ग्रथ इदानी उपलब्ध होते है। इनमे से सिर्फ दर्शनसार मे उसका रचनाकाल वि० स० ९९० दिया हुआ है। शेप ग्रन्थो मे रचनाकाल का कही कोई उल्लेख नही है। और भाव सग्रह को छोड कर शेप ग्रथो मे कही देवसेन ने अपने गुरु का नाम भी नही लिखा है। ऐसी हालत मे यह पता लगाना वडा ही मुश्किल है कि इन सव ग्रथो का कर्ता एक ही देवसेन है या देवसेन नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति ? और उनमे कौन कव हुआ है। क्योकि हमारे यहाँ एक नाम के अनेक जुदे-जुदे ग्रथकार भी हुये हैं। (इतने पर भी कुछ विद्वान् इन ग्रन्थो मे से भावसग्रह ग्रन्थ के कर्ता उन्ही देवसेन को मान रहे हें जिन्होने विक्रम स० ९९० मे दर्शनसार ग्रन्थ रचा है। इस मान्यता का आधार ऐसा कोई समर्थ ऐतिहासिक प्रमाण भी नही वताया गया है जिससे सिद्ध होता हो कि यह "भावसग्रह" वाकई उन्ही दर्शनसार के कर्ता देवसेन का वनाया हुआ है। जव किसी ग्रथ के रचनाकाल का पता ऐतिहासिक साधनो से नही लग सकता हो तो एक और भी साधन पता लगाने का है। और वह उस ग्रथ के कथनो की अतरग जाँच करना। इस की जाँच मे और नही तो भी इतना परिज्ञान तो भावसग्रह के विपय मे हो सकता है कि इस तरह का वर्णन तो अमुक शताब्दी मे ही सभवनीय है या अमुक वर्णन प्राचीन देवसेनाचार्य के द्वारा होना सभव नही है।) इसी खयाल से मैंने प्रस्तुत लेख मे उक्त भावसग्रह ग्रथ की अतरग जाँच करने का प्रयास किया है। इस जाँच से पाठक देखेगे कि यह भावसग्रह ग्रथ उन दशवी शताब्दी मे होने वाले देवसेन का तो बनाया हुआ नही हो सकता है जिन्होने दर्शनसार ग्रथ लिखा है। नीचे इसकी चर्चा की जाती है—

१—"मांस से पितरो की तृप्ति होती है" ऐसा वैदिक मत का सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का खंडन करते हुये भावसंग्रहकार ने वैदिक मत के "नाभिस्थाने वसेद् ब्रह्मा" आदि-आदि श्लोक पृ० १३ पर उत्तरोक्त रूप से उद्धृत किये हैं। जिनमें लिखा है कि "जीवोंके नाभि स्थान में ब्रह्मा, कंठ में विष्णु, तालवे मे रुद्र, ललाट में महेश्वर, और नाक के अग्र में शिव निवास करते हैं।" ऐसा बतलाकर आगे गाथा निम्नलिखित दी हैं—

सव्वासु जीवरासिसु एए णिवसंति पंच ठाणेसु।
जइ तो कि पसुवहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥४७॥
देवे वंदिऊण गुणा लब्भइ जइ हवइ उत्तमा केई।
तो तुरुक्क वंदणया अवरे पाविट्ठिया सव्वे ॥४८॥

अर्थ—सबही जीवो के नाभि आदि पच स्थानो मे यदि ब्रह्मा विष्णु आदि निवास करते है तो पशु वध करने से उन ब्रह्मा आदि देवों का घात होना भी क्यो न माना जावेगा। और यदि कोई उत्तम पुरुष देवो का विध्वंस करने से गुण प्राप्त करते है तो देव मूर्तियो के विध्वंसक यवन भी वंदनीय माने जाने चाहिये और शेष सब पापी माने जाने चाहिये।

गाथा मे आये 'तुरुक्क' शब्द की संस्कृत छाया 'तुरुष्क' होती है। और तुरुष्क शब्द का अर्थ तुर्क यानी यवन होता है। धर्मामृत की प्रशस्ति मे पं० आशाधरजी ने भी तुरुष्क शब्द का प्रयोग यवन अर्थ मे किया है, भावसंग्रह की अजमेर की लिखित प्रति मे "तुरक्क वदणया" पाठ के स्थान मे "तो तुरुक्क वंदणीया" पाठ जान पड़ता है। इससे छंदभंग भी मिट जाता है। इतिहासकार भारत मे यवनो के शासन का प्रारंभ ई० १३वी शताब्दी से मानते है। अत उक्त कथन से भावसंग्रह १३वी शताब्दी से पूर्व का बना सिद्ध नही होता है।

२—श्वेतांबर मत मे स्थविरकल्पी साधु के लिये वस्त्र धारण करना विधेय बताया है। उसका निराकरण करते हुये भावसंग्रह मे उसे स्थविर

ार गृहस्थ कल्प कहा है। इसी प्रसग मे भावसग्रहकार ने
१३२ तक मे जिनकल्प और स्थविरकल्प का स्वरूप भी
। उसमे आपने वन कंदराओ मे रहना यह जिनकल्पी की
। किन्तु स्थविर कल्पी साधुओ के लिये भी नगर ग्रामो मे
ाधान किसी मान्य आगम मे नही मिलता है। इसके लिये
ार्य कृत आदि पुराण का निम्न श्लोक देखिये—

विविक्तशायित्व वने वासश्च योगिनाम् ।
त साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयो ॥७९॥ पर्व २१

अर्थ—इसलिये योगियो को एकात मे रहना और वन मे वसना चाहिए। चाहे जिनकल्पी हो या स्थविरकल्पी हो दोनो ही प्रकार के साधुओ के लिये यही सामान्य मार्ग है।

इन्ही के शिष्य आचार्य गुणभद्र ने तो आत्मानुशासन मे रात्रि के समय मे भी मुनि को नगर के समीप आ बसने मे ही खेद प्रकट किया है। इन्ही जिनसेन गुणभद्र के ऊपर दर्शनसार के कर्ता देवसेन की कैसी श्रद्धा थी ? वे उन्हे कितने उच्चकोटि के मुनि मानते थे इस सवन्ध मे दर्शनसार की गाथा ३०–३१ मे वे लिखते है कि—

"वीरसेन के शिष्य जिनसेन सकलशास्त्र के ज्ञाता हुये जो श्रीपद्मनदि (कुदकुद) के वाद चार सघ के उद्धार करने मे समर्थ हुए। इनके शिष्य गुणभद्र हुये जो गुणवान्, दिव्य ज्ञानी, पक्षोपवासी, शुद्धवुद्धि, महातपस्वी और भावलिंगी थे।"

जो देवसेन दर्शनसार मे जिन जिनसेन गुणभद्र के प्रति इतना सम्मान व्यक्त करते है वे ही देवसेन भावसग्रह मे जिनसेन की आम्नाय के विरुद्ध स्थविरकल्पी साधुओ के लिये नगर ग्राम मे रहने का कथन करने लग जावे यह वात वुद्धि मे वैठने योग्य नही है। इसलिये न तो इस भावसग्रह के कर्ता वे देवसेन है जिन्होने दर्शनसार वनाया है और न यह भावसग्रह

कोई प्राचीन ग्रन्थ ही है। यह तो स्पष्ट ही शिथिलाचार के जमाने का बना सिद्ध होता है।

भावसग्रह मे जिनकल्पीके लिए यह भी लिखा है कि "वर्षा ऋतु में वे छह माम तक निराहार कायोत्सर्ग मे स्थित रहते है।" (गाथा २२१)

इसी के अनुरूप वामदेव ने भी सस्कृत भाव सग्रह में ऐसा लिखा है—

वर्षासु मासपट्क हि मार्गे जातेऽगिमकुले।
निराहारा वितिष्ठन्ते कायोत्सर्गेण निस्पृहा ॥२६७॥

अर्थ—जिसमे कि जीवोत्पत्ति से मार्ग व्याप्त हो जता है ऐसी वर्षाऋतुओ मे वे जिनकल्पी छहमास तक निराहार कायोत्सर्ग मे स्थित रहते हैं।

यह कथन भी भावसग्रहकार का अत्युक्तिपूर्ण है और वह जिनकल्पी की चर्या को वहुत अधिक कठिन वनाने की गरज से किया गया प्रतीत होता है। इससे ग्रथकार ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वन कदराओ मे रहना और वर्षा मे ६ मास तक निराहार तिष्ठना आदि जिनकल्पकी चर्या वडी दुर्धर है। उसका पालन सभी साधुओ के लिए शक्य नही है।

अगर जिनकल्पीकी ऐसी ही चर्या है तो तीथकर जो कि सव जिनकल्पी ही होते है तो क्या वे सव छह मास तक वर्षा मे निराहार ही रहते है। ऐसा वर्णन उनके चरित्र ग्रन्थो मे तो लिखा नही देखा जाता है। वल्कि गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण मे तो लिखा है कि—"नेमिनाथ स्वामी ने श्रावण शुक्ला ६ को दीक्षा ली और दीक्षादिन से वेला के वाद ही उन्होने पारणा किया। ५६ दिन मुनिअवस्था मे रहकर आश्विन शुक्ला १ को वेला के नियम मे केवलज्ञान पाया।" अर्थात् नेमिनाथ स्वामी ने वर्षाऋतु मे ही दीक्षा ली और उसी ऋतु मे ही केवलज्ञान पाया। वर्षा ऋतु के इन ५६ दिनो मे ही न जाने उन्होने कितनी वार आहार लिया है। दो वार आहार लेने का प्रसग तो कथा मे ही वता दिया है। तव निजकल्पी के लिए वर्षा-ऋतु मे ६ मास तक निराहार और कायोत्सर्ग मे स्थित रहने का नियम

कहाँ रहा ? तथा भावसग्रह मे जिनकल्पी को मौन मे रहना भी प्रतिपादन किया है। किन्तु मूलाचार अधिकार ४ गाथा १४९ में जो एकविहारी मुनि के लक्षण वताये है वहाँ उनके लिए मौनी रहना और वर्षा-ऋतु मे ६ मास तक निराहार रहना नहीं वताया हे। आम तोर पर स्थविरकल्पी का अर्थ मघ मे रहना और जिनकल्पी का अर्थ एकविहारी होना ही समझा जाता है। वामदेव ने भी मस्कृत भावमग्रह के श्लोक २७७ मे यही लिखा है कि स्थविर आदि मुनिगुणो के रक्षण पोपण की इच्छा रखने वाले स्थविरकल्पी मुनि कहलाते है, और यही वात भावसग्रहकार ने भी गाथा १२९ मे कही है। किन्तु वे इन दोनो कल्पो का स्वरूप अन्य गाथाओ मे वताते हुए इस मुख्य लक्षण पर स्थिर नही रहे है और यद्वा तद्वा कथन कर गये है। वे लिखते है कि—"खड़े होकर करपात्र मे एक वार आहार लेना, पीछी आदि उपकरण रखना, पृथ्वी पर सोना, लौच करना, छह आवश्यको का पालना आदि स्थविरकल्पी की चर्या है। और धर्म शुक्लध्यानी, निष्कपायी, मौनी, निस्पृही आदि रूप से रहने की जिनकल्पी की चर्या है।" इससे भावसग्रहकार का अभिप्राय ऐसा मालूम होने लगता है कि जैसे मानो वे सातवे आदि ऊपर के गुणस्थान वर्ती को ही जिनकल्पी मानते हो और छठवे गुणस्थान वाले को स्थविरकल्पी मानते हो ? नही तो जिनकल्पी के हो लिए धर्म-शुक्ल ध्यानी आदि वताने व स्थविरकल्पी ही के लिए आहार करना, लौंच करना, आदि प्रवृत्त्यात्मक क्रियाएँ वताने का और क्या मतलव हो सकता है। किन्तु वे अपनी इस कपोलकल्पित मान्यता पर भी आरूढ नही रहे है। क्योकि वे जिनकल्पीके लिए पॉव मे लगे काँटे और आँख मे पडी रज को स्वय न निकालने व वर्षामे निराहार रहने का भी आदेश देते है। इससे सातवे आदि ऊपर के गुणस्थानी को जिनकल्पी मानने का भी कोई सम्वन्ध नही वैठता है। इस तरह भावसग्रहकार का कथन इस सम्वन्ध मे विल्कुल ही अजीव सा हो गया है। और ये इस वावत कोई

निश्चित सिद्धान्त स्थिर नही कर सके है।) यह सब गडबड़ शिथिलाचार को स्थविर कल्प बनाने के प्रयास से हुई है। इस प्रकार के अयुक्त वर्णन किये जाने की आशा प्राचीन देवसेनाचार्य से नही की जा सकती है।

३—भावसग्रह की गाथा १२४ मे स्थविरकल्पी के लिए यह भी लिखा है कि "वह पाँच प्रकार के वस्त्रो का त्यागी होता है।" किन्तु ऐसा त्यागी तो जिनकल्पी भी होता है फिर यहाँ अकेले स्थविरकल्पी के ही लिए ऐसा कथन क्यो किया? इस कथन से शायद ग्रन्थकार का आशय यह हो कि वे स्थविरकल्पी मुनि के लिए पाँच प्रकार से भिन्न तृणज वस्त्र का उपयोग कर लेना जायज समझते हो। इसके समर्थन मे भावसग्रह की हस्तलिखित कुछ प्रतियो मे उक्तच रूप से निम्नलिखित पद्य भी लिखा मिलता है—

'अण्डज बुण्डज रोमजचर्मजवल्कल पच चेलानि।
परिहृत्य तृणजचेल यो गृह्णीयाद् भवेत् स यति ॥

इसमे लिखा है कि—"सूती, रेशमी, ऊनी, चमडे व वृक्षो की वल्कलो से बने ऐसे इन पांच प्रकार के वस्त्रो का त्यागकर जो तृण के बने वस्त्र को ग्रहण करता है वह यति है।"

कथन की अयुक्तता को देखकर किसी ने इसके चौथे चरण मे "यो गृह्णीयात् न भवेत् स यति" पाठ बना दिया है। किन्तु पाठ मे "न" अधिक बढा देने से छन्द भग होता है और तबदीली करना साफ जाहिर होता है। [तथा झालरापाटन की स —१४८८ की भावसंग्रह की लिखित प्रति मे भी "भवेत् स यति" ही पाठ है। यही पाठ इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार की सस्कृत टीका मे है। (श्लोक ९५वा)]

ऐसा विधान परमात्म प्रकाश की टीका मे ब्रह्मदेवजी ने भी किया है—

"विशिष्टसहननादिशक्त्यभावे सति यद्यपि तप पर्यायसहकारिभूतमन्नपानसयमशौचज्ञानोपकरणतृणमयप्रावरणादिक किमपि गृह्णाति तथापि ममत्व न करोति।"

अर्थ—"विशेष सहननादि शक्ति के न होने से तप का सहायक अन्न पान और सयम-शौच-ज्ञान के उपकरण पीछी कमण्डलु शास्त्र व, तृणमय-वस्त्रादि कुछ भी साधु ग्रहण करता है। तथापि उसमे ममत्व नही करता है।"

विदित हो कि इन्ही ब्रह्मदेवजी ने वृहद्द्रव्यसग्रह की टीका भी की है। राजस्थान ग्रन्थ सूची तृतीय भाग के पृ० १८० पर टीका सहित इस ग्रन्थ का लिपिकाल विक्रम स० १४१६ लिखा है। इससे ये १४१६ से पूर्व मे हुए है और उन्होने किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ का भी निर्माण किया है ऐसा प० अजितकुमारजी शास्त्री ने वृहद्द्रव्य-सग्रह टीका पुस्तक की प्रस्तावना मे लिखा है। अधिकतर प्रतिष्ठाशास्त्रो का निर्माण काल भी १४वी सदी ही रहा है। फलत इन ब्रह्मदेवजी का समय भी १४वी सदी ही अनुमान किया जा सकता है।

इस तरह मुनि के लिए तृणमयवस्त्र का विधान १४वी शताब्दी आदि शिथिलाचार के जमाने मे हुआ है। और वही समय भावसग्रहका है। भावसग्रहकारने जिनकल्पी को तो वाह्याभ्यन्तर सव प्रकार के परिग्रह का त्यागी लिखा है और स्थविरकल्पी के लिए पचचेला का त्याग करना वताया है। इससे भावसग्रहकार का साफ अभिप्राय यही प्रकट होता है कि उनके मत से स्थविरकल्पी साधु पॉच प्रकार के वस्त्र से भिन्न तृणमय चेल का उपयोग कर सकते है और जिनकल्पी किसी भी जाति के वस्त्र का उपयोग नही कर सकते। जिस प्रकार ग्रन्थान्तरो मे उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की ओट मे शिथिलाचार का पोषण किया गया है उसी प्रकार भावसग्रह में जिनकल्प-स्थविरकल्प की ओट लेकर शिथिलाचार का पोषण किया है।

जो देवसेन दर्शनसार मे मामूली मतभेद की वजह से ही मुनियो को जैनाभास करार देते है वे भावसग्रह मे ऐसा कथन करेगे यह कदापि मानने मे नही आ सकता।

यहाँ यह समझ रखना चाहिये कि आसन के लिये मुनि को घास की वनी चटाई का उपयोग करना ऐसा अभिप्राय भावसग्रह का नही है। वहाँ "तृणज चेल" वाक्य दिया गया है और चेल का उपयोग शीत से वचने के लिए अगप्रत्यग को ढक कर किया जाता है। इसी भाव को ऊपर ब्रह्मदेव ने "तृणमय आवरण" शब्द से व्यक्त किया है।

४—जैसे सवस्त्र मुक्ति मानने वाले श्वेतावरो के स्थविर कल्प को भावसग्रहकार ने गृहस्थ कल्प वताया है वैसे ही भावसग्रह में स्थविर कल्पी दिगम्बर साधुओ की जो चर्या लिखी है उसे हम दिगम्बरो का शिथिलाचार कल्प कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। ऐसे शिथिलाचार कल्पी साधुओ की प्रशसा भावसग्रह की गाथा १३० मे इस प्रकार वर्णन की है—

"सहनन की अति हीनता दुषमाकाल और मनकी चचलता होते भी जो महाव्रत के भार के धारण करने मे उत्साही वने हुये हैं वे धीर वीर मुनि हैं।" इस गाथा का आशय वहुत कुछ यशस्तिलक के इस पद्य से मिलता है।

> काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
> एतच्चित्र यदद्यापि जिनरूपधरा नरा॥

तथा भावसग्रह की कुछ हस्तलिखित प्रतियो में यशस्तिलक के कई उक्तच पद्य भी लिखे मिलते हैं। इससे भी भावसग्रह का निर्माण यशस्तिलक के वाद मे होना सिद्ध होता है।

इसके आगे की गाथा मे उक्त साधुओ की प्रशसा जिस ढग से वर्णन की है वह तो वडी ही विलक्षण है—

> वरिस सहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण कायेण।
> त सपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसहणणो॥१३१॥

इसमे वताया है कि—"पहिले के मुनि अपने उस कायसे जिस कर्म

को हजार वर्ष मे खपा देते थे उस कर्म को इस काल मे हीन सहनन का धारी मुनि वर्ष भर मे ही निर्जरा कर डालता है।"

कहना न होगा कि भावसग्रह का यह कथन कितना आपत्ति के योग्य है। साफ तौर से ऐसा कथन अपनी और अपने साथी साधुओ ने जैसी कुछ चर्या वना रक्खी है उनके पोपण की दृष्टि से किया गया है। सचमुच ही अगर इम काल के साधु लोग कर्मो की इतनी अधिक निर्जरा कर डालते है तो इनमे किसी के अवधिमन पर्ययज्ञान व चारण आदि विविध ऋद्धियाँ होती तो नही देखी गई है। और तव पचम काल मे मोक्षगमन का अभाव भी क्यो वताया जाता है ?

ऊपर गाथा १३० और १३१ मे जो कथन किया गया है उसे ध्यान मे रखकर ही भावसग्रह की निम्नलिखित गाथा की रचना हुई है—

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाहा ॥१२७॥

(अर्थ—सहनन के गुण से अर्थात् हीनसहनन वाले साधु के अधिक निर्जरा होती है जैसा कि गाथा १३१ मे कहा है। यह तो हुआ सहनन का गुण और दु पम काल के तप के प्रभाव से अर्थात् पचमकाल मे इस समय हीन सहनन और मन की अस्थिरता होते भी महाव्रती साधु वने हुये है जैसा कि गाथा १३० मे कहा है। यह हुआ दु पमकाल के तप का प्रभाव। इन कारणो से साधुओ का पुर नगर ग्राम मे रहना स्थविर कल्प माना जाता है।)

(भावसग्रह की गाथा १३१वी को रत्ननदि ने अपने वनाये भद्रवाहु चरित्र मे भी उद्धृत की है। रत्ननदि ने तो भद्रवाहु चरित्र मे जिनकल्पी स्थविरकल्पी वाला वह सारा प्रकरण ही वामदेव के सस्कृत भावसग्रह से ज्यो का त्यो अनुवाद कर रक्खा है। और सकलकीर्ति ने भी धर्म-प्रश्नोत्तर ग्रथ मे प्रश्न न० ३१७ मे भावसग्रह की गाथा १३१ के आशय को अपनाया है। इस तरह गाथा १३१ के कथन का अनुसरण किया

जाना १४वी सदी के वाद के वने ग्रथो मे तो कही-कही मिलता हे। किंतु १४वी शताब्दी से पूर्व के ग्रथो मे ऐसा विलक्षण कथन हमारे देखने मे नही आया है।] और तो क्या अधिकाश रूप से भावसग्रह के आशय को लेकर सस्कृत का भावसग्रह वनाने वाले वामदेव भी इस कथन मे सहमत नही मालूम पडते हैं क्योकि उन्होने भी अपने भावसग्रह मे इस प्रकरण की वहुत सी वातें तो ली हैं" इस कथन को नही लिया हैं।

इस प्रकार मिथ्या तरीको से शिथिलाचार का पोपण करना यह वताता है कि यह भावसग्रह उस वक्त की रचना है जव शिथिलाचार को शिथिलाचार ही नही माना जाता था वल्कि उसे एक महिमा की चीज सिद्ध किया जा रहा था। इससे हम कह सकते हैं कि यह ग्रथ सभवत १४वी सदी से पूर्व का वना हुआ नही है।

५—भावसंग्रह में गाथा ३५० से लेकर ५९९ तक २५० गाथाओ मे पाँचवे गुणस्थान का वर्णन पाया जाता है। तथापि श्रावकाचार का उल्लेख योग्य ऐसा कोई खास वर्णन नही किया हैं। दो चार गाथाओ मे श्रावक के १२ व्रतो और ८ मूलगुणो के केवल नाम मात्र लिख दिये हैं। न उनके स्वरूप का कथन किया हैं न अतीचारो का। सप्त व्यसन ग्यारह प्रतिमाओ का भी कही कोई कथन नही हैं। वाकी सारी गाथायें अधिकतया दान पूजा विपय की ही भर दी गई हैं। [गाथा ४२५ से ४८२ तक स्नान, आचमन, सकलीकरण, अभिपेक, दिक्पालो की उपासना, भगवान् के उवटना करना, याग मडल आदि यन्त्रोद्धार, पूजा, विसर्जन इत्यादि क्रियाकाड लिखकर फिर गाथा ४८६ तक पूजा का फल स्वर्गगमन और वहाँ से चक्रवर्ती हो महाव्रती दीक्षा ले मोक्ष मे जाना वताकर गाथा ४८७ मे इन सवका निष्कर्प यह वताया है—

इय णाऊण विसेस पुण्ण आयरइ कारण तस्स।
पावहण जाम सयल सजमय अप्पमत्त च ॥४८७॥

[अर्थ—इस प्रकार उक्त क्रियाकाड के अनुष्ठान से उस मोक्ष का

कारणभूत ऐसा विशेष पुण्य होगा जानकर जब तक सकल सयम और अप्रमत्तसयम नही प्राप्त कर लेवे तव तक उसी विशेष पुण्य का आचरण करते रहो ।]

[भावसग्रह के इस कथन से ग्रन्थकार का कुछ ऐसा आशय झलकता है कि वे श्रावको के उस समय उक्त क्रियाकाड की मुख्यता लाना चाहते थे इसी से उन्होने श्रावको के वारह व्रतो अतिचारो आदि का वर्णन नही किया है। और इस वात पर जोर दिया है कि श्रावको का कर्तव्य तो विशेष तौर पर दान पूजा करके पुण्यसंपादन करने का ही है। वे नही चाहते थे कि गृहस्थी ध्यान स्वाध्यायादि के पचडे मे पडकर उक्त क्रियाकाड के अनुष्ठान मे शिथिलता दिखावे। अपने इसी उद्देश्य को लेकर कभी तो वे गाथा ३५७ मे "पाँचवे गुणस्थान मे आर्त रौद्र और भद्र ध्यान होता है। धर्म ध्यान नही होता है।" ऐसा कथन करते है। यहाँ वे भद्रध्यान की एक नई ही कल्पना करते है। और कभी वे गाथा ३७१ मे पचम षष्ठ गुणस्थान मे उपचार से धर्मध्यान बताते है। वहाँ वे चौथे गुणस्थान मे उपचार से भी धर्मध्यान होता है या नही ? कुछ नही वताते है। तथा कभी वे धर्मध्यान के सालम्ब, निरालम्ब ऐसे दो भेद करके गृहस्थी के गाथा ३८८ मे पंचपरमेष्ठियो के स्वरूप का चिंतवन रूप या मत्राक्षर रूप सालम्ब ध्यान का प्रतिपादन करते है। और इससे शायद वे आज्ञाविचय आदि जो चार भेद रूप धर्मध्यान है वैसा धर्मध्यान श्रावक के न मानते हो। और ऐसा ही सालम्ब ध्यान वे छठवे गुणस्थान मे भी मानते है। क्योकि गाथा ३८१ मे उन्होने निरालम्ब ध्यान सातवे गुणस्थान मे ही वताया है।]

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ धर्मध्यान के सम्वन्ध मे विभिन्न प्रकार के कथन किये है। किन्तु आगम सम्मत "पाँचवे गुणस्थान मे एक देश धर्मध्यान होता है।" यह जो सही सिद्धात है उसका उल्लेख अपने उद्देश्य मे वाधा पडती देख कही नही

कर रहे है। जिनकल्प और स्थविरकल्प के स्वरूप कथन मे इनकी जैमी डावाडोल स्थिति रही है, वही डावाडोल स्थिति धर्मध्यान के स्वरूप कथन मे भी नजर आती है।

श्रावको का खास काम पुण्य सपादन करने का ही है अपने इस सिद्धात को लेकर भावसग्रहकार ने जो एक बडी अनोखी बात शुरु मे ही कही है वह भी जरा देखिये—

सेयो सुद्धो भावो तस्सुवलभोय होइ गुण ठाणे।
पण दह पमायरहिए सयलवि चारित्त जुत्तस्स ॥६॥

अर्थ—शुद्धभाव श्रेय कहिये कल्याणमय है उनकी उपलब्धि सकल चरित्र वाले प्रमाद रहित अर्थात् अप्रमत्तविरत नाम के ७ वें गुणस्थान मे होती है।

यहां ग्रन्थकार ने सातवें गुणस्थान में केवल शुद्ध भाव बताया है। इससे यह दर्शाया है कि—सातवें से नीचे छठवें पाँचवें गुणस्थान मे शुद्ध भाव तो है नही, वहां शुभ भाव हो सकते है और शुभ भाव से पुण्यवध ही होगा इसलिये श्रावको को पुण्यवध के ही काम करने चाहिए। और चूँकि ग्रन्थकार ने खास धर्मध्यान सातवें गुणस्थान मे ही माना है और उसी मे शुद्ध भाव भी इससे ग्रन्थकार का मत यही प्रकट होता है कि वे धर्मध्यान मे शुद्धभाव ही मानते है और शुद्ध भाव श्रावक के नही हो सकते है इसीसे वे पचम गुणस्थान मे धर्मध्यान का निषेध करते है।

किन्तु सातवे गुणस्थान मे धर्मध्यान की मुख्यता होने से ग्रन्थकार का वहां सर्वथा शुद्ध भाव मानना भी ठीक नही मालूम देता है। क्योंकि जब सातवे गुणस्थान मे शुक्ल ध्यान नही और कषायजनित बन्ध का अभाव भी नही तो वहां सर्वथा शुद्ध भाव ही हो शुभ भाव न हो ऐसा कैसे हो सकता है। बल्कि मूलाचार पचाचाराधिकार गाथा १९७ की टीका मे तो स्पष्टतया धर्मध्यान को स्वर्ग गति का कारण लिखा है—

"धर्मध्यान शुक्लध्यान चैते द्वे प्रशस्ते देवगतिमुक्तिगतिप्रापके।"

यहाँ धर्मध्यान से देवगति होना बताया है। इससे सिद्ध है कि धर्मध्यान मे शुभभाव भी होते है।

और यह भी एकान्त नही है कि पाँचवे छठवें गुणस्थान मे कुछ भी शुभ भाव नही है। चौथेसे सातवें गुणस्थान तक जिनके जितने अशो मे मोह का अभाव है उनके उतने ही अशो मे शुद्ध भाव भी है ऐसा मानना पडेगा। इसी से तो आगम मे चौथे, पाँचवें, छठवें आदि गुणस्थानो मे उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा बताई है।

और जो भावसग्रहकार ने गाथा ३५७ मे श्रावक के धर्मध्यान का निषेध करके फिर गाथा ३७१ मे पाँचवे छठवें गुणस्थान मे उपचार से धर्मध्यान बताया है सो यहाँ उपचार का क्या अर्थ है? यही कि वहाँ वास्तविक धर्मध्यान नही है। उपचार शब्द से तो ग्रन्थकार का यही अभिप्राय ध्वनित होता है। तो क्या पाँचवें छठवे गुणस्थान मे वास्तविक धर्मध्यान का एकदेश भी नही होता है? ग्रन्थकार का यह सब कथन ठीक नही है। क्योकि धर्मध्यान के आज्ञाविचय आदि भेद है और सम्यक्त्व के साथ ही आज्ञाविचय हो जाता है। अत पाँचवें ही नही चौथे गुणस्थान मे भी धर्मध्यान होना सिद्ध है। और इसीसे तत्त्वार्थराजवार्तिकमे चौथे से सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान बताया है। और भावसग्रहकार का केवल सातवें ही गुणस्थान मे धर्मध्यान बताना यह आम्नाय तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है जो उनके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य मे उल्लिखित है। इसलिये भावसग्रहकार का पाँचवे ही नही महाव्रती छठवे गुणस्थानवर्ती मुनि के भी उपचार से धर्मध्यान बताना सिद्धान्त विरुद्ध कथन है। इस विषय मे विद्यानन्दिस्वामी ने श्लोकवार्तिक मे जो विवेचन किया है उस पर ध्यान दीजिये—

"कस्य तद्धर्मध्यान स्यादित्याह—

साकल्येन विनिर्दिष्ट तत्प्रमत्ताप्रमत्तयो ।
अन्तरंगतपोभेदरूप सयतयो स्फुटम् ॥

मयतामयतस्यैकदेशेनासंयतस्य तु ।
योग्यतामात्रत कैश्चिद्यैर्दुर्ध्यान प्रचक्षते ॥
धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न, पूर्वेपा निवृत्तिप्रसंगात् । इष्यते च तेपा सम्यक्त्वप्रभावाद्धर्म्यध्यानम् ।"—नवम अध्याय सूत्र ३६ की व्यारया ।

अर्थ—वह धर्मध्यान किसके होता है ? यह वताते है—अन्तरग तप का भेद होने से वह धर्मध्यान पूर्णरूप मे प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत दोनो के स्पष्ट तौर से माना गया है और सयतासयत पाँचवे गुणस्थान मे वह एकदेश रूप से माना गया है तथा असयत गुणस्थान मे भी वह जैमी जहाँ योग्यता है उस रूप माना गया है । ("धर्मध्यान अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान मे ही होता है ।" ऐसा नही कहना चाहिए । क्योकि ऐसा कहने से नीचे के गुणस्थानो मे उस धर्मध्यान के अभाव का प्रसग आवेगा । क्योकि मम्यक्त्व के प्रभाव मे सातवें मे नीचे के गुणस्थानो मे भी आगम मे धर्मध्यान वताया है ।)

(पाठक देखेंगे कि भावसग्रहकार ने जहाँ छठवें गुणस्थान मे वास्तविक धर्मध्यान ही नही वताया है वहाँ विद्यानंद्याचार्य पूर्ण धर्मध्यान वताते है । इसी तरह भावसग्रहकार जहाँ पाँचवें गुणस्थान मे भी वास्तविक धर्मध्यान न वता कर भद्रध्यान आदि विभिन्न प्रकार के धर्मध्यान की कल्पना करते है वहाँ आचार्य विद्यानन्दि पाँचवे गुणस्थान मे भी थोडे रूप मे उसी धर्मध्यान को वताते है जो सातवें गुणस्थान में होता है । इस तरह विद्यानन्दिस्वामी के मत से भावसग्रहकार का मत मिलता नही है ।)

अगर श्रावक के धर्मध्यान न माना जाये तो चक्रवर्ती जैसी विभूति के धारी राजा भरत "घर मे ही वैरागी थे" यह कहावत कैसे घटित हो सकेगी । यह उनके गृहस्थाश्रम मे साधु हुए धर्मध्यान का ही प्रताप था जो दीक्षा लेने के अन्तर्मूहूर्त वाद ही उन्होने केवलज्ञान पा लिया । सम्यग्दृष्टि राजा श्रेणिक तो देशव्रती भी न थे फिर भी उनके ३३ सागर की नरकायु घटकर ८४ हजार वर्प प्रमाण ही रह गई, यह धर्मध्यान का

प्रभाव नही तो और किसका था ? धर्मध्यान के ही प्रताप से देशव्रती का उत्पाद शास्त्रो मे १६वा स्वर्ग तक लिखा है। पार्श्वनाथ चरित मे मरुभूति का जीव हाथी भी देशव्रत से १२वा स्वर्ग गया है।

[और जो भावसग्रहकार ने पूजादि क्रियाकाण्ड के प्रचार के उद्देश्य को लेकर एकान्तरूप से श्रावक के लिए पुण्य सम्पादनार्थ प्रवृत्ति मार्ग की मुख्यता बताकर पॉच अणुव्रत तीन गुणव्रत आदि देश चारित्र, स्वाध्याय सयम तप आदि निवृत्तिमार्ग की ओर उपेक्षावृत्ति दिखलाई है वह जैनधर्म की समीचीन नीति के ही नही अपितु प्राचीन आगम परम्परा के भी विरुद्ध है। आगम मे तो जो आचार्य प्रथम मुनि धर्म का उपदेश न देकर श्रावक धर्म का उपदेश देने लगता है तो वह भी दण्ड योग्य समझा गया है क्योकि पॉचवे गुणस्थान के वर्णन मे जो पद्धति भावसग्रह मे अपनाई है वैसी पद्धति प्राचीन देवसेनाचार्य की नही हो सकती है। क्योकि अमृत-चन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ मे ऐसा लिखते है—

जिनपुगवप्रवचने मुनीश्वराणा यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजा पदवी शक्ति च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥
इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमय विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिश निरत्यया मुक्तिमभिलषता ॥२०९॥

अर्थ—जिनेन्द्र के आगम मे मुनीश्वरो का जो आचार कहा है वह गृहस्थो को भी अपनी पदवी और शक्ति का विचार करके तदनुसार सेवन करना चाहिए। अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ को भी यह रत्नत्रय एकदेश रूप से प्रति समय निरन्तर पालते रहना चाहिए।

इस प्रकार भावसग्रह मे उसके कर्ता ने जिस मनोवृत्ति को लेकर पॉचवें गुणस्थान का वर्णन किया है उससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य उस समय उक्त क्रियाकाण्ड के प्रचार करने का था। इस प्रकार का क्रियाकाण्डी साहित्य का निर्माण बहुत करके १४वी सदी से शुरू हुआ है।

[मण्डलपूजा मे जयादि ८ देवियो, १६ विद्यादेवियो, २४ यक्षयक्षियो,

और ३२ इन्द्रो की स्थापना कर उनकी पूजा करने की जैसी पद्धति आशाधर, इन्द्रनन्दि, एकसधि आदि के क्रियाकाण्डी साहित्य मे पाई जाती है वैसी ही पद्धति इस भावसग्रह मे भी दृष्टिगोचर होती है। (देखो गाथा ४४९से४५४) इत्यादि कारणो से यह भावसग्रह'भी एकसधि आदि के आस-पास के समय मे ही रचा गया जान पडता है।

यहाँ हम पाठको को यह भी बतला देना चाहते है कि करीब ४० वर्ष पहिले यह भावसग्रह ग्रन्थ मूल गाथाबद्ध माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित हुआ था। उसकी प्राकृत गाथाओ की सस्कृत छाया प० पन्नालाल जी सोनी ने की थी। छाया करने मे कई जगह अशुद्धियाँ कर रक्खी है। अशुद्धियो के कुछ नमूने देखिये—

गाथा २४ सव्वस्सेण–सर्ववस्तुना। चाहिये 'सर्वस्वेन,

गाथा ३८२ जइणो–यतीना। चाहिये 'जैन ,

गाथा २०५ णिवदिय–वदिन । चाहिये'नृप द्विज,

गाथा २५० करयलाओ–करे लग्ना। चाहिये'करतलत ,

कुछ अरसे पहिले इस ग्रन्थ का प० लालारामजी शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद करके कुछ दातारो की सहायता से प्रकाशित कर इसे बिना मूल्य वितरण भी किया है। इसके पूर्व सस्करणमे सस्कृत छाया मे जो अशुद्धियाँ थी वे सभी प्राय इस प्रकाशन मे भी मौजूद है। उन अशुद्धियो से इसका हिन्दी अनुवाद भी जहाँ-तहाँ गलत हो गया है। अनुवाद की गलतियो मे से भी एक नमूना यहाँ पाठको की जानकारी के लिये दे देते है—

जीवो के शुभ, अशुभ, और शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के परिणाम होते है। गाथा ६वी मे कहा है कि–जो शुद्ध परिणाम कल्याण के कर्ता है वे तो सातवे गुणस्थान मे होते है। (यह गाथा इस लेख मे ऊपर उद्धृत हुई है) इसके आगे की गाथा इस प्रकार है—

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपाव मजणया।
ते पंच भावमिस्सा हो ति गुणट्ठाणमानेज्ज ॥७॥

अर्थ—"वाकी जो दो शुभ अशुभ भाव है वे पुण्य पाप के वन्ध करने वाले है इस प्रकार जीवो के तीनो परिणाम गुणस्थान को आश्रय करके औपशमिकादि पच भावो मे मिले रहते हे।" यह तो सही अर्थ है, किन्तु प० लालाराम जी ने इस के उत्तरार्द्ध का गलत अनुवाद इस प्रकार किया है—

"तथा वे दोनो ही शुभ अशुभ भाव औदयिक आदि पाँच भावो मे मिल कर गुणस्थानो के आश्रय मे रहते है।" हम अनुवादकजी से पूछते है कि आपने यहाँ औदयिक पांच भावो मे शुभ अशुभ दो ही भावो का मिलना कैसे वताया, शुद्ध भाव को क्यो छोड गये? शुद्ध भाव पचभावो से वाहर है क्या? फिर आप ही ने आगे गाथा ८ के भावार्थ मे शुभ अशुभ शुद्ध इन तीनो भावो को पचभावोमे गर्भित भी लिख दिया हे। दर असल वात यह है कि गाथा ७ की सस्कृत छाया जो पूर्व सस्करण मे अशुद्ध थी वही इस सस्करण मे भी है। उसी के आधार पर हिंदी मे अर्थ करने से यह गलती हुई है।

[इसी हिंदी टीका वाले सस्करण के पृष्ठ २९७ पर अनुवादकजी ने सूचना छपाई है कि—"वहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर मे कही भी इसका यत्र नही मिला जिससे इन पद्यो का अर्थ नही वेठा है।" अनुवादक की इस सूचना पर हमारा निवेदन है कि—यह कोई प्राचीन ग्रथ नही है जो इसमें लिखा यत्र दक्षिण उत्तर में कही न मिले। दरअसल आपके दिमाग मे यह प्राचीन ग्रथ जँचा हुआ हे इसीसे आपने अच्छी तरह तलाश नही किया है। हम वताये देते है कि इस यत्र का नाम त्रिलोकसार यत्र है और यह विद्यानुशासन पूजासारादि ग्रथो मे पाया जाता है। आप वहाँ देख सकते है।]

६—इस ग्रथमे दानके प्रकरण मे गाथा ५०५ से लेकर ५०८ तक जो कथन किया गया है वह भी खास विचारणीय है। वहाँ लिखा है कि—

"जो कुछ भी सिद्धान्तशास्त्र का विशिष्ट ज्ञाता हो और कुछ भी वाह्य अभ्यन्तर तप का धारी हो तथा दृढ ब्रह्मचारी हो वह वेदमय तपमय पात्र है ऐसा पात्र नियमत ससार से तारने वाला है।

इस कथन मे जो रहस्य छिपा हुआ है वह यह है कि—"वस्त्रधारी भट्टारको को उत्तम मध्यम जघन्य पात्रो मे से कौन सा पात्र माना जाये ? जैनागम मे जो इन पात्रो के लक्षण लिखे गये है उनके अनुसार तो प्राय. निष्परिग्रही नग्न मुनि उत्तम पात्र माने जाते है। तव वस्त्रधारी भट्टारको को कौन सा पात्र मानना चाहिये ? इसी प्रश्न का समाधान ऊपर के कथन मे किया गया है और उससे यह सूचित किया है कि वेदमय तपमय होने से वस्त्रधारी भट्टारक भी एक विशिष्ट पात्र है। इसीसे उनके लिए सिद्धातज्ञान, तप और ब्रह्मचर्य का होना तो वताया गया है किन्तु अपरिग्रही, निरारम्भी, नग्नलिगी होने का कथन नही किया है।

[जिस प्रकार भावसग्रहकार ने गृहस्थी के लिए भद्र-ध्यान और पचमकाल के हीनसहननी साधु के अधिक निर्जरा होने आदि का स्वच्छन्द कथन किया है। जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है। उसी प्रकार वेदमय तपमय पात्र की एक नई कल्पना यहाँ भी की है। इससे स्पष्ट है कि यह भावसग्रह भट्टारकी जमाने की रचना है।]

इसके अलावा एक वात यह भी है कि प्राचीन देवसेन ने दर्शनसार आराधनासार आदि छोटी छोटी रचनाएँ सूत्र रूप से की है और इसीसे उनकी रचनाओ के नामो के अन्त मे प्राय सार शब्द पाया जाता है। भावसग्रह सातसौ गाथाओ का एक वडा ग्रन्थ है अत वह उन प्राचीन देवसेन का नही है ऐसा प्रतिभासित होता है।

दूसरी वात यह है कि—आशाधर के वनाये टीका ग्रथो मे वहुत से उद्धरण ग्रथान्तरो के मिलते है। उनसे ग्रथकारो के समय निर्णय करने मे वडी मदद मिलती है। खास कर वे आचार ग्रथ जो आशाधर से पूर्व वन चुके थे उनमे से तो जहाँ तक मेरा खयाल है कोई भी ऐसा ग्रथ नही

बचा है जिसका कुछ न कुछ उल्लेख आशाधर ने अपने सागार अनगार धर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका मे न किया हो। आशाधर से पूर्ववर्ती आचारग्रथ ये थे—

"पुरुपार्थ सिद्धयुपाय, अमितगति श्रावकाचार, यशस्तिलक, रत्नकरड-श्रावकाचार, वसुनदि श्रावकाचार, आदि पुराणका जैन सस्कार प्रकरण, मूलाचार और उसकी आचारवृत्ति टीका, पद्मनदिपचविंशतिका, चारित्र-सार और रत्नकरडकी प्रभाचद्र टीका।"

जबकि आशाधर ने इन सब ग्रन्थोके उद्धरण लिये है तब क्या कारण है कि उन्होने भावसग्रह ग्रन्थ का एक भी उद्धरण नही लिया। जबकि उन्होने देवसेन के अन्य ग्रथ दर्शनसार आराधनासार के भी उद्धरण लिये है। आराधनासार पर तो उन्होने टीका भी लिखी है। कारण स्पष्ट है कि—आशाधरजी के वक्त तक भावसग्रह ग्रथ बना ही न था तब वे उसका उल्लेख कैसे करते। जिस प्रकार पूज्यपाद श्रावकाचार, उमास्वामी श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार। सावयधम्म दोहा, और शिवकोटिकी रत्नमाला आदि भी आचार के ग्रथ है किन्तु ये सब आशाधर से बाद के बने हुए है इसीसे इनका उल्लेख आशाधर के ग्रथो मे कही नही पाया जाता है। उसी प्रकार भावसग्रह ग्रथ भी आशाधरजी के बाद का बना हुआ है इसीसे उसका उल्लेख भी आशाधररचित ग्रन्थो मे नही मिलता है।

इस प्रकार जॉच करने से यह भावसग्रह ग्रथ निश्चय ही अर्वाचीन सिद्ध होता है। यह १०वी शताब्दी मे होने वाले देवसेन का न होकर १४वी शताब्दी मे होने वाले किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा रचा हुआ जान पडता है। सभवत यह उन देवसेन का भी हो सकता है जिन्होने अपभ्रशभापा मे सुलोचना चरित लिखा है। सुलोचना चरित की समाप्ति का समय श्रावण शुक्ला १४ बुधवार राक्षस सवत्सर दिया है। एक राक्षस सवत्सर वि० स० १३७२ मे भी पडता है। भावसग्रह का रचना समय हमने जो ऊपर १४वी शताब्दी अनुमान किया है उससे भी इसकी सगति बैठती है तथा सुलोचना-चरित के कर्ता ने अपने गुरु का

नाम विमलसेन लिखा है। भावसग्रहकार ने भी अपने गुरुका नाम विमलसेन लिखा है। एव भावसग्रह की रचना मे काफी तौर पर अपभ्र ग भापा के शव्द पाये जाते है। इन सव कारणो से सुलोचना-चरित्रकार और भावसग्रहकार दोनो का वहुत कुछ मेल वैठता है अत दोनो अभिन्न मालूम पडते है। [रहा सुलोचना-चरित्र मे देवसेन ने अपने गुरु विमलसेन का उल्लेख करते हुए उन्हे मलधारी लिखा जवकि भावसग्रह मे देवसेन ने उन्हे गणी लिखा है। इतने मात्र से दोनो की भिन्नता नही सिद्ध की जा सकती है। भिन्नता के लिए अन्य कोई पुष्ट प्रमाण होने चाहिए। हो सकता है कि विमलसेन के अनेक शिष्यो का सघ होने से वे गणी या गणधर कहलाते हो और मलधारी उनकी कोई उपाधि होने से वे मलधारी नाम से भी पुकारे जाते हो। इसलिए एक ही देवसेन ने अपने दो ग्रथो मे से एक मे तो अपने गुरु के नाम के साथ मलधारी शव्द का प्रयोग कर दिया हो और दूसरे मे गणधर शव्द का।) ये ही नही पिछले कई भट्टारको ने भी अपने को गण, गणधर और गणभृत् शव्द से उल्लिखित किया है। [और यह कहना कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन ने दर्शनसार और आराधनासार के मगलाचरण मे अपना नाम श्लेपरूप से ध्वनित किया है। वही पद्धति भावसग्रह मे भी अपनाई है इसलिए दर्शनसार और भावसग्रह के कर्ता दोनो एक है। इस हेतु मे भी कुछ सार नही है। क्योकि मगलाचरण मे श्लेप रूप से अपना नाम प्रकट करने की परिपाटी देवसेन की ही नही अन्य ग्रथकारो के ग्रथो मे भी देखी जाती है। हॉ, यह ठीक है कि भावसग्रह के कर्ता वे देवसेन नही है जिनको पाडवपुराण के कर्ता माथुरसघी यश कीर्ति ने अपनी गुरु-परम्परा की पाँचवी पीढी मे वताया है। भावसग्रह के कर्ता के लिए यह भी जरूरी नही है कि वह काष्ठासघी आदि कोई जैनाभासी ही हो। वह वैसा मूलसघी भी हो सकता है जैसे कि अन्य सहस्र भट्टारक अपने को मूलसघी लिखते है।)

भावसग्रह मे कई ऐसी गाथाएँ है जो निश्चयत अन्य ग्रथो की है और वे इसमे मूलका अग वनी हुई है। जैसे कि 'हिसार हिए धम्मे ..." गाथा। यह गाथा कुन्दकुन्दके मोक्ष पाहुड की है जो भावसग्रह मे २६२ वें नम्वर पर पायी जाती है। इसी तरह गोम्मटसार पचसगह आदि ग्रथो की भी इसमें कुछ गाथायें जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जवकि उपयुक्त जॉच से यह भावसग्रह आशाधर से वाद का वना सिद्ध हो जाता है तो इन गाथाओ के वावत कुछ विद्वानो की जो यह धारणा वनी हुई है कि गोम्मटसारादि ग्रन्थो मे ये गाथाये भावमग्रह से ली गई हैं वह धारणा गलत मिद्ध होती है। और अव यह कहना चाहिए कि गाथाये भावसग्रहकार ने ही उक्त ग्रन्थो से लेकर अपना ली है। इसी तरह इसमे वसुनदि-श्रावकाचार की भी कई गाथाये विना किसी उक्तच के पाई जाती है। जिनमें से "सकाइ दोसरहिय" आदि ६ गाथाये जो भावसग्रह में न० २७९ से २८४ तक पाई जाती है वे भी विशेष विचार करने से वस्तुत वसुनन्दि-श्रावकाचार की ही प्रतीत होती है। जो किसी तरह भावसग्रह मे प्रक्षिप्त हो गई हे। क्योकि प्रकरण को देखते हुए भावसग्रह मे इन गाथाओ की कुछ भी सगति वैठती नही है। अगर देवसेन को ऐसा कुछ कथन करना अभीष्ट होता तो वे प्रकरण सगत गाथा २६३ के आगे कर सकते थे। भावसग्रह की गाथा २७८ मे कहा है कि-"उन अर्हतो के द्वारा कहे हुए नवपदार्थ, पचास्तिकाय, और छह द्रव्यो का आज्ञा और अधिगम से श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है" इसके आगे नव पदार्थो आदि के नाम और उनके स्वरूप का वर्णन होना क्रम प्राप्त हैं किन्तु जो गाथा २८५ से शुरु होता है। इसलिए वीच की २७९ से २८४ तक की वे ६ गाथाये स्पष्टत अप्रासगिक नजर आती है। भावसग्रह के उस प्रकरण मे जवकि सम्यक्त्व के अगो के नाम तक भी नही है तो अगो मे प्रसिद्ध होने वालो की कथाओ का उल्लेख करना साफ ही असवद्ध मालूम देता है। किन्तु वसुनदि श्रावकाचार मे इन

गाथाओ का होना सगत मालूम देता है। वसुनदि ने अपने इस श्रावकाचार मे जहाँ सप्त व्यसनो का वर्णन किया है वहाँ भी गाथा १२५ से १३३ तक मे व्यसनो की कथाओ का उल्लेख किया है। यही नही गाथा ३४८–३४९ मे वैयावृत्य का फल पाने वाले वसुदेव और श्रीकृष्ण के भी नाम लिखे है। उसी तरह सम्यक्त्व के अगसम्बन्धी कथाओ का उल्लेख करना वसुनदिकी कथन शैली को प्रकट करता है। इससे वे गाथाये वसुनदि श्रावकाचार की ही हो सकती है ऐसा मानने को बाध्य होना पडता है। इसलिए वसुनदि श्रावकाचार की कोई एक हस्तलिखित प्रति मे इन गाथाओ को "उक्तच भावसग्रहात्" वाक्य के साथ लिख देना अवश्य ही किसी गलती का परिणाम है। इस गलती की पुष्टि इस बात से भी होती है कि वसुनदि श्रावकाचार मे ग्रथ भर मे कही भी उक्तच का नाम निशान नही है। उक्तच की यह प्रणाली तो अधिकतया भावसग्रह मे ही नजर आती है जो उसकी कई हस्तलिखित प्रतियो से सिद्ध है। तथा और भी विचारने का विषय है कि प० आशाधरजी ने वसुनदि श्रावकाचार के कई उद्धरण लिये है इससे कह सकते है कि उन्होने वसुनदि श्रावकाचार को अच्छी तरह से देखा है तो विवादस्थ उक्त छहगाथाओ के पूर्व मे लिखा "उक्तंच भावसग्रहात्" वाक्य भी आशाधरजी की नजर मे गुजरा होगा तब यह स्वाभाविक है कि उनकी इच्छा भावसग्रह ग्रथ को देखने की भी हुई ही होगी और वे उसे भी प्राप्त कर देखे होगे। यदि यह सब हुआ हो तो आशाधर के साहित्य मे भावसग्रह के उद्धरण भी मिलते। किन्तु आशाधरजी का तो जितना भी साहित्य इस समय उपलब्ध है उसमे तो कही भी भावसग्रह की कोई गाथा उक्तच रूप से लिखी नही मिलती है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि— वसुनदि श्रावकाचार की प्रति मे आशाधरजी के वक्त भी उन ६ गाथाओ के साथ "उक्तच भावसग्रहात्" वाक्य नही था और हो भी कैसे जबकि भावसग्रह ग्रथ आशाधरजी से पहिले बना ही न था। यह तो मानने मे

नही आता कि जानकारी होते भी आशाधरजी उसे न प्राप्त करे या उन्हे वह न मिल सके।

यदि ऐसा कहा जाये कि "अगर ये गाथायें भावसग्रह की न होकर वसुनदि श्रावकाचार की है तो भावसग्रह मे इनका उल्लेख उक्तच रूप से क्यो नही है?" तो इसका उत्तर यह है कि—ये ही क्या वसुनदि-श्रावकाचार की तो अन्य भी गाथाये इसमे विना उक्तच के मिलती है। इसी तरह अन्य ग्रन्थो की भी गाथाएँ इन मे मिलती है। इसकी गाथा न० २६२ को देखिये जो इसमे मूल का अग वनी हुई है। दर असल यह गाथा मोक्षपाहुड की है जो वहाँ ९० नम्वर पर पायी जाती है। तथा भावसग्रह की हस्तलिखित प्रतियो की हालत पर जव हम विचार करते है तो माणिकचन्द ग्रन्थमाला मे जो भावसग्रह छपा है उनमे एक प्रति तो स० १५५८ की लिखी हुई है और दूसरी स० १६२७ की लिखी है। किन्तु दोनो प्रतियो मे वडा ही अन्तर है। स० १६२७ प्रति मे ग्रन्थान्तरो के वहुत से उद्धरण है किन्तु स० १५५८ की प्रति मे उतने उद्धरण नही है। इन प्रतियो के अलावा ए० प० सरस्वती भवन झालरापाटन की एक और प्रति जो स—१४८८ की लिखी हुई है उसमें भी प्राय ग्रन्थान्तरो के उतने ही उद्धरण मिलते है जितने कि स० १६२७ की उक्त प्रति मे पाये जाते है। इन उद्धरणो मे और तो क्या सस्कृत भावसग्रह तक के उद्धरण मौजूद है। विद्वानो का खयाल है कि सस्कृत भावसग्रह की रचना वहुत करके प्राकृत भावसग्रह के आशय को लेकर की गई है। ऐसी हालत मे उद्धरणो से विद्वानो ने यही फलितार्थ निकाला है कि ये उद्धरण मूल ग्रन्थकार के द्वारा उद्धृत नही हुये है। किन्तु किसी स्वाध्याय-शील व्यक्ति ने भावसग्रह की प्रति के हासिये पर लिख दिये थे जो आगे चल कर प्रतिलिपिकार ने नासमझी से उन्हे मूल के साथ नकल कर दिये है। अगर यही वात ठीक है तो वसुनदिश्रावकाचार की वे विवादस्थ ६ गाथाये भी हाँसिये पर से उठ कर मूल मे शामिल हो गयी हो ऐसा क्यो

नही माना जा सकता है ? इसी से तो उनकी स्थिति भावसग्रह के प्रकरण से नही मिलती है और जबकि सस्कृत का भावसग्रह प्राकृत भावसग्रह से अनुवादित है और सस्कृतके भावसग्रह मे सम्यक्त्व के आठ अगो का वर्णन होते हुये भी उसमे अङ्ग प्रसिद्ध कथाओ का जिकर नही है। इससे क्या यह सिद्ध नही होता कि सस्कृत भावसग्रह के कर्त्ता वामदेव के वक्त भी प्राकृत के भावसग्रह मे वे ६ गाथाये नही थी। उसमे वे बाद मे प्रक्षिप्त हुई है।]

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि स० १५५८ की लिखित प्रति मे यशस्तिलक चम्पू, सस्कृत भावसग्रह आदि के उद्धरण न होने से इसे ही देवसेन की मूल कृति मान ली जाय सो ऐसा भी नही है। इस प्रति मे भी थोडे बहुत हाँसिये के उद्धरण जरूरी मूलमे शामिल हुये है। इसके लिये देखिये भावसग्रह का ५१६वे नम्बर का दोहा। यह दोहा सावयधम्म पुस्तक का है जो अपभ्र श भाषा मे और यहाँ बिना किसी उक्तच के मूल के साथ शामिल हो रक्खा है। सावयधम्म के उद्धरण १६वी शताब्दी के पहिले के ग्रन्थो मे नही देखे जाते है और उक्त दोहा भावसग्रह की सवत् १४८८ की लिखी झालरापाटन की प्रति मे भी नही है, जबकि अन्य सबही उद्धरण उसमे भी लिखे मिलते है। इत्यादि कारणो से सावयधम्मका रचना काल बहुत आधुनिक मालूम होता है।

सर्वथा यह भी न समझना कि भावसग्रह मे सब ही उद्धरण हासिये पर से ही मूल मे शामिल हो गये है। बल्कि इनमे से कितने ही उद्धरण मूल ग्रथकार के द्वारा भी उद्धृत हो सकते है। जैसा कि वसुनदि श्रावकाचार की कई गाथाओ को इसमे उद्धृत मिलने से जाना जा सकता है। इन गाथाओ मे से कुछ गाथाये तो ज्यो की त्यो ले ली गई है और कुछ गाथाये मामूली हेर फेर करके उद्धृत की है। ऐसी गाथाओ की तालिका ज्ञानपीठ से प्रकाशित वसुनदि श्रावकाचार की प्रस्तावना मे देख सकते है। हेर फेर की हुई गाथाओ से तो यही निश्चय होता है कि खुद भाव-

सग्रहकार ने ही वसुनदि गाथाये अपनाई है। "वसुनदि ने ही भावसग्रह की गाथाओ को अपनाया हो" ऐसी सम्भावना नही की जा सकती है। इसके लिये उदाहरण स्वरूप हम एक गाथा पेश करते है—

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाण जो देइ उत्तमे पत्ते।
तस्स फलेणुववज्जइ उत्तमभोयभूमीसु ॥२४५॥

यह गाथा वसुनदि श्रावकाचार की है। इसमे लिखा है कि—जो मिथ्या दृष्टि भद्र (मदकषायी) पुरुप उत्तमपात्रो को दान देता है उसके फल से वह उत्तम भोगभूमियो मे उत्पन्न होता है।" इसी गाथा को कुछ रद्दो-वदल करके भावसग्रह मे निम्नरूप से लिखी है

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाण जो देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावइ वरभोए फुडु उत्तमभोयभूमीसु ॥४९९॥

वसुनदि की उक्त गाथा के प्रथम चरण मे आये "भद्दो शव्द की जगह भावसग्रह मे 'पुरिसो' शव्द मे तवदीली तो कर दी परन्तु पुरिसो शव्द मे अर्थ की वह खूवी न आ सकी जो भद्दो शव्द मे थी। इससे साफ प्रमाणित होता है कि भावसग्रहकार के द्वारा ही वसुनदि की गाथाओ मे हेरफेर किया गया है।

भावसग्रह की ऐसी स्थिति को देखते हुए न्यायकुमुदचद्र के पृष्ठ ८५६ पर "पड्विधो हि आहार प्रवचने प्रसिद्ध" वाक्य के साथ "णोकम्मकम्महारो" गाथा उद्धृत हुई है। वही गाथा भावसग्रह मे ११०वे नम्बर पर स्थित है। वह गाथा भी खास भावसग्रह की नही प्रतीत होती। वह किसी अन्य प्राचीन आगम की जान पडती है। और वही से प्रभाचद्र ने न्यायकुमुदचद्र मे उद्धृत की है न कि भावसग्रह पर से।

"मतना कोई उत्सूत्र कथन हो जाये" इस वातका प्राचीनकाल मे वडा भय रहता था। इसीसे प्रखरवुद्धिवाले निर्मल आचार के धारी कोई वडे आचार्य ही शास्त्र निर्माण का कार्य करते थे। यह नियत्रण आगे चलकर धीरे-धीरे लुप्त होता चला गया, फिर तो वस्त्रधारी भट्टारक ही

नही गृहस्थी भी इस काम के अधिकारी बन बैठे। प्राय १३वी शताब्दी और उसके बाद मे तो साधुओ के शिथिलाचार और श्रावको के क्रियाकाण्ड को लेकर कतिपय शास्त्रो में जिस स्वच्छदता से कथन किया गया है। उस स्वच्छदता के दर्शन इस भावसग्रह मे भी होते है। ऐसा इसके अध्ययन से सहज ही जाना जा सकता है। (एक श्रेष्ठ आचार्य की रचना जैसी व्यवस्थित, सारगर्भित, पुनरुक्ति-पूर्वापर विरुद्धता आदि दोषो से रहित, प्राचीन ग्रन्थपरम्परा की अनुगामिनी होती है वैसी रचना इस भावसग्रह की दिखाई नही देती है। और तो क्या "भावसग्रह" इस नाम के अनुरूप औपशमिकादि भावो के लक्षण और उनके उपभेदो के नाम तक भी इसमे नही है।)

इस प्रकार के ऊहापोह से मुझे यह भावसग्रह प्राकृत ग्रन्थ १०वी शताब्दी मे होने वाले देवसेन के द्वारा निर्मित नही प्रतीत होता है। किन्तु किसी अन्य ही देवसेन के द्वारा १४वी शताब्दी के लगभग का बना जचता है। मेरे ये विचार कहा तक ठीक है इस पर विद्वज्जन ध्यान देगे।



जयसेन प्रतिष्ठापाठ की प्रतिष्ठाविधि का अशुद्ध प्रचार

जव से स्व० व्र० शीतलप्रसाद जी ने इस जयसेन प्रतिष्ठापाठ को आधार वनाकर उसमें कही-कही नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के कुछ अशो का समावेश करके तथा कुछ वाते अपनी तरफ से और मिलाकर एक नये प्रतिष्ठापाठ ग्रन्थ का प्रकाशन किया है तव से वहुत करके उसी के आधार से कई विम्वप्रतिष्ठाये हुई है और हो रही है। उसमे उन्होने याग मण्डल पूजा आदि कुछ प्रकरणो को हिन्दी छन्दो मे भी लिख दिया है। जिससे उनका उपयोग हिन्दी के ज्ञाता भी गा-वजाकर कर लेते है, साथ ही उन्होने उसमे पचकल्याणको के दृश्य ऐसे नाटकीय ढग से लिखे है कि तदनुसार दृश्य दिखा देने से साधारण जनता का खूव मनोरजन होता है, फलत दर्शक लोग अधिक सख्या मे एकत्रित होते है और मेले की रौनक बढ जाती है उससे धन खर्च करने वाला यजमान भी अपने को धन्य समझने लगता है और उससे प्रतिष्ठाचार्य की भी महिमा वढ जाती है। अगर कोई प्रतिष्ठाचार्य इस ढग से काम न करे तो उसकी प्रतिष्ठा लोगो को फीकी-फीकी सी प्रतीत होती है, लोगो को मजा नही आता इससे प्रतिष्ठापक का दिल भी मुरझा जाता है और विचारे वैसे प्रतिष्ठाचार्य को तो आयदे किसी किसी प्रतिष्ठा मे वुलाना भी कोई नही चाहता है। उधर नाटकीय ढग से प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्यो की भी अव कोई कमी नही रही है और न रहेगी, क्योकि स्व० व्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठा की सव विधि हिन्दी मे लिख दी है। अत अव तो इसके लिये सस्कृत भाषा के ज्ञान होने की भी ऐसी कोई खास जरूरत नही रही है और न किसी गुरु की खुशामद की। एक दो नाटकीय ढग की प्रतिष्ठा व्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ से करा दीजिए, नाम हो जायेगा, फिर तो जगह-जगह से निमन्त्रण ही निमन्त्रण है।

प्रतिष्ठाचार्य का पद एक बडा सम्मानका पद है और इसको कोई-कोई तो अर्थोपार्जन का साधन भी बना लेते है। इस पद की प्राप्ति के लिए कई सस्कृत के अच्छे-अच्छे पण्डित भटकते थे। अब ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ की बदौलत उनको भी भटकने की जरूरत नही रही है। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि प्रतिष्ठाचार्य का पद जितना ही गौरव-पूर्ण है उतना ही वह भारी जोखम का भी है। जो प्रतिष्ठाचार्य अन्टसन्ट प्रतिष्ठाविधि करते है वे अपना बहुत ही अहित कर रहे है। धातु पाषाण की निराकार मूर्ति मे जिनेन्द्र की प्रतिष्ठा करना कोई हँसी खेल नही है। प्रतिष्ठा जैसे गुरुतर कार्य के लिए पल्लवग्राही पाण्डित्य से काम नही चला करता है। इसके लिये मन्त्र, तन्त्र, वास्तुविद्या, शकुन, निमित्तज्ञान, ज्योतिष आदि विविध विषयो का परिज्ञान होना चाहिये। साथ ही प्रतिष्ठाचार्य खुद भी जितेन्द्री, सुलक्षण, सदाचारी, देशकाल का ज्ञाता, नम्र, मन्दकषायी, देव-शास्त्र-गुरु का अनन्य भक्त, मान्य, प्रभावक आदि लक्षणो का धारी होना चाहिये। इसी वजह से पुराने जमाने मे दूर-दूर तक कोई विरले ही प्रतिष्ठाचार्य मिलते थे। आज की तरह वे सुलभ नही थे। उस वक्त के प्रतिष्ठापक-यजमान भी विचारवान् होते थे। वे भी ऐसे ही प्रतिष्ठाचार्यो से प्रतिष्ठा विधि कराना योग्य समझते थे और उन्हे बडे ही आदर-मान से लाते थे। उस आदर-सन्मान का वर्णन प्रतिष्ठा शास्त्रो मे भी लिखा मिलता है।

(ब्रह्मचारी जी के इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी कुछ ऐसे कथन भी मिलते है जो न तो जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे है और न अन्य किसी प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे ही। केवल ब्रह्मचारी जी के प्रतिष्ठा ग्रन्थ मे लिखे होने से ही इदानी उनका प्रचार हो रहा है। नीचे हम इसी का दिग्दर्शन कराते है—यहाँ हम उन्ही अशुद्धियो पर विचार करते है जो खास प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती है।)

१—पृ० १४१ मे मुख वस्त्र विधिका वर्णन करते हुए ब्रह्मचारी जी ने लिखा है कि—"एक शुद्ध वस्त्र मे सात प्रकार का अनाज बाँधकर प्रतिमा

के मुखपर ढक कर लपेट दे। तथा आगे जौ की माला रख दे।" एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठाचार्य को थोडे अरसे पहले एक प्रतिष्ठा महोत्सव मे हमने इसी तरह करते देखा है। किन्तु जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे जहाँ यह विधि लिखी है वहाँ के विवेचन से तो ऐसा अर्थ कदापि नही निकलता। वहाँ जैसा कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

नूत्न निरावृतिचमत्कृतिकारि तेजो,
नो शक्यमीक्षितवतामपि भावुकानाम्।
इत्येवमर्पितनयानयनेन शंभो-
रग्रे मुखाग्रमहवस्त्रमुपाकरोमि ॥८५५॥

इसकी वचनिका इस प्रकार की है—

"अरु नवीन और निरावरणता का चमत्कार करने वाला प्रभु का तेज है सो देखने वारे भव्यनिकू शक्य नही है। ऐसे या प्रकार अर्पितनयका अवलम्बन करि श्री भगवान का मुख के अग्रभाग मे वस्त्र से परदा करूँ हूँ।"

"ओ ह्री अर्हते सर्वशरीरावस्थिताय समदनफल सप्तधान्ययुत मुखवस्त्र ददामि स्वाहा।" इति मुखाग्रे वस्त्रयवनिका दत्वा यवमालावलय जिनपादाग्रत स्थापयेत्।' अर्थात् "ओ ह्री अर्हते मुखवस्त्र ददामि स्वाहा" इस मन्त्र को बोलकर भगवान् के मुँह के आगे वस्त्र का परदा देकर जवमाला को जिनचरण के आगे रक्खे। यहाँ वचनिकाकार ने और भी स्पष्ट किया है—

"ऐसे मुखवस्त्र अग्ररोपण। अर मुखनाम अग्रभाग का है ताते बिम्ब के आडा एक परदा भगवान् को आड देना ऐसा अभिप्राय है। इसहीकूं मूलपाठ मे "यवनिका दत्वा" ऐसा कहा है।"

(आगे श्लोक ८६६ मे भी इस मुखवस्त्र को हटानेका का कथन करते हुये "यवनी दूरमुदयेत" पाठ दिया है जिसका अर्थ होता है "वस्त्र की यवनिका को दूर कर दे।" यहाँ "यवनी" शब्द से परदा ही बताया है।

ब्रह्मचारी जी ने जो सात प्रकार के अनाज की पोटली को प्रतिमा के मुख पर बांधने को कहा है सो ऐसा कथन ऊपर लिखे मन्त्रो मे "सप्तधान्ययुत मुखवस्त्र" वाक्य मे सप्तधान्य को मुखवस्त्र का विशेषण समझ लेने की भूल मे हुआ है। तथा इस मन्त्र के "समदनफल" वाक्य का तो अर्थ ही ब्रह्मचारी जी साफ उड़ा गये हैं। दरअसल इस मन्त्र मे केवल तीन क्रियाओ का सकेतमात्र किया है — यवमाला, सप्तधान्य का स्थापन, और मुखवस्त्र प्रदान। इन तीनो क्रियाओ की प्रयोग विधि अलग लिख दी है। यही मत्र इसी रूप मे आशाधर प्रतिष्ठापाठ पत्र १०९ मे लिखकर उसकी प्रयोग विधि वहां इस प्रकार बताई है—

"मुखवस्त्रदानपूर्वक यवमालामारोप्य जिनस्य पादाग्रत सप्तधान्यान्युपहरेत्।" अर्थात् पहिले मुखवस्त्र देकर फिर यवमाला का आरोपण करे और फिर जिनचरणोके आगे सप्तधान्य भेट करे। आशाधर जी ने यहाँ मदन फल (मैणफल) को यवमाला के साथ लगाने को कहा है जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रगट है—

भक्तर्द्धिवृद्धिकृदनुक्षणभाविशर्म-
नपत्फलामितगुणावलिमुद्गिरत्या।
राठर्द्धिवृद्धियवमालिकयार्चितोऽर्हन्
गो सप्तधान्यकमदोर्हतु सप्तभगीम् ॥—अध्याय ४–१६२ ॥

अर्थ—क्षण भर के बाद होने वाली सुख-सपदा के फलो की प्रचुर गुणावली को बतलाने वाली, और मदनफल व ऋद्धि-वृद्धि (ये दोनो जड़ी बूटियाँ हैं) युक्त ऐसी जवमाला से जो पूजे गये हैं और जो भक्तो की ऋद्धि-वृद्धि के करने वाले हैं ऐसे अर्हत भगवान् सप्तधान्यरूपी वाणी की सप्तभगी को प्राप्त होवे। अर्थात् उनके आगे भेंट किये सप्तधान्य मानो उनकी वाणी के सप्तभंग रूप होओ।

नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ पृ० ५६३ मे मुखवस्त्र के लिए ऐसा लिखा है— "मुखवस्त्रमेव कुर्यात् वेदिकायामतर्गृहे च।" मुखवस्त्र ऐसा करे—वेदी पर

और भीतरी गृह पर। यहाँ भी मुखवस्त्र का अर्थ परदा ही व्यक्त किया है। वह परदा वेदी और निजमदिर (गर्भ गृह) दोनो पर होना चाहिए। नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के पूजामुख प्रकरण मे लिखा है कि—प्रभात ही जिन-मदिर जावे तो मदिर के किवाड खोल कर परदा हटाकर भगवान् के दर्शन करे ऐसा वर्णन करते हुये "उद्घाटयवदनवस्त्र" इत्यादि श्लोक लिखा है। इसमे भी 'मुखवस्त्र' शब्द का प्रयोग परदा के अर्थ मे किया है।

और ऊपर उद्धृत जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के श्लोक मे भी जिस उत्प्रेक्षा से कथन किया है उससे भी 'मुखवस्त्र' का भाव परदा करना ही झलकता है। यहाँ भी समझना चाहिए कि—तिलकदान के बाद मूर्ति को अष्टद्रव्य मे पूजा लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि तिलकदान-विधि के बाद ही मूर्ति पूजनीय होती है। पूजनीय मूर्ति के अग मुख पर कपडा लपेटना अयुक्त है। इसी ख्याल से तो जयसेन ने तिलकदान के बाद अधिवासना विधि मे बिंब के ककण बाँधने का कथन नही किया है यह एक खास ध्यान देने योग्य बात है।

इसलिए ब्रह्मचारी जी ने जो मुखवस्त्र विधि मे सातधान्यो को वस्त्र मे बाँधकर उससे प्रतिमा के मुख को लपेटना लिखा है और उसी के मुताबिक आजकल के प्रतिष्ठाचार्य जो विधि करते है वैसा विधान जयसेन प्रतिष्ठा पाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठाग्रथ मे नही है। यह हम ऊपर बता चुके है।

२—पृष्ठ १४२ पर ब्रह्मचारी जी ने नयनोन्मीलन क्रिया की विधि इस प्रकार लिखी है ["एक रकाबी मे कपूर जलाकर सुवर्ण की सलाई को रक्खे। और 'सोह' मन्त्र को ध्याता हुआ १०८ दफे "ओ ह्री श्री अर्ह नम" मन्त्र पढे। फिर निम्नलिखित श्लोक व मन्त्र पढकर नेत्र मे सलाई फेरे।"] ब्रह्मचारी जी के इस कथन का यही आशय है कि कपूर के काजल को सलाई मे लेकर उसको भगवान् की आँखो मे आँजे। किन्तु इस प्रकार का कथन जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे तो क्या अन्य किसी भी प्रतिष्ठा पाठ मे नही है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ यह कथन दो जगह आया है पृ० १३२ पर और २८४

पर। पृ० १३२ पर मूल मे जो लिखा है उसकी वचनिका ऐसी है—

"सुवर्णगलाका करि कुकुमकरि (नेत्रोन्मीलनयत्र को) लिखि, लवग अर रक्त पुष्पनिकरि 'ओ ह्री श्री अर्हं नम" ऐसा मत्र एकसौ आठ वार जपि चाँदी के पात्र मे मिश्री दूध घृत स्थापनकरि तिह गध करि सुवर्ण-शलाका करि मूर्ति के नेत्र मे फेरि इन्द्र है सो पूरकनाडी वहता नेत्रो-द्घाटन करे।

[पृ० २८४ पर ऐसा लिखा है—"तदनतरमेव रुक्मपात्रस्थितकपूर्र-युक्तसुवर्णशलाका दक्षिणपाणौ विधृत्य 'सोह स' इति ध्यायन्नाचार्यो नयनोन्मीलनयत्रं प्रदर्श्य श्लोकमिम पठेत्।" आगे श्लोक और मत्र लिख-कर फिर लिखा है—"इति स्वर्णशलाकया नेत्रोन्मीलन कुर्यात्।"] इसकी वचनिका नही की है। अर्थ इसका यह है—मुखोद्घाटन के वाद ही सोने के पात्र मे रखे कर्पूरादि गधद्रव्य से युक्त की हुई सुवर्णशलाका को दक्षिण हाथ मे लेकर "सोह स" का ध्यान करता हुआ आचार्य नयनोन्मीलनयत्र को दिखा कर आगे लिखे श्लोक और मत्र को पढे और सोने की शलाका से नेत्रोन्मीलन करे।" (पृ० १३२ की वचनिका में लिखे "तिह गधकरि सुवर्णशलाकाकरि" इस वाक्य से भी यही वताया है कि जिस कुकुमादिगध से नेत्रोन्मीलन मत्र लिखा गया है उस गध को सलाई मे लेकर नेत्र में फेरे। इसीसे वहुत कुछ मिलता-जुलता कथन नेमिचन्द्र-प्रतिष्ठापाठ पृ० ५५८ और ५७४ में लिखा है। वहाँ देख सकते है।)

इस विपय मे आशाधर जी ने अपने प्रतिष्ठापाठ के चौथे अध्याय मे इस प्रकार लिखा है—

येनोन्मील्य समस्तवस्तुविशदोद्भासोद्भट केवल-
ज्ञान नेत्रमदर्शि मुक्तिपदवी भव्यात्मनामन्यथा।
तस्यात्रार्जुनभाजनार्पितसिताक्षीराज्यकर्प्रयुक्—
वक्त्रस्वर्णशलाकया प्रतिकृतौ कुर्वे दृगुन्मीलनम् ॥१८४॥

अर्थ—समस्त पदार्थो को स्पष्ट देखने की है उदभटता जिसमे ऐसे

केवलज्ञानरूप नेत्र को खोलकर जिन्होने भव्यजीवो को वाधारहित मुक्ति पदवी दिखाई उस भगवान् की प्रतिमा में यहाँ चाँदी के पात्र मे रक्खे मिश्री, दूध, घृत, कपूर इनमे सोने की सलाई का अग्रभाग डुबोकर उससे नेत्र खोलता हूँ।

इस प्रकार जयसेन प्रतिष्ठापाठ आदि किसी भी प्रतिष्ठापाठ मे कपूर जलाकर उसके काजल से नेत्रोन्मीलन करना नही लिखा है। न मालूम ब्र० शीतलप्रसाद जी ने ऐमा कथन किस आधार पर किया है ? अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठाचार्य ब्रह्मचारी जी की इसी विधि से काम करते आ रहे है। इस अशा-स्त्रीय विधि से अव तक सैकडो प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा हो चुकी है।

ब्रह्मचारी जी तो इस विधान मे आये मिश्री घृत दूध आदि का भी कोई उल्लेख नही करते है। ब्रह्मचारी जी ने तो जो कुछ उनकी समझ में आया सो लिख दिया, किन्तु इन प्रतिष्ठाचार्यो का तो कर्तव्य था कि जिन शास्त्रो के आधार पर से ब्रह्मचारी जी ने प्रतिष्ठाग्रन्थ लिखा है उनसे इसका मिलान करके यथार्थता का पता लगाते।

३—पृष्ठ १३४ पर भगवान् को आहार देने का वर्णन करते हुए जो मूर्ति को मस्तक पर धरकर आचार्य का आहार के लिये जाना, काल्पनिक राजा सोम और श्रेयास का अपनी रानियो को साथ मे लेकर उन्हे पडगाहना आदि कथन किया हे सो ऐसा नाटकीय ढग तो ब्रह्मचारी जी के इस सारे ही प्रतिष्ठापाठ मे पाया जाता है किन्तु इस नाटकीय ढग की धुन मे भगवान् के हाथ मे जो इक्षु रस की धारा डालने की वात कही है वह जयसेन प्रतिष्ठापाठ के अनुकूल नही है। एक प्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठा-चार्य जी ने भगवान् के आहारदान की जो विधि कराई थी वह भी सुन लीजिये—अनेक व्यजनो से भरा थाल प्रतिमा जी के सामने रखकर उसमे से अनेक नरनारी वारी-वारी से आकर भोजन का ग्रास वना वना कर प्रतिमा के हाथो पर ही नही मुँह पर रखते जाते थे। यह हमारा आँखो

देखा हाल है। धन्य है इन प्रतिष्ठाचार्यो की लीलाओ को। नाटकीय ढग की भी तो कोई हद होनी चाहिए।

भगवान् के आहारदान के विषय मे जयसेन प्रतिष्ठापाठ मे जैसा कुछ लिखा है उसे देखिए—

तत्रोपवास मघवा तथार्यो यज्वा शची चान्यमहे नियुक्ता।
विदध्युरुर्ध्वे विधिना हि मध्यदिने जिनाग्रे चरुपूजनानि ॥८४२॥
तदैव पञ्चाद्भुतवृष्टिरग्रे बिंबस्य पुष्पांजलिना समेता।
योज्या ध्वनिं तूर्यगणैर्विधाय भुंजीयुरन्यानपि भोजयित्वा ॥८४३॥

अर्थ—भगवान् के उस दीक्षादिन मे इन्द्र, आर्य-यजमान, इन्द्राणी और अन्य पुजारी उपवास रक्खे। अगले दिन के मध्याह्न मे विधि के साथ भगवान् के आगे नैवेद्य भेट करे और तब ही बिंब के आगे पुष्पांजलि के साथ पचाश्चर्यो की वर्षा करे और अनेक बाजे बजवा कर इन्द्रादि आप पारणा करे तथा अन्य साधर्मी जनो को भी जिमावे।

यहाँ भगवान् का आहार करने का भाव दिखाने को प्रतिमा के आगे नैवेद्य भेट करना मात्र लिखा है। अत प्रतिमा के हाथ मे आहार धरना योग्य नही है।

ब्रह्मचारी जी ने भगवान् के उक्त आहारदान के प्रकरण मे प्रतिमा जी को पडगाहकर उनकी दातार के द्वारा अष्टद्रव्य से पूजा करने को भी लिखा है सो यह भी अयुक्त है। इस प्रकार का विधान लिखने का इस प्रकरण को नाटकीय ढग का रूप देने से हुआ प्रतीत होता है वर्ना प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे तो ऐसा कुछ लिखा नही है। अभी तो प्रतिमा की तिलक दान विधि ही नही हुई, तो उसके पहले उसकी अष्टद्रव्य से पूजा कैसे की जा सकती है। माना कि इस वक्त भगवान् मुनि अवस्था मे है पर यहाँ साक्षात् भगवान् तो नही है यहाँ तो उनकी मूर्ति है। अष्टद्रव्य से पूजने के योग्य मूर्ति प्रतिष्ठाविधि मे कब होती है यह तो विचार करना ही पडेगा। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे भी पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि के बाद

"अत्राष्टक देय" वाक्य देकर तिलकदान के वाद ही अष्टद्रव्य से पूजा करना बताया है। यही पर वचनिकाकार ने तिलकदान को प्रतिष्ठा का मुख्य कार्य बताया है। अर्थात् तिलकदान यह प्रतिष्ठा की मुख्य क्रिया-विधि है। इसके पहले मूर्ति की अष्टद्रव्य से पूजा नही हो सकती है। इसी तिलकदान विधि मे अत्रावतरावतर आदि आह्वानादि मन्त्रो का प्रयोग कर भगवान को मूर्ति मे स्थापन करने की भावना की जाती है। आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठापाठ पत्र १०८ मे तिलकदान विधि के हो चुकने वाद ही "तत्काल प्रतिष्ठितार्हत्प्रतिमा नमस्कुर्यात्" ऐसा लिखा है। अर्थात् उसी समय प्रतिष्ठित हुई अर्हंतप्रतिमा को नमस्कार करे।

विंव प्रतिष्ठा मे तिलकदान विधि कितनी मुख्य और महत्त्व की है इसके लिए आशाधर जी अपने प्रतिष्ठापाठ अध्याय ४ मे लिखते है कि—

द्रव्यै स्वै सुनयार्जितैर्जिनपते बिंव स्थिर वा चल
ये निर्माप्य यथागम सुदृपदाद्यात्मात्मनान्येन वा।
लग्ने वल्गुनि लभयति तिलक पश्यति भक्त्या च ये
ते सर्वेऽपि महोदयातमुदय भव्या लभन्तेऽद्भुतम् ॥५॥

अर्थ—न्यायोपार्जित स्वद्रव्य से जो शास्त्रानुसार उत्तम पाषाण आदि की स्थिर व चल जिनप्रतिमा को बनाकर अपने या प्रतिष्ठाचार्य के द्वारा उत्तम लग्न मे तिलकविधि करते है और उस विधि को जो भक्ति से देखते है वे सब ही भव्य जीव महोदयात कहिये मोक्ष है अन्त मे जिसके ऐसे अद्भुत उदय को—अहमिंद्रादि पद को प्राप्त होते है।

मुद्रित जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे अशुद्धियाँ

आगे हम छपा हुआ जयसेन प्रतिष्ठापाठ जो इस वक्त प्रचार मे आ रहा है उसके वावत लिखते है—

आज से ३६ वर्ष पहले इस पाठ को सेठ हीराचन्द जी नेमीचन्द जी दोशी सोलापुर वालो ने छपाया था। इसके यागमण्डल पूजाविधान मे

अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थो की तरह रागी द्वेषी देवो की कतई आराधना नही है। उसमे पंच परमेष्ठी सम्बन्धी पूजाविधान लिखा है। अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ इसमे देव शास्त्र गुरु की ही आराधना लिखी है तथा इसमे अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थो की तरह किसी भी विधान मे गोमय गोमूत्र का उपयोग नही किया है इत्यादि कारणो से यह प्रतिष्ठा पाठ अपनी खास विशेषता रखता है और अधिकतया श्रद्धा का पात्र बना हुआ है। किन्तु इस प्रतिष्ठा पाठ मे कही-कही हमे अशुद्धियाँ नजर आती है। खासकर वे अशुद्धियाँ जो मुख्यतया प्रतिष्ठा विधि से सम्बन्ध रखती है। उन पर अवश्य ही ध्यान दिया जाना चाहिये इसलिये यहाँ हम दूसरी अशुद्धियो को छोडकर प्रतिष्ठा विधि सम्बन्धी अशुद्धियो का ही उल्लेख करते है—

१—पृष्ठ ११७ के श्लोक ३७८ मे कहा है—

आचार्येण सदा कार्य क्रिया पश्चात् समाचरेत्।
श्रीमुखोद्‌घाटने नेत्रोन्मीलने कंकणोज्झने ॥

अर्थ—आचार्य को श्रीमुखोद्‌घाट, नेत्रोन्मीलन और कंकणमोचन मे सदा मातृकान्यास करना चाहिये। फिर अन्य क्रिया करनी चाहिये।

तथा पृष्ठ १३६ मे मन्त्र नं० २५वाँ इस प्रकार है—"ओ नमोर्हते भगवतेऽर्हते सद्य सामायिकप्रपन्नाय कंकणमपनयामि स्वाहा।" दीक्षास्थापनमन्त्र। यही मन्त्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ मे भी भगवान् के दीक्षाग्रहण मे लिखा है। इस प्रकार जयसेनप्रतिष्ठापाठ मे उक्त दो स्थानो मे कंकण दूर करने का उल्लेख किया है। परन्तु ग्रन्थ भर मे कही भी किसी भी विधान मे जिनबिम्ब के कंकण बाँधना नही बताया है तथा पृष्ठ १३६ मे "अट्ठविहकम्ममुक्का" आदि ३८वाँ मन्त्र मुखोद्‌घाटन का दिया है जिसे अन्य प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे कंकणबन्धन का मन्त्र लिखा है। मगर जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के पृष्ठ २८३ मे जहाँ कि मुखोद्‌घाटन क्रिया का वर्णन किया है वहाँ यह मन्त्र न देकर अन्य ही वह मन्त्र लिखा है जो अन्य प्रतिष्ठा

ग्रन्थो मे पाया जाता है। इस प्रकार इस विषय मे जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे खास गडवड नजर आती है।

२—पृष्ठ १३५ पर न० ३०, ३१, ३२ के तीन मन्त्र दिये है दरअसल ये तीन मन्त्र नही है। तीनो का मिलकर एक ही मन्त्र है और उसका नाम जिनमन्त्र है। यही जिनमन्त्र आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के पत्र ९६ पर लिखा है। इस मन्त्र का उपयोग जन्मकल्याणक मे किया जाता है। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ २५६ मे इसे जन्मकल्याणक की विधि मे लिखा भी है वहाँ इसके दो मन्त्र वना दिये है। इस तरह एक ही मन्त्र जिनमन्त्र को कही ३ मन्त्रो मे विभाजित कर लिखना, कही दो मन्त्रो मे लिखना साफ ग्रन्थ प्रति की अशुद्धता को प्रकट करता है।

३—पृष्ठ १३६ मे न० ३६ और ३७ के दो तिलक मन्त्र लिखे है। किन्तु पृष्ठ २७८ मे जहाँ कि तिलक विधि का वर्णन किया है वहाँ जो तिलक मन्त्र लिखा है वह उक्त दोनो ही तिलक मन्त्रो से भिन्न है। यह भी इस ग्रन्थ की अशुद्धि को सूचित करता है।

४—दीक्षाकल्याणक मे एक सस्कार मालारोपण की विधि की जाती है। (इस विधि का मतलव ऐसा है कि भगवान की मुनि अवस्था मे पंचाचारो के पालन करने से उत्पन्न होने वाली आत्मा की विशुद्ध-अवस्था विशेष के ४८ भेद करके उन भेदो को ही यहाँ अलग-अलग अडतालीस सस्कार बना दिये है। उन संस्कारो को प्रतिमा मे आरोपण करना यही पचसस्कारारोपण विधि कहलाती है।(इन सस्कारो मे से ११वाँ सस्कार जयसेन प्रतिष्ठा पाठ मे पृष्ठ २७२ पर 'शीलसप्तक' नामका लिखा है। यह नाम विल्कुल गलत मालूम देता है। क्योकि तीन गुण-व्रतो और चार शिक्षाव्रतो को 'शीलसप्तक' कहते है जो श्रावक व्रतो के अन्तर्गत है। यहाँ मुनि अवस्था में यह सस्कार कैसा ? आशाधर-प्रतिष्ठा-पाठ मे इस नाम का कोई अलग संस्कार नही है। वहाँ ९वे सस्कार का नाम "त्रियोगासयमच्युते शीलन" है जिसका अर्थ होता है त्रियोग के

द्वारा असयम से अलग रहने का स्वभाव। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में इसी को दो नामों में लिख दिया है—त्रियोगेन सयमाच्युति और शीलसप्तक। ऐसा लिखने की गलती से हुआ जान पड़ता है। इसी तरह इसमें जो ४८वां ४५वां सस्कार लिखे हैं वे भी आशाधर-प्रतिष्ठा पाठ में नहीं हैं इन दोनों का अन्तर्भाव ४३वे सस्कार में हो जाता है अत ये निरर्थक हैं। कुछ सस्कार लिखने से रह गये हैं। इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ का यह प्रकरण कुछ अशुद्धियों को लिए हुए ज्ञात होता है। अफसोस है कि इस छपी हुई अशुद्ध प्रति से जितनी प्रतिष्ठाएँ अब तक हुई उन सब में सस्कारों का आरोपण अशुद्ध रूप से ही हुआ।

५—जयसेन प्रतिष्ठा पाठ पृष्ठ २७८ पर तिलकदान विधि लिखी है। उसके श्लोक ८४९ के चौथे चरण के "निजाभिपिक्त्यै" वाक्य से यहाँ दही, दूब, सरसों, कपूर, अगर आदि से मिश्रित जल से यजमान की स्त्री को स्नान करने को कहा गया है। किन्तु वचनिकाकार ने "निजाभिपिक्त्यै" की जगह "जिनाभिपक्त्यै" पाठ मानकर अर्थ किया है "जिनका अभिषेक के अर्थि।" किन्तु यह अर्थ भी यहाँ ऐसा कुछ बैठता नहीं है। तथा यहाँ के मूल गद्य में यजमान की पत्नी के द्वारा आचार्य के तिलक करने का विधान किया है किन्तु वचनिका में इस गद्य का और यहाँ के श्लोक ८५०-५१ का कतई अर्थ नहीं है। सम्भव है जिस प्रति से वचनिका बनाई गई है उसमे ऐसा मूल पाठ नहीं हो। यहाँ के श्लोक ८५१ मे यह तिलक विघ्न-समूह के नाश करने के लिए बताया है। आचार्य के तिलक करने से विघ्नसमूह का नाश मानना भी अटपटा-सा ही है। और इस श्लोक मे 'विदधातु' क्रिया के स्थान में 'विधातु' प्रयोग भी अशुद्ध किया है।

इस तरह यह प्रकरण इसमें अजीब सा हो गया है और ग्रन्थ की अशुद्धता को जाहिर करता है। शायद इसीसे ब्रह्मचारी जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ मे इस प्रकरण के इस प्रकार के कथन को नहीं अपनाया है।

६—पृष्ठ २८२ मे अधिवासना विधि के बाद "सर्वान् जनानपसृत्य

दिगम्वरत्वावगत आचार्य " आदि गद्य पाठ दिया है जिसमे सव लोगो को हटाकर प्रतिष्ठाचार्य के नग्न हो जाने को कहा है। किन्तु वचनिका मे ऐसा कुछ भी नही लिखा है। इससे यही अनुमान होता है कि वचनिकाकार के सामने मूल प्रति मे यह पाठ नही था और इस कथन का आगे के विवेचन के साथ कुछ मेल भी नही वैठता है क्योकि आचार्य के नग्न हुए वाद आगे यहाँ मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन इन विधियो का करना वताकर फिर आगे सूरिमन्त्र देने का विधान किया है। मुखोद्घाटन मे परदा हटाए वाद प्रतिष्ठाचार्य का नग्न रहना कैसे हो सकेगा? वैसे भी उसके लिए नग्नता का विधान अटपटा-सा ही नजर आता है और यहाँ यह भी स्पष्ट नही किया है कि मुखोद्घाटन, नयनोन्मीलन और सूरिमन्त्र इन तीन क्रियाओ मे से कौन सी क्रिया नग्न होकर की जावे। वल्कि आचार्य के नग्नता का कथन किये वाद, आगे वह कव वस्त्र धारण करे? ऐसा कुछ कथन ही नही किया है। इससे साफ प्रगट है कि यह कथन मूल मे प्रक्षिप्त है। यह तो पहिले ही विचारणीय था ही फिर तुर्रा यह है कि ब्रह्मचारी जी ने अपनी तरफ से इसके साथ और नमक मिर्च लगा दिया है। वे अपने प्रतिष्ठा पाठ मे लिखते है कि—"फिर आचार्य नग्न हो जावे व ऐलकादि भी नग्न हो जावें (पृ० १४१) फिर आचार्य और मुनि आदि जो हो वह मिलकर सूरिमन्त्र पढे। दोनो कानो मे पढकर सर्वज्ञपना प्रगट करे (पृ० १४२) जयसेनप्रतिष्ठा पाठ मे तो कही मुनि ऐलक का नाम नही है, फिर न जाने ब्रह्मचारी जी इस काम मे मुनि ऐलक को क्यो ले आये? साथ ही प्रतिमा के कानो मे पढे जाने की वात भी वडी विचित्र है। प्रथमानुयोग आदि किसी भी प्राचीन शास्त्र मे ऐसा उल्लेख देखने मे नही आया कि जहाँ किसी मुनि ने प्रतिमा को सूरिमन्त्र दिया हो। वस्त्रधारी भट्टारको ने ऐसा कही किया हो तो वात दूसरी है। आजकल जो सूरिमन्त्र दिया जाता है जिसे किसी को वताते नही है। उसका भी हाल सुनिए—"ओ भूर्भुव स्व ओ तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य

धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" यह ब्राह्मण मत का गायत्री मन्त्र है। इसी मन्त्र के साथ असिआउसा आदि जैन मन्त्र जोड़कर किसी ने मनघड़ंत सूरिमन्त्र बना डाला है।

इस तरह जयसेन प्रतिष्ठापाठ की मुद्रित प्रति में यत्र तत्र अशुद्धियाँ नजर आती हैं। अतः इसकी पुरानी हस्तलिखित प्रति की किन्हीं शास्त्र भण्डारों से खोज होना बहुत ही जरूरी है। इस दिशा में प्रतिष्ठाचार्यों को प्रयत्न करना चाहिए।



जैनधर्म और हवन

धर्म के दो भेद है—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। हवन करना यह श्रावको की क्रिया है, मुनियो की नही। परन्तु श्रावकाचार ग्रन्थो रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय, चारित्रसार, वसुनन्दि श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार आदि मे यहाँ तक कि प० आशाधर के सागारधर्मामृत मे भी श्रावको के लिए हवन करने का विधान कही नही बताया गया है। इन ग्रन्थो मे पूजा के प्रकरण मे भी हवन का कोई उल्लेख नही है। अगर हवन करना श्रावक का धर्म होता या जिनपूजाविधि का कोई अग विशेप होता तो उसका कथन श्रावकाचार के ग्रन्थो मे अवश्य आता।

(किसी लौकिक कार्य की सिद्धि के लिए कोई मन्त्र विद्या साधी जाती है उसमे भिन्न-भिन्न विद्याओ के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थों का हवन करना मन्त्र शास्त्रो मे वताया है परन्तु धार्मिक अनुष्ठान मे जपे जाने वाले मन्त्रो के साथ हवन का कोई नियम नही है। ज्ञानार्णव मे वहुत से उत्तमोत्तम मन्त्रो के जाप्य करने का वर्णन है परन्तु वहाँ उनकी आहुतियाँ देने का कोई कथन नही है। शास्त्रो मे पदस्थध्यान के वर्णन मे परमेष्ठीवाचक मन्त्रो का जाप्य तो वताया है पर उन मन्त्रो से हवन करना नही वताया है। जप तप ध्यान से तो वडी-वडी सिद्धियाँ होती है इसलिए जैन शास्त्रो मे जहाँ तहाँ इनकी तो वहुत महिमा लिखी है, हवन की नही। श्री समन्तभद्राचार्य ने भी "दयादमत्यागमसमाधिनिष्ठ" इत्यादि कारिका मे जैन मत को अद्वितीयमत इसी कारण से वताया है कि उसमे दया, इन्द्रियसयम, त्याग और ध्यान की मुख्यता है।

वहुत पुराने जमाने मे घृत मेवा मिष्टान्न से हवन नही किया जाता था क्योकि ये मानव के पौष्टिक खाद्य है किन्तु उस धान्य से हवन किया जाता

था जो तीन वर्ष का पुराना हो जाने से न तो वह मानव के काम का रहता था और न कृषि के योग्य, क्योकि खेत मे वोने से वह उग नही सकता था। ऐसे निकम्मे फालतू धान्य को इस काम मे लिया जाता था। उस वक्त की वह रस्म भी वैदिकमत की थी, न कि जैनमत की। क्योकि "अजैर्यष्टव्य" इस वाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद हुआ था उसमे नारद कहता था कि तीन वर्ष के पुराने धान्य जो बोने पर उगे नही वे अज कहलाते है उन अजो से हवन करना ऐसी वैदिकमत की मान्यता है। (इसके विरुद्ध पर्वत का कहना था कि अज कहिये बकरो से हवन करना ऐसी मान्यता वैदिकमत की है)। यहाँ दोनो ही ने वैदिकमत की मान्यता पर विवाद किया था। जैनमत का तो यहाँ कोई प्रसग ही नही है। जैनधर्म तो दया प्रधान धर्म है, ऐसा आवाल-गोपाल प्रसिद्ध है, तब उसमे बकरो से होम करने की बात कोई कहेगा ही क्यो और उसकी यह बात चलेगी भी कैसे। इसके लिये राजा वसु की साक्षी की भी कोई जरूरत नही थी।

तीन वर्ष के पुराने धान्य से हवन करने की रीति जैनमत की होती तो आचार्य जिनसेन स्वामी आदिपुराण मे गर्भाधानादि सस्कारो मे हवन के लिए तीन वर्ष का पुराना धान्य बताते। इसलिए पर्वत और नारद दोनो ही का विवाद वैदिकमत की मान्यता पर ही था। दोनो के गुरु क्षीरकदब भी अजैन ब्राह्मण ही थे। पद्मपुराण और हरिवशपुराण मे लिखा है कि— वे शिष्यो को अरण्यक ग्रन्थ पढाते थे। अरण्यक यह वैदिकमत का ग्रन्थ है। हाँ यह हो सकता है कि जैन दीक्षा लेकर क्षीरकदब जैन हो गये हो। महाभारत शान्तिपर्व मोक्षाधिकार अ० ३३४ मे बताया है कि—

"एक बार ऋषियो और देवताओ के बीच अज शब्द पर विवाद चला। ऋषियो का पक्ष था धान्य से यज्ञ करने का और देवो का पक्ष था पशु बलि से यज्ञ करने का। राजा वसु से निर्णय माँगा गया, उसने पक्ष-

पात से अज का अर्थ बकरा बताया जिससे पशुबलि की प्रथा चली। ऋषि-शाप से वसु नरक गया।"

शान्तिपर्व २६९ श्लोक—२५, २६ तथा पर्व २७१ श्लोक—१-१३ मे बताया है कि—"यज्ञो मे प्रारम्भ मे हिंसा नही होती थी। क्योकि मनु ने अहिंसा को ही परमधर्म कहा है। सच्चा ब्राह्मण तो वह यज्ञ करता हे जिसमे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो।"

इससे भी यही सिद्ध होता है कि "अजैर्यष्टव्य" का विवाद वैदिको मे ही आपस का था।

ब्राह्मण मत मे अग्नि को देवताओ का मुख माना है इसलिए उनके यहाँ अग्नि मे डाली वस्तु देवताओ को मिल जाती है। इसी माफिक उत्तर-पुराण पर्व ६७ श्लोक ३२९ से ३३१ मे कहा है कि—"तीन वर्ष के पुराने धान्य की बनी वस्तुओ से अग्नि रूप मुख मे देवता की पूजा करना—आहुति देना यज्ञ कहलाता है।" ऐसा अर्थ "अजैर्होतव्य" का नारदने करके पर्वत को सुनाया था। इससे भी त्रिवर्ष धान्य से हवन करने का विधान वैदिक मत का ही जाहिर होता है। क्योकि अग्नि को देवो का मुख माना ऐसा जैनो का मत नही है। इस प्रकार जैनधर्म मे तो तीन वप के पुराने धान्य मे भी हवन करने का विधान नही हे।

पद्मपुराण पर्व ११ श्लोक—२४८ मे कहा है कि—ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और जठराग्नि ये तीन अग्नियाँ इस शरीर मे ही है। विद्वानो को उन्ही मे दक्षिणाग्नि आदि तीनो अग्नियो का सकल्प करना चाहिये।" इस कथन से सिद्ध होता हे कि रविषेण के वक्त तक जैनधर्म मे दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय इन तीन अग्नियो की कल्पना तीर्थंकर—गणधर-सामान्य केवलियो के दग्ध शरीरो की अग्नियो मे नही हुई थी।

पद्मपुराण के इसी ११वे पर्व के श्लोक २४१ से २४४ मे कहा है—"प्रथम तो यज्ञ की कल्पना ही निरर्थक हे। दूसरे यदि कल्पना करनी ही है तो विद्वानो को हिसायज्ञ की कल्पना नही करनी चाहिये। उन्हे धर्मयज्ञ

ही करना चाहिये। वह इस तरह की आत्मा यजमान है, शरीर वेदी है, सन्तोष साकल्य है, त्याग होम है, मस्तक के केश कुशा है, प्राणियोकी रक्षा दक्षिणा है, शुक्लध्यान प्राणायाम है, सिद्धिपद की प्राप्ति फल है, सत्य बोलना स्तम्भ है, तप अग्नि है, चचलमन पशु है और इन्द्रियाँ समिधाये है। यही धर्मयज्ञ कहलाता है।"

पद्मपुराण के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि रविषेण के वक्त तक भी जैनधर्म मे अग्नि मे आहुतियाँ देने रूप यज्ञ की कोई प्रवृत्ति नही थी। उस वक्त वैदिक मत मे यज्ञ की जैसी प्रवृत्ति थी उसे भी उन्होने आध्यात्मिक रूपक मे ढाल कर उस तरह के यज्ञ करने का आदेश दिया है।

इसी तरह वैदिको के यहाँ देवाराधन मे जिस प्रकार यज्ञ स्वाहा आहुति शब्द प्रयुक्त हुए है उसी प्रकार हमारे यहाँ जैनधर्म मे भी ये शब्द प्रयुक्त हुये है, किन्तु इनका अर्थ हमारे यहाँ वैदिको से जुदा है। जल गध अक्षतादि अष्टद्रव्यो से भगवान् की पूजा करने को हमारे यहाँ यज्ञ कहा है।

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूप
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगतुकाम ।
आलबनानि विविधान्यवलव्य वल्गन्
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥

—नित्यनियम पूजा

पूजन के वक्त इष्टदेव के आगे स्वाहा शब्द बोलकर हमारे यहाँ द्रव्य अर्पण किया जाता है। और पूजा के अन्त मे जो अर्घ दिया जाता है वह पूर्णाहुति कहलाती है। इस पूर्णाहुति शब्द का प्रयोग प० आशाधर ने स्वरचित प्रतिष्ठापाठ मे अनेक जगह किया है। इससे फलितार्थ यही निकलता है कि जैनमत मे भी यज्ञ करना बताया है परन्तु वह ब्राह्मणो की तरह अग्नि मे आहुतियाँ देने रूप नही बताया है किन्तु पूज्य के आगे द्रव्य अर्पण करने रूप बताया है।

यशस्तिकलचम्पू आश्वास ४ पृ०—१०५ पर दिगम्बर धर्म पर ऐसे आक्षेपका उल्लेख किया है ।

न तर्पण देवपितृद्विजाना
स्नानस्य होमस्य न चास्ति वार्ता ।
श्रुते स्मृतेर्बाह्यतरे च धीस्ते
धर्मे कथ पुत्र दिगंवराणाम् ।

अर्थ—जिस धर्म मे देव-पितृ-द्विजो का तर्पण नही है । न स्नान (जैन साधु स्नान नही करते) और न होम की जहाँ वार्ता है और जो श्रुति स्मृति से अत्यन्त वाह्य हैं ऐसे दिगम्वर के धर्म मे हे पुत्र, तेरी वुद्धि क्यो है ?

इस आक्षेप से क्या यह सिद्ध नही होता है कि प्राचीन काल मे दिगम्वर मत मे कतई हवन की प्रथा नही थी । (साधारण तौर पर भी सोचा जाये कि—किसी का पूजा सत्कार करने मे चीजे उसे भेट मे देनी हैं उन चीजो को उसे न देकर उसके आगे अग्नि जलाकर उसमे उन्हे भस्म कर देना यह क्या कोई वुद्धिमानी है और ऐसा भी क्या कोई पूजा का तरीका है ?)

वैदिक मत मे "अग्निमुखा वै देवा" ऐसा श्रुति वाक्य है । जिसका अर्थ होता है "देवगण अग्निमुख वाले होते है ।" यानी जो चीजें अग्नि मे हवन की जाती है वे देवताओ को पहुँच जाती है । ऐसा सिद्धान्त वैदिक मत का है अत वैदिक लोग इस सिद्धान्त के माफिक अग्नि मे हवन करते है । किन्तु जैनो का तो ऐसा सिद्धान्त नही है फिर वे क्या समझ कर अग्नि मे हवन करते है । जैनमत मे तो देवो को अमृतभोजी लिखा है उनको हमारे खाद्यपदार्थो से प्रयोजन ही क्या है ? यही वात सोमदेव ने भी हवन का निराकरण करते हुये यशस्तिलक उत्तरखंड पृ० १०९ मे इन शव्दो मे लिखी है—

"सुधाधस स्वर्गसुखोचितागा
खादति किं वह्निगत निलिम्पा ।"

अर्थ—(स्वर्गीय सुखो मे पलने वाले अमृतभोजी देवता क्या अग्नि मे प्राप्त हुये खाद्य पदार्थो को खाते है, नही खाते है ।)

लौकिक कार्यो के साधनार्थ मन्त्रशास्त्रो मे वश्य, आकर्षण, स्तभन, मारण, उच्चाटन आदि कर्म लिखे है जिनमे साधक को मन्त्र का जाप्य करना पडता है और हवन भी करना पडता है । हवन अलग-अलग मन्त्रो मे अलग-अलग पदार्थो का होता है । विद्यानुशासन मे लिखा है कि—

"कनेर के फूलो के हवन से स्त्रियो का वशीकरण होता है । सुपारी के फल-पत्तो के होम से राजा लोग वश मे होते है । घृत मिले आम्र फलो के होम से विद्याधरी वश मे होती है । घृत सहित तिलो के होम से धन-धान की वृद्धि होती है । इत्यादि" और लिखा है—होम से उस मत्र का अधिष्ठाता देवता तृप्त होकर साधक के आधीन हो जाता है—

जपादविकलो मत्र स्वशक्ति लभते पराम् ।
होमार्चनादिभिस्तस्य तृप्ता स्यादधिदेवता ॥

अर्थ—अविकल जप करने से मत्र मे उत्कृष्ट शक्ति पैदा होती है । और हवनपूजादि से उस मत्रका अधिष्ठाता देवता तृप्त हो जाता है ।

(ये सब बाते मत्रशास्त्रो से सबध रखती है । इनका धार्मिक पूठापाठो के साथ कोई सरोकार नही । भगवान पचपरमेष्ठी की आराधना रूप मत्रो मे मत्रो के अधिष्ठाता देव पचपरमेष्ठी है वे वीतरागी है ।) उनका होम से तृप्त होने का और साधक के आधीन होने का कोई प्रश्न ही नही है । अत धार्मिक अनुष्ठान मे हवन की कोई आवश्यकता नही है । सोमदेव ने भी यशस्तिलकचपू उत्तरखड पृष्ठ—१०९ मे "षट्कर्मकार्यार्थं" इत्यादि श्लोक मे स्तभन मोहन आदि षट्कर्म के कार्य मे ही होम को माना है । धर्मकार्यो के लिये नही । इससे यही सिद्ध होता है कि हवन का सबध सिर्फ लौकिक मत्र विद्या के साथ है । हवन ही क्या मत्र विद्या के साथ

तो दिशा, काल, मुद्रा, आसन, पल्लव, माला आदि अन्य भी कई बातो का विचार रखना पडता है। (किसी-किसी मत्र साधन मे तो घृणित वस्तुओ का उपयोग भी बताया है। इसके लिये देखिये "भैरव पद्मावतीकल्प" नामक मत्र ग्रन्थ।)

उक्त स्तभन, मोहन आदि षट्कर्मो के साथ शान्ति, पुष्टि मिलाने से ८ कर्म भी मत्रशास्त्रो मे माने गये है। इस शातिकर्म के लिये भी दिशा, काल, मुद्रा आदि के नियम लिखे है। जैसे लिखा है कि—मुख पश्चिम मे रहे, समय अर्द्धरात्रि का हो, पद्मासन, ज्ञानमुद्रा, स्फटिक की माला, स्वाहा पल्लव, आसनसफेद, मध्यमागुली से माला फेरना, अग्निकुण्ड चौकोर, होम की समिधा ९ अगुल की हो। यह मात्रिक, शातिकर्म है। इस मान्त्रिक शातिकर्म से जुदा एक धार्मिक शान्तिकर्म भी होता है। जिसमे पचपरमेष्ठी सबधी मण्डल पूजा विधान, जाप्य, स्तुति, (सहस्रनाम स्तोत्र का पाठ) अभिषेकादि रूप धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है। इस धार्मिक शातिकर्म मे दिशा काल मुद्रा आसन आदि नियमो का कोई प्रतिबन्ध नही है। न इसमे होम करने की जरूरत है। भगवज्जिनसेन ने आदि पुराण मे ऐसे ही शातिकर्म का उल्लेख किया है। जिस वक्त भरत चक्री को अशुभ स्वप्न आये थे तो उनके दोष निवारणार्थ उन्होने शान्तिकर्म किया था। उसका कथन करते हुए आदिपुराण मे लिखा है कि—

शातिक्रियामतश्चक्रे दु स्वप्नानिष्टशातये।
जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यै पुण्यचेष्टितै ॥

अर्थ—जिनेन्द्र का अभिषेक, सत्पात्रो को दान इत्यादि पुण्यकार्यो से भरत ने दु स्वप्नो और अरिष्ट (अशुभसूचक उत्पात) की शान्ति के लिए शान्तिकर्म किया।

जो लोग शान्तिकर्म मे हवन को मुख्य-स्थान देते है। उन्हे आदिपुराण के इस कथन पर ध्यान देना चाहिये। अगर शातिकर्म मे हवन एक मुख्य चीज होती तो आचार्य जिनसेन उसका नाम दिये विना नही रहते। उन्होने

तो पूजा, दान को प्रधानता दी है। अर्हद्भक्ति और त्याग यही तो जैन-धर्म के प्राण है और सच्ची व स्थायी शान्ति भी इन्ही से मिल सकती है। साथ ही बडे-बडे विघ्नो और उपद्रवो के मिटाने का भी ये ही अमोघ उपाय है। पं० आशाधर जी ने भी अपने प्रतिष्ठा पाठ मे इसी प्रकार का शान्तिकर्म लिखा है। लिखते है कि—

"अष्ट दल के कमल के मण्डल मे लघुशान्तिकर्म की विधि और ८१ कोठो के मण्डल मे बृहत् शान्तिकर्म की विधि करनी चाहिये। ध्यान के माफिक ही उसका फल समझना चाहिये। विघ्नो की शान्ति के लिए दोनो शान्तिकर्म यथायोग्य, यथाविधि करने चाहिए।" इन दोनो शान्तिकर्मों मे उन्होने सिर्फ पञ्चपरमेष्ठी व जयादि देवी-देवो की आराधना पूजा (जैसी कि उनकी आम्नाय थी) और भगवान् का अभिषेक करना बताया है। हवन करने का कथन नही किया है। (सिद्धचक्र मण्डल-विधान भी इसी तरह का शान्तिकर्म है। इसमे अनेक कवियो की सस्कृत रचनाओ का सग्रह है। इसका सकलन भट्टारक शुभचन्द्र ने किया है। इसमे कही भी हवन करने का नाम निशान नही है। तथापि वर्तमान मे हर अष्टाह्निका मे जैन समाज मे कई जगह इस पुस्तक से सिद्धचक्र मण्डल विधान किया जाता है। उसमे हजारो की सामग्री अग्निमे फूँक दी जाती है। इसे हम उत्सूत्र प्रवृत्ति ही कह सकते है।)

यहाँ तक हमने इस लेख मे शास्त्राधार से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जैनधर्म मे धार्मिक अनुष्ठान करने के लिये हवन करने का कही कोई विधान नही है। अब हम आदिपुराण मे उल्लिखित हवन पर विचार करते है—

(एक वक्त ऐसा गुजरा था कि हमारे इस देश मे ब्राह्मण धर्म का प्राबल्य था तब हवन आदि क्रिया-काडो का प्रचलन जोर-शोर पर था। उस वक्त जिनके हवनादि पूर्वक गर्भाधानादि सस्कार होते थे वे आर्य

कहलाते थे और उच्च श्रेणी के माने जाते थे। ऐसी परिस्थिति मे जैनधर्म की रक्षा और उसकी प्रतिष्ठा रखने के लिए हमारे आचार्य जिनसेन को भी आधानादि सस्कारो और उनके सम्पादनार्थ हवनादि क्रिया-काण्डो की सृष्टि करनी पडी है। जिसका वर्णन आदिपुराण मे लिखा मिलता है। उस वर्णन को गम्भीरता से अध्ययन करने पर ऐसा प्रतिभासित होने लगता है कि—जब जिनसेन स्वामी को ऐसा नजर आया कि ब्राह्मण धर्म का असर जैनधर्म के मूल आचार-विचारो पर तो नही पड रहा है। किन्तु जैनी लोग अपने पडौसी वैदिक मतवालो की देखा-देखी विवाह, जातकर्म, शिलान्यास, नूतन गृह प्रवेश आदि लौकिक कार्यो को ब्राह्मण रीति से कराने लग गये हैं। यह भी चीज जैनधर्म के लिये अवज्ञा की है। इसके लिए भी जैन जनता क्यो परमुखापेक्षी रहे ? और क्यो वैदिक मत का सम्पर्क करे ? यही सब सोचकर आचार्य श्री ने लौकिक क्रियाकाण्डो का जो प्रवाह चल पडा था उसे रोकना मुश्किल समझ कर उसके विधिविधानो मे वैदिक आम्नाय के अनुसार देव गुरु अग्नि की साक्षी का उपयोग किया जा रहा था उनकी जगह उन्होने जैन आम्नाय के अनुरूप देव, गुरु, अग्नि के समक्ष मे विधि-विधान किये जाने की योजना चालू की। तदर्थ उन्होने पीठिकादि हवन मन्त्रो, गार्हपत्यादि अग्नियो, तीर्थंकरादि अग्निकुण्डो और गर्भाधानादि सस्कारो का प्रतिपादन किया है। साथ ही इन कामो के कराने वाले ब्राह्मण भी चाहिये तो इसके लिए उन्होने जैन ब्राह्मण बनाने के उपाय भी बताये है। उन जैन ब्राह्मणो को खास तौर से हवनादि करने का आदेश देते हुए आदिपुराण पर्व ४० मे लिखा है कि—

"तीनो प्रकार की अग्नियो मे मन्त्रो के द्वारा पूजा करनेवाला द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकार की पूजा नित्य होती रहती है वह अग्निहोत्री कहलाता है। घर मे बडे यत्न के साथ इन तीनो अग्नियो की रक्षा करनी चाहिये। जिनका कोई सस्कार नही हुआ है, ऐसे अन्य लोगो को कभी नही देनी चाहिये। ब्राह्मणो को व्यवहारनय की

अपेक्षा ही अग्नि की पूज्यता इष्ट है। इसलिये जैन ब्राह्मणो को भी आज यह व्यवहारनय उपयोग मे लाना चाहिये।"

आदिपुराण के इन सब कथनो से साफ तौरपर यही प्रकट होता है कि श्री जिनसेनाचार्य ने दो जगह हवन करना बताया है। एक तो गर्भाधान-विवाह आदि लौकिक कार्यों मे और दूसरे जैन ब्राह्मणत्व के लिये। इनके सिवा जिनालय मे मण्डल पूजा विधान आदि अन्य धार्मिक अनुष्ठानो मे हवन किये जाने का अभिप्राय जिनसेन स्वामी का ज्ञात नही होता है। और यह अग्नि हवन भी गृहस्थी के घर पर ही होना चाहिये, न कि जिन मन्दिर मे। विवाह मे तो आमतौर पर हवन घर पर होता ही है और ब्राह्मणो के लिये स्वय आचार्य श्री ने स्पष्टतया घर पर हवन करने को कहा ही है। अन्य गर्भाधानादि सस्कार भी लौकिक होने से उनका हवन भी घर पर ही होना योग्य है। रही मूर्तिप्रतिष्ठा और वेदीप्रतिष्ठा मे हवन की बात सो लौकिक मे नये घर मे प्रवेश करते समय हवन किया जाता है। उसी की देखा देखी नूतन मन्दिर मे श्री जी को पधराते वक्त भी हवन की प्रथा चल पडी है, इससे इसकी गणना भी लौकिक विधान मे ही जायेगी। इसे भी करना ही है तो सक्षिप्त रूप से कर लेना चाहिये। शान्तिमन्त्र का जितनी सख्या मे जाप्य हुआ है उसके दसवे हिस्से की आहुतियाँ देना ऐसा यहाँ कोई नियम नही है। ऐसा नियम तो किसी मन्त्र विद्या के साधनो मे कहा गया है।

हवन यह जैनधर्म की मूलसस्कृति नही है। जैनधर्म की मूल चीज है अन्तरग मे राग-द्वेषादि कषायो की विजय और बाह्य मे जीव दया का पालन। ये दोनो ही हवन मे घटित नही होते है। हवन से अग्निकायिक जीवो की विराधना होती है। (दूर दूर तक फैलने वाली अग्नि की गरम-गरम धुवे से वायुकाय आदि जीवो का विघात एव मक्खी-मच्छर आदि उडने वाले छोटे-छोटे त्रस जीवो को बाधा आदि तो प्रत्यक्ष ही दीखती है। साथ ही उसके काले धुँवो से मन्दिर की सफेद

दीवारो पर के सुन्दर चित्रो, छत्र-चामरो और बहुमूल्य चन्दोवो की भी खासी मिट्टी पलीद हुये विना नही रहती है। इससे कभी-कभी आग लगने की भी सम्भावना रहती है। इस प्रकार हवन से सिवाय हानि के कोई लाभ नही दीखता है। अहिंसामय जैनधर्म मे यह निरर्थक सावद्य क्रिया कैसे पनप रही है? आज के जमाने मे घृत, मेवा, मिष्ठान्न फलादि पदार्थ वैसे ही मँहगाई की पराकाष्ठा तक पहुच कर जनसाधारण के लिये अत्यन्त दुर्लभ हो गये है। उनको अग्नि मे जला कर धर्म मानना इससे वढ-कर अन्य क्या अज्ञानता हो सकती है? सिद्धचक्रादि विधानो मे हजारो रुपयो की सामग्री जला कर खाक की जाती है। अगर ये ही रुपये दीन अनाथो के भी काम मे लगाये जाये तो कितना पुण्य हो। यह भी तो सोचना चाहिये कि अग्नि मे घृतादि जलाने के साथ धर्म का सम्वन्ध कैसे है? अविचार पूर्ण क्रियाओ का कोई फल मिलने वाला नही है। धर्म का असली तत्त्व छिपा जा रहा है और थोथे क्रियाकाण्डो का जोर वढता जा रहा है। विवेकी विद्वान् मन मे सव कुछ जानते हुए भी अल्पज्ञ लोगो की रुख के विरुद्ध कदम उठाने का साहस नही कर रहे यह वडे ही परिताप का विषय है।

आशाधर प्रतिष्ठापाठ में नवग्रहों का अद्भुत वर्णन

(विद्वत् समाज मे प० आशाधर जी की विद्वत्ता की धाक आज ही नही सदियो से चली आ रही है। इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध होकर ही पिछले क्रियाकाडी साहित्यकारो ने अपनी रचनाओ मे प्राय इन्ही का अनुसरण किया है। वल्कि इनकी ऐसी ही रचनाओ का वल पाकर ही दि० जैनधर्म मे सहिता, त्रिवर्णाचार, प्रतिष्ठापाठ, पूजा अभिषेक पाठादि क्रियाकाडी साहित्य की भरमार हुई है। (प० आशाधरजी भी आचार व क्रियाकाड विषय के ही अधिकतर अभ्यासी मालूम पडते है, यही कारण है जो उनकी वैद्यक आदि लौकिक रचनाओके अतिरिक्त) जैन रचनाओ मे कोई भी जैनसैद्धान्तिक ग्रन्थ नही पाया जाता है।

प० आशाधरजी भले ही कोई भारी से भारी विद्वान् हुए हो परन्तु इसी के आधार पर उनका जो भी वक्तव्य हो उसे गले उतार लेना यह जैनधर्म की नीति नही है। जैनधर्म मे कोरी विद्वत्ता आदरणीय नही है, सम्यक्ज्ञान आदरणीय है चाहे वह थोडा ही हो। (हमारे यहाँ आशाधरजी तो क्या ग्यारह अग तक के पाठी भव्यसेन मुनि तक भी सम्यग्ज्ञान के अभाव से आशीर्वाद के पात्र नही समझे गये है, जवकि स्तोक ज्ञान वाली रेवती महिला आदरणीय मानी गयी है।)

(प० आशाधरजी की रचनाओ मे कही-कही ऐसा भी कथन पाया जाता है जिसकी सगति इतर मान्य जैनग्रन्थो से नही वैठती, जिसे पढ-सुन कर आश्चर्यचकित हो जाना पडता है और कहना पडता है कि इस प्रकार का वेढगा कथन आशाधरजी जैसे प्रकाण्ड विद्वान् की कलम से कैसे लिखा गया।) नीचे हम ऐसे ही एक प्रकरण को पाठको के सामने वतौर नमूने के पेश करते है। यह प्रकरण प्रतिष्ठासारोद्धार नामक ग्रथ के दूसरे

अध्याय मे पाया जाता है। यह ग्रन्थ छप चुका है किन्तु वहुत अशुद्ध छपा है। कही-कही श्लोको का हिन्दी अनुवाद भी किया हुआ है, अनुवाद मे काफी गलतियाँ भरी हुई है। अनुवाद की स्थिति यह है कि कही तो श्लोक का पूरा अनुवाद किया है कही अधूरा किया है तो कही किया ही नही गया है। इसलिए पाठको की जानकारी के लिए प्रस्तुत विषय के श्लोको को शुद्ध पाठ और पूरे सही अनुवाद के साथ यहाँ हम दे देना उचित समझते है—

ऊर्ध्वं विस्तीर्णमशान् वसुजलधिमितान् योजनस्यैकषष्ठान्
मुक्त्वाष्टौ तच्छतानि क्षितिमनिलधृत खे सहस्रैश्चतुर्भि ।
पूर्वाद्याशानुपूर्व्या पृथगिभभिदिभोक्षार्वदेवैर्विमान
स्वारूढो नीयमान दशशतशरदन्वीतपल्योत्तमायु ॥२७॥
त्व तोष्टा तापसेष्ट्या कमलकर हरिद्वाह् नेता ग्रहाणा
नैवेद्यै सानुगोऽर्केन्धनश्रृतपरमान्नोद्यसर्पिर्गुडाद्यै ।
गधै पुष्पै फलैश्चोत्तमघुसृणजपापक्वनारगपूर्वै-
स्तादृक्षैश्चाक्षताद्यैरिह हरिहरिति प्रीणित प्रीणयास्मान् ॥२८॥

(जो विमान ऊपर की तरफ एक योजन के ६१ भागो मे से ४८ भाग प्रमाण चौडा है। और जो पृथ्वी को आठ सौ योजन छोडकर आकाश मे पवन पर स्थित है, तथा जो पूर्वादि दिशाओ मे क्रम से सिंह, हाथी, वैल, घोडा इन रूप के धारी पृथक् चार-चार हजार देवताओ के द्वारा ले जाया जाता है ऐसे विमान पर जो भले प्रकार आरूढ है और जिमकी एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है। जो ग्रहो का नेता है ऐसे है हाथ मे कमल वाले अश्वारोही सूर्य, तू तापस को पूजने से प्रसन्न होनेवाला और आकडे की लकडी की अग्नि से पकाई खीर, तपाये घृत, गुडादि तथा नैवेद्यो से सानुकूल रहने वाला यहाँ पूर्वदिशा मे उत्तम केशर, जपा-पुष्पो, पके नारगी फलो तथा इसी तरह के अक्षतादिको से पूजा हुआ हम पर प्रसन्न हो।

तद्दिवादुर्विवमष्टभिरितो भागैश्चरद्योजना-
शीत्योर्ध्व तदिवाव्दलक्षयुतपल्यैकायुरग्नेर्दिशि ।
शीताशो सरलाज्यकिंशुकसमितिसिद्धान्नदुग्धादिभि-
स्त्व कापालिकसत्क्रियाप्रिय इह घ्राय ग्रहाग्रप्रभो ॥२९॥

उस सूर्य विमान की चौडाई से ८ भाग अधिक जिसकी चौडाई है अर्थात् एक योजन के ६१ भागो मे से ५६ भाग प्रमाण जो चौडा है, और जो सूर्यविम्व से ८० योजन ऊपर सूर्य के वाहक देवो सदृश देवो द्वारा उमी तरह चलाया हुआ विचरता है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसकी एक लाख वर्प अधिक एक पल्य की आयु है। ऐसा हे सब ग्रहो का प्रधान-स्वामी चन्द्र, तू कापालिक साधु के सत्कार करने से प्रसन्न होने वाला यहाँ अग्निदिशा मे देवदारु की धूप, पलाश की लकडी से पकाया अन्न, दुग्धादि से तृप्त हो।

त्र्यूने विवमितोऽकयोजनशते क्रोशार्धमात्र क्षिते-
र्वाह्य द्विद्विसहस्रकेसरिमुखैर्भिक्षुप्रिय शूलभृत् ।
पल्यार्धायुरपाक् कुजात्र खदिराभृष्टैर्गुडाज्योत्कटै
सतुष्टो यवसक्तुभिर्घृतयुतैर्दुग्रादिभिर्धूप्यसे ॥३०॥

इस खरपृथ्वी से तीन कम नव सौ योजन की ऊँचाई पर पूर्वादिदिशाओ मे क्रम से दो दो हजार सिहादि रुप वाले देवो द्वारा जो ले जाया जाता है, जो आधे कोश का चौडा है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसे भिक्षु-साधु प्रिय है और जिसकी आधे पल्य की आयु है ऐसा हे त्रिशूलधारी मगल, तू इस दक्षिण दिशा मे खैर की आग मे भुने, उत्कट गुड, घृत मिले जवो के सत्तुओ से सन्तुष्ट रहने वाले तेरे घृत मिले गुग्गुलादि की धूप देता हूँ ।

विव ख शगिनोऽष्टयोजनमतीत्योर्ध्वव्रजद् भूर्जवत्
क्रोशार्द्धप्रमित कुजस्थितिरितो वर्णीष्टिमुत् पुस्तकम् ।

विभ्रत् त्व विधुजोपवीतयुगपामार्गधसिद्धौदन-
क्षीरसर्जरसाज्यधूपमजगो रक्षोदिशि स्वीकुरु ॥३१॥

चन्द्रविमान से आठ योजन ऊपर आकाश को उलॉघ कर जो मगल की तरह विचरता है और जो आधे कोश प्रमाण चौडा है ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जिसकी मगलवत् आधे पल्य की आयु है, जो वर्णी को पूजने से हर्षायमान होता है, वकरे की जिसके सवारी है ऐसा पुस्तक और जनेऊ का धारी हे बुध, तू अपामार्ग की लकडी से पकाये भात, खीर व घृत मिली राल की धूप को नैऋत दिशा मे स्वीकार कर।

तच्चाराद् रसयोजनैरुपरि यात्तद्वद् विमान मना-
गूनक्रोशमित सपुस्तककमडलवक्षसूत्रोऽब्जग ।
पल्यैकायुरिहोपवीतरुचिरोरस्क परिव्राड्रत
प्रत्यक् पिप्पलपक्वपायसहविर्धूपैर्गुरोऽभ्यर्च्यसे ॥३२॥

उस बुध के विमान के विचरने के क्षेत्र से छह योजन ऊपर बुधविमान की तरह ही चलने वाला, कुछ कम एक कोश प्रमाण चौडा ऐसे विमान पर जो आरूढ है, जो पुस्तक कमडलु जपमाला सहित है, जो कमल पर बैठा है, जिसकी एक पल्य की आयु है, जिसका उरस्थल जनेऊ से मनोहर है और परिव्राट् कहिये भागवतीसाधु मे प्रीति रखता है ऐसा हे बृहस्पते, तुझे पश्चिम दिशा मे यहाँ पीपल की लकडी से पकी खीर व नैवेद्यो, धूपो से पूजता हूँ।

सौम्यात्खेऽध्युपितस्त्रियोजनमतिक्रातेऽभ्रयान तथा
प्रेर्य क्रोशतत त्रिसूत्रफणभृत्पाशाक्षसूत्रै स्फुरन् ।
प्रीत पाशुपते सवर्षशतपल्यायु प्लवस्थो मरुत्-
काष्ठाया गुडफल्गुपाचितयवान्नाज्यै कवे पूज्यसे ॥३३॥

बुध के विमान से ३ योजन ऊपर आकाश मे जो बुधविमान की तरह ही विचरता है और जो एक कोश प्रमाण चौडा है ऐसे विमान पर जो

आरूढ है। जनेऊ नागपाश जपमाला से जो स्फुरायमान है जिसकी ५० सौ वर्ष अधिक एक पल्य की आयु है। जो पाशुपत कहिए शिवमत के साधु मे प्रीति रखता है और जो मैंढक पर बैठा है ऐसा हे शुक, तुझे वायु-कोण मे काकोदुबर काष्ठ से भुने हुए यवान्न व गुड, घृत से पूजता हूँ।

क्रोशार्द्ध पृथु योजनैस्त्रिभिरुपर्यभ्रे कुजान्मडल,
तद्वद्गतृ गतोऽर्धपल्यपरमायुष्कस्त्रिसूत्रीयुत ।
नीतस्तृप्तिमुदक् शमीधनश्रृतैर्मापैस्तिलैस्तदुलै
रालाज्यागुरुणेज्यसे श्रमणमुन्नेपालपूज्य शने ॥३४॥

जो आधे कोश का चौडा है, जो मगल के विमान से तीन योजन ऊपर आकाश मे मगल विमान की तरह ही विचरता है ऐसे विमान पर जो आरूढ है जिसकी आधे पल्य की उत्कृष्ट आयु है, जो जनेऊ का धारी है और नेपाल देशवासियो से पूजा जाता है तथा जो श्रमण कहिये बौद्ध साधु मे प्रीति रखता है ऐसा शने, तू शमी की लकडी से पकाये उडद तिल तन्दुलो से तृप्त होने वाला तुझे उत्तर दिशा मे राल घृत अगुरु से पूजता हूँ।

त्यक्त्वारिष्टदरोनयोजनततस्वव्योमयानध्वज,
चत्वारि व्रजदगुलान्यहरह पष्ठे च मास्यैदवम् ।
विंव छादयिता तदशुनिवहै राहो द्विजार्चामिहो,
दूर्वापिष्टपयोघृताक्तजतुधूपेनेशदिश्यर्च्यसे ॥३५॥

श्याम मणि का बना, कुछ कम एक योजन का चौडा ऐसे अपने (राहु के) विमान की ध्वजा को चार अगुल छोडकर चलनेवाले चन्द्रबिंव को अपने उस विमान की श्याम किरण समूह से जो प्रतिदिन और छठवे मास मे ढकनेवाला है और ब्राह्मण को पूजने से जिसे आनन्द होता है ऐसा हे राहो तुझे ईशानदिशा मे दूव की अग्नि से पकाये आटे दूध व घृत मिली लाख की धूप से पूजता हूँ। (यह राहु के द्वारा नित्य और छह

मास मे चन्द्रमा को ढकना कहा है वह नित्य राहु और पर्वराहु दोनो राहुओ की अपेक्षा से कहा है)

षष्ठे षष्ठ उपेत्य मासि तपनस्यें दोस्तमोबिंबवद्
विम्वाद् बिंवमधश्चरन्मलिनयत्यशूद्गगमैस्तद्वियत्
दर्शातेऽधिवसन्निहोर्ध्व-दिशि तत्केतो सकुल्मापक,
स्फूर्जत्केतुसहस्रदेहसकुश बिल्वाज्यधूप भज ॥३६ ॥

सूर्य के विमान से नीचे चलनेवाला जो विमान छठवे छठवे मास मे सूर्य के निकट आकर चन्द्र को आच्छादित करने वाले राहु की तरह अपनी निकलनेवाली किरणो से अमावास्या के अन्त मे उस सूर्य विमान के आकाश को मलिन करता है ऐसे विमान पर आरूढ हे केतो, हे देदीप्यमान हजार ध्वजा रूप देह वाले, तू ऊर्ध्वदिशा मे कुलथ व डाभ सहित घृत मिले विल्व की धूप को ग्रहण कर।

यह है नवग्रहो का वर्णन। इसमे सूर्यादि-विमानो की चौडाई, पृथ्वी से उनकी ऊँचाई, उनके वाहक देवो की सख्या रूप व सूर्यादिदेवो की आयु का प्रमाण वस ये ही कथन सिर्फ जैन शास्त्र सम्मत है शेष ऊल-जलूल कथन है और वह सव जैनधर्म से वाहर का है इनकी चर्चा अभी न करके पाठको का ध्यान मै दो वातो पर ले जाना चाहता हूँ। एक तो यह है कि—ज्योतिष्क देवो का वर्णन प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र और उसके अनेको भाष्यो व त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ति आदि इस विपय के शास्त्रो मे पाया जाता है। वहाँ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारे ऐसे ५ प्रकार के ज्योतिषी देव लिखे है जिनमे सूर्य चन्द्रमा से ग्रहो का भेद अलग किया गया है और ग्रहो की सख्या ८८ लिखी है न कि ९। और उन ८८ मे भी कही भी चन्द्र सूर्य का नाम नही है। चन्द्र सूर्य तो जैनागम के अनुसार तमाम ज्योतिषी देवो के इन्द्र प्रतीद्र होते है भला इनकी गणना निम्नश्रेणीके ग्रहो मे कैसे हो सकती है। सच तो यह है कि "नवग्रह" यह सज्ञा ही जैनधर्म की नही है।

श्रमण का भिक्षा-धर्म

(गृहस्थ भोजन देकर साधु पर कोई एहसान नही करता। शरीर के लिए मधुकरी वृत्ति से साधु जितना भोजन लेता है उसके वदले मे अनेक गुना समाज को लौटा देता है। पैदल गाव-गाव मे विहार कर और सरदी, गरमी, भूख, प्यास आदि के कष्टो को उठाता हुआ जनता मे जिस लगन के साथ अहर्निश धर्म का प्रचार करता है और उपदेश देकर ज्ञानामृत पिलाता है वैसा अन्य कोई बडे से वडा वेतन लेकर भी नही कर सकता है। यह साधु का महान् उपकार है। ऐसे सद्गुरुओ के चरणारविन्दो मे शतश प्रणाम है।)

मनुष्य का जन्म होते ही उसे जीवित रहने के लिए खुराक की आवश्यकता भी साथ ही पैदा हो जाती है। किंतु नवजात शिशु उस वक्त इतना असमर्थ और निर्वल होता है कि वह अपनी खुराक आप कही से प्राप्त नही कर सकता है। उस वक्त प्रकृति उसका साथ देकर उसकी माता के स्तनो मे दूध पैदा करती है उससे उसका पोपण होने लगता है। खुराक की यह आवश्यकता मानव के जीवन के प्रारम्भ मे ही नही अत तक चलती है। इसे ही जैनधर्म मे आहार सज्ञा वताई है। यह इतनी अनिवार्य है कि मुनिदीक्षा लेते वक्त चाहे अन्य सबका परित्याग कर दे पर इसका त्याग नही किया जा सकता है। कहा भी है कि—"अन्न वै प्राणा" अन्न ही मनुष्य के प्राण है। तथापि जैन साधु के लिए जैनधर्म मे इसके सवध मे भी पूर्ण स्वतत्रता नही दी है। किन्तु कई एक नियमो का प्रतिवन्ध रक्खा है। जिसका विशद वर्णन जैनो के आचार शास्त्रो मे लिखा मिलता है। उन नियमो का खास ध्येय यह है—

कायो न केवलमयं परितापनीयो,
मिष्टैः रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः ।
चित्तेन्द्रियाणि न चरति यथोत्पथेन,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम् ॥

अर्थ—अनशनादि तपो से न तो शरीर को एक-मात्र इतना सुखा देना चाहिए कि जिस से वह इतना अशक्त और निकम्मा हो जाये कि ध्यान स्वाध्यायादि आवश्यक कार्य भी न कर सके। और न स्वादिष्ट भोजनो से इस शरीर को इतना परिपुष्ट और सुखिया ही बनाना चाहिए कि जिससे वह सयम के पालन मे अवहेलना करने लगे एवं परीषह सहने मे कातर बन जावे। जैनधर्म मे तो वही तप सराहनीय बताया है जिससे इद्रियाँ और मन अपने कावू मे रहे । । वे उन्मार्ग मे न जा सके ।

यह माना कि आहार का ग्रहण साधु के लिए अनिवार्य है। किन्तु इसका मतलब यह नही है कि वह इस दिशा मे बिल्कुल स्वच्छद बन जावे। उसकी दृष्टि यह होनी चाहिये कि—वह संयम की साधना के उद्देश्य से इस काया को आहार देता है वह रसना इद्रिय की तृप्ति व शरीर को पुष्ट कर उसकी सुन्दरता की कामना से आहार नही करता है। आहार का त्याग मानव के लिये अशक्य है, किन्तु उसकी लम्पटता का त्याग तो साधु के लिये अशक्य नही है। अगर लपटता भी नही छूटी तो वह साधु ही क्या हुआ। वह तो स्वादु हुआ। ऐसो ही को लक्ष्य मे रखकर एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मूँड मुँडाये तीन गुण शिर की मिटती खाज ।
खाने को लड्डू मिलै लोग कहे महाराज ॥

आहार की लम्पटता का त्याग ही तो तप है। और तप के अर्थ ही दीक्षा ग्रहण की जाती है। सूत्रकार ने "तपसा निर्जरा च" इस सूत्र मे बताया है कि—तप के द्वारा कर्मो की निर्जरा तथा सवर दोनो होते है।

और "इच्छानिरोधस्तप" इच्छाओंका रोकना ऐसा तप का लक्षण कहा है। यह निर्विवाद है कि—तपस्वी जीवन मे सबसे पहिला काम है इच्छाओ का दमन करना। उनमे भी भोजन की लपटता पर दमन करना तो साधु के लिये एक मुख्य चीज है। अगर ऐसा भी न कर सका तो उसे नाम मात्र का साधु कहना चाहिये। वह अभी मुनि जीवन की प्रथम सीढी पर भी नही चढ पाया है। साधु के लिए भोजन की गृद्धता एक बडा दुर्गुण है और इसी से जैन शास्त्रो मे १२ प्रकार के तपो मे प्रथम नाम अनशन तप का गिनाया है। प्राचीन महर्षियो ने जिह्वा लपटता मे बहुत दोष बताये है। यथा—

होई णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदमणचरित्त।
अमिन कलिणा छड्ओ छाय मइलेइ य कुलस्स ॥

अर्थ—(आहार का लोलुपी पुरुष निर्लज्ज हो जाता है। वह यह भी नही देखता कि मेरा पदस्थ क्या है? वह तो तपश्चरण, ज्ञानाभ्यास, दर्शन चारित्र सबको छोड भोजन मे पडता है। यहाँ तक कि मास, उच्छिष्ट, अभक्ष्यभक्षण मे भी आसक्त हो उत्तम कुल की काति को मलिन करता है।)

अवविट्ठाण णिरय मच्छा आहारहेडु गच्छति।
तत्थेवाहारभिलासेण गदो सालिसित्थोवि ॥

अर्थ—(स्वयभूरमण समुद्र का महामच्छ जीवो का भक्षण करने से सातवे नरक मे जाता है। किन्तु सालिसिक्थ नाम का एक बहुत छोटा सा मत्स्य जो उस महामच्छ के कान मे रहता है जिसमे किसी जीव के भक्षण करने की सामर्थ्य नही है वह वहाँ बैठा-बैठा ही खाली जीवो के खाने की लालसा किया करता है इसी से वह भी उसी सातवे नरक मे जाता है।)

चक्कधरो वि सुभूमो फलरसगिद्धीए वचिओ सतो।
णट्ठो समुद्दमज्झे सपरिजणो सो गओ णिरय ॥

अर्थ—(सुभौमचक्रवर्ती जिसकी कथा पुराणो मे आती है। उसका एक वैरी देव उसे मारने को भेष वदल कर आया और उसको स्वादिष्ट फल चखाये। उन फलो को खाने की लालसा से ठगाया जाकर वह सुभौम उस देव के साथ हो गया और समुद्र मार्ग से जाता हुआ वह सपरिवार उस देव के द्वारा मारा जाकर नरक मे गया।)

जीवस्स णत्थि तित्ती चिरपि भुजतयस्स आहार।
तित्तीए विणा चित उच्छूर उद्धुदं होइ॥

अर्थ—(अनादि काल से आहार करते रहने पर भी इस जीव के तृप्ति नही हुई है और तृप्ति के विना चित्त मे उद्वेग ही रहा है। वल्कि क्षुधा वेदना से आहार की चाह वढती रही है। यह क्षुधा तो वेदनीय कर्म के नाश से मिटेगी, आहार से नही।)

अच्छिणिमेसण मित्तो आहारसुहस्स सो हवइ कालो।
गिद्धीए गिलइ वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुह॥

अर्थ—आहार के आस्वादन से उत्पन्न होने वाले सुख का काल नेत्र के टिमकारने मात्र है। ज्यो-ज्यो ग्रास से रस निकलता जाता है त्यो-त्यो यह गृद्धता से उसे जल्दी-जल्दी निगलने लगता है। गृद्धता के विना स्वाद का सुख नही और यह गृद्धता ही सव अनर्थो की मूल है।

अत साधु के लिये आहार लेने मे दोष नही है। किन्तु आहार की लोलुपता रखने मे दोष है। लेकिन कभी कुछ कारण ऐसे भी आ उपस्थित होते है जिनकी वजह से साधु को आहार मात्र ही का त्याग करना पडता है। शास्त्रो मे आहार त्यागने के निम्नलिखित छह कारण वताये है।

१ शरीर मे ऐसी व्याधि पैदा हो जाने पर कि जिससे सयम न पल सके।
२ प्राण घातक उपसर्ग आ जाने पर।

३ इंद्रियो का दर्प और काम वासना की उत्कटता को रोकने के लिए।

४ मार्ग मे प्रचुर जीव जन्तुओ का सचार हो जाने से उनका वचाव न हो सकने पर।

५ तपश्चरण के अभ्यास के लिए।

६ सन्यास की सिद्धि के अर्थ।

साधु को अपने से ममता नही है। इसलिए वह शरीर को वनाये रखने के लिए आहार नही लेता है। किन्तु उसे सयम द्वारा अपनी आत्मा को इस दु खमय ससार से निकालना है। उस सयम की साधना शरीर के विना नही हो सकती है इसलिये वह इस जड शरीर की आहारादि से सँभाल करता है। किन्तु साधु अपने शरीर की परवाह तभी तक करता है जव तक कि शरीर से उसका सयम पलता रहता है। जव कभी ऐसा अवसर आ जाय कि शरीर जाता है पर सयम रहता है तव वह सयम को ही रखने का उद्यम करेगा, शरीर भले ही जावे तो जावो। साधु को तो सयम ही अधिक प्यारा है। शरीर से तो उसका इतना ही सरोकार है कि—जैसे रोगी घाव पर वाँधने की पट्टी से प्रीति न होते भी उसकी सँभाल करता है क्योकि वह घाव को मेटने मे सहायक है। उसी तरह साधु की शरीर से प्रीति न होते हुए भी संयम मे सहायक होने के कारण वह उसकी सार-सभाल करता है। साधु को अपने शरीर की सुन्दरता-असुन्दरता से भी कोई प्रयोजन नही है। उसे तो सयम के साधनार्थ किसी तरह इस शरीर को टिकाये रखने के लिये आहार मात्र देना है। व आहार रुखा-सूखा नीरस कैसा भी हो। हाँ इस सम्वन्ध मे भी वह इतना विचार जरूर रखता है कि आहार शुद्ध और प्रासुक हो तथा देने वाले ने साधु के लिये न वनाया हो। किन्तु अपने ही वास्ते वनाया हो साथ ही वह साधु को आदर और मान के साथ भक्ति-पूर्वक देता हो एवं दाता को किसी तरह की वाधा न

पहुँचती हो ऐसा आहार साधु के लिये ग्रहणयोग्य माना है। जैनशास्त्रो मे साधु की भिक्षावृत्ति के संबंध मे पाच उदाहरण वताये है। वे ऐसे कि—

१—जैसे उद्यान मे घास चरने वाली गाय का ध्यान घास पर रहता है। उद्यान की शोभा पर नही उसी तरह भिक्षार्थ दाता के घर पर जाने वाले साधु की दृष्टि केवल भिक्षाप्राप्ति की ओर रहती है। उसे दाता के घर, स्त्री, सामान आदि की मनोज्ञता अमनोज्ञता से कोई प्रयोजन नही है। इसे गोचरीवृत्ति कहते हैं।

२—जैसे व्यापारी मालको ढोने के लिए गाडी को घृतादि से वागता है। उसी तरह साधु गुणो की भरी आत्मा को मोक्षपुरी में ले चलने के लिए गाड़ीरूप शरीर को वाग की माफिक आहार देता है। इसे अक्षम्रक्षण-वृत्ति कहते हैं।

३—जैसे भण्डार मे आग लग जाने पर उसे जैसे-तैसे बुझाकर भडार के माल की रक्षा की जाती है। उसी तरह उदर मे लगी क्षुधारूप आग को साधु रस नीरस रूखा-सूखा भोजन जैसा भी मिले उससे वुझाता है। इसे उदराग्नि प्रशमनवृत्ति कहते हैं।

४—जैसे घर मे गढ्ढा होने पर उसे कूडा कचरा मिट्टी आदि से किसी भी तरह भर कर बरावर कर दिया जाता है उसी तरह साधु उदररूप गड्ढे को रूखा-सूखा कैसे भी आहार से भरता है। इसे गर्तपूरण-वृत्ति कहते है।

५—जैसे भ्रमर बगीचे के अनेक सुगधित फूलो की गन्ध लेता हुआ फूलो को रचमात्र भी खराव नही करता हैं उसी तरह साधु भोजन ग्रहण करता हुआ दाता को किंचित्मात्र भी वाधा नही पहुँचाता है उसे भ्रामरीवृत्ति कहते हैं।

इस प्रकार प्रशसनीयवृत्ति से आहार ग्रहण करने वाला साधु उस आहार से भी अपना उदर इतना पूरा नही भरता है, जिससे आलस्य पैदा

होकर अपने ध्यान स्वाध्याय मे बाधा पैदा हो जावे। वह उदर के चार, भागो मे दो भाग तो भोजन से भरता है। एक भाग जल से भरता और एक भाग खाली रखता है। इस विधि से आहार करने वाले साधु के उदर संबन्धी व्याधि पैदा नही होती, शरीर मे भारीपन नही आता और अपने दैनिकधर्म कृत्यो मे जी लगा रहता है।

जैन के साधु महाव्रती होते है। भोजन के तैयार करने मे आरंभादि से षट्काय के जीवो की विराधना हुए बिना नही रह सकती। अतएव जैनसाधु कदाचित् भी अपने हाथ से भोजन नही बनाते है। वह भी गृहस्थी के यहाँ से पाते है। वह भी गृहस्थी खुद अपने वास्ते बनाकर उसमे से साधुओ को देता है तो साधु ग्रहण करते है। अगर साधुओ को यह मालूम हो जाये कि दाता ने यह आहार हमारे वास्ते बनाया है तो वे कदापि उस आहार को ग्रहण नही करते है। ऐसा करने से साधु के उद्दिष्ट-दोष नही लगता है।

आहार देने वाला श्रावक भी साधु को याचक समझ कर आहार नही देता है। किन्तु पूज्य गुरुदेव मानकर बडे ही सम्मान के साथ आहार देता है और आहार देकर अपना धन्यभाग समझता है। साधु भी ऐसी भावना श्रावक की नजर आने पर ही उसके यहाँ से आहार ग्रहण करते है। इस रवैये से साधु श्रावक के लिए भाररूप नही बनता है। श्रावक आहार देकर साधु पर कोई एहसान करता हो ऐसा भी नही कह सकते है। क्योकि साधु श्रावक से आहारादि रूप से जो कुछ पाता है उससे कई गुणा बदला वह वापस चुका देता है। आहारदान से दाता को विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है। उसके फल से जन्मान्तर मे वह भोगभूमि के उत्तम सुख भोगता है। यह तो परोक्ष फल की बात हुई इसे छोडिये। प्रत्यक्ष मे हम देखते है कि—साधु केवल आहार मात्र लेकर पैदल गाँव-गाँव मे घूम-फिर कर और सरदी-गरमी भूख-प्यास आदि अनेक कष्टो को उठाता

हुआ जनता मे जिस लगन के साथ अहर्निश धर्म का प्रचार करता है और उपदेश देकर ज्ञानामृत पिलाता है वैसा अन्य कोई बड़ा से बड़ा वेतन लेकर भी नही कर सकता है। क्या यह साधु का प्रत्यक्ष मे कोई महान् उपकार नही है। साथ ही अपनी वीतराग सयमपूर्ण चर्या से एक महान् आदर्श उपस्थित करके वे साधुगण लोगोको सयम की ओर आकर्पित भी करते है। ऐसे सद्गुरुओ के चरणारविंदो मे हमारा शतश प्रणाम है।)



मंगलोत्तमशरण-पाठ

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूण ॥*

यह जैनसस्कृति का अति प्रसिद्ध मूलमन्त्र है। यह नमस्कार महामंत्र, अपराजित मत्र, ओकार, प्रणव (प्रणम) मंत्र, पचपरमेष्ठी मन्त्र—आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है।

यह एक ही मंत्र सब सम्पदाओ—अभ्युदय एवं निश्रेयस का दाता है। इसमे का एक प्रारम्भिक 'अर्हम्' पद ही ऐसा है कि उसमे अकार से लेकर हकार तक सब स्वर और व्यजन आ जाते है। अनेक नवीन-नवीन मन्त्रो का जो निर्माण हुआ है, वे सब इसीके रूपान्तर है, अत. नवीन-नवीन मन्त्रो को सिद्ध करने के झमेले मे न पडकर एकाग्रमन से एक मात्र इसी का सदैव आराधन करना चाहिए। इस मन्त्र के विपय मे वताया है कि—

†एसो पचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मगलेसु य सव्वेसु पढम हवदि मगलं ॥१३॥

—'मूलाचार, अधिकार ७'

---

* काऊण णमोक्कार अरहताण तहेव सिद्धाण।
आइरियउवज्झाये लोगम्मि य सव्वसाहूण ॥१॥

—'मूलाचार, अधिकार ७'

† अपराजितमंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशन.।
मंगलेपु च सर्वेपु प्रथम मगलं मत ॥

अर्थ—यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापो का नाश करने वाला है और सब मंगलो मे प्रथम मगल है। श्वे० सप्रदाय मे इस गाथा के पद और नमस्कार मन्त्र के ५ पदो को मिलाकर ९ पद वाला नवकारमंत्र भी माना है।

गुरुपंचनमस्कारलक्षण मत्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जतुपवित्रीकरणक्षमम् ॥३८॥
श्रियमात्यतिकी प्राप्ता योगिनो येऽत्र केचन ।
अमुमेव महामत्र ते समाराध्य केवलम् ॥४१॥
प्रभावमस्य निश्शेषं योगिनामप्यगोचरम् ।
अनभिज्ञो जनो ब्रूते य स मन्येऽनिलार्दित ॥४२॥
अनेनैव विशुद्ध्यति जन्तव पापपकिता ।
अनेनैव विमुच्यते भवक्लेशान्मनीषिण ॥४३॥
असावेव जगत्यस्मिन्भव्यव्यसनबाधव ।
अमु विहाय सत्त्वाना नान्य कश्चित्कृपाकर ॥४४॥
—ज्ञानार्णव, (शुभचन्द्र कृत) अध्याय ३८ ।

अर्थ—यह पंचनमस्कार मत्र सर्वोत्कृष्ट है और ससारके प्राणियो को पवित्र करने मे समर्थ है अत इसका ध्यान करना चाहिए। ३८। जिन ऋषियो ने मोक्ष प्राप्त किया है वह सिर्फ इस मन्त्र का आराधन करके ही प्राप्त किया है। ४१। इसका प्रभाव योगियो के भी अगोचर है। अज्ञानीजन जो इसके विषय मे कुछ भी कहने का दावा करते है वह पागल का प्रलाप समझना चाहिए।४२। एकमात्र इसी के द्वारा पापी अपने पापो से शुद्ध होते है और इसी के द्वारा ज्ञानी ससार के दु खो से विमुक्त होते है।४३। इस ससार मे भव्यजीवो का संकट मे यही एक बन्धु है इसको छोडकर ससारी प्राणियों का और कोई सहायक नही है।४४।

इस पचनमस्कार महामन्त्र के साथ—

चत्तारि मगल—अरिहंता मगल, सिद्धा मगल, साहू मगल, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल ।

चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहन्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरण पवज्जामि—अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहु सरण पवज्जामि, केवलिपण्णत्त धम्म सरण पवज्जामि ॥

यह 'चत्तारिदडक पाठ' भी बोला जाता है। इस मगलोत्तम शरण पाठका सम्बन्ध नमस्कार मत्र के साथ शुरू से ही बहुत प्राचीन समय से आज तक चला आ रहा है। नीचे एतद्विषयक कुछ प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत किये जाते है—

(१) सामायिक दडक (गौतम महर्षिकृत) मे नमस्कार मत्र मगलोत्तमशरणपाठपूर्वक दिया हुआ है इस पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत प्राचीन सस्कृत टीका भी है। देखो "क्रियाकलाप" पृ० १४२ से १४५।

(२) पाक्षिकादिप्रतिक्रमण (गौतम कृत) देखो 'क्रियाकलाप पृ० १०५—

इच्छामि भते! पडिक्कमणमिद सुत्तस्स मूलपदाण उत्तरपदाणमच्चासणदाए त जहा—णमोक्कारपदे अरहतपदे सिद्धपदे आइरियपदे उवज्झायपदे, साहुपदे मगलपदे, लोगोत्तमपदे सरणपदे अगगेसु पुव्वगेसु पाहुडेसु से अक्खरहीण वा पदहीण वा सरहीण वा वजणहीण वा अत्थहीण वा तस्स मिच्छा मे दुक्कड।

इसमे नमस्कार मन्त्र को मगलोत्तमशरणपाठ पूर्वक उल्लेखित किया है और अग पूर्वांग पाहुडादि से पूर्व स्थान दिया है इससे इसकी महत्ता और अतिप्राचीनता का परिचय मिलता है।

(३) भावपाहुड (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) (षट् पाहुड,—श्रुतसागरी टीकायुक्त पृ० २७३)

झायहि पच वि गुरवे चउमगलसरणलोयपरियरिए ।
णरसुरखेचरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२२॥

टीका—ध्याय त्व हे मुने ! पचापि गुरून् पचपरमेष्ठिन चतु मगल-लोकोत्तमशरणभूतानित्यर्थ. ।

(४) पउमचरिय (विमलसूरि कृत) पर्व ८६

इणमो अरहताण सिद्धाण णमो सिव उवगयाण ।
आयरियउवज्झायाण णमो सया सव्वसाहूण ॥६३॥
अरहतो सिद्धो वि य साहू तह केवलीण धम्मो य ।
एए हवति नियय, चत्तारि वि मगल मज्झ ॥६४॥
जावइया अरहता माणुसखित्तादि होति जयनाहा ।
तिविहेण पणमिऊण ताण सरण पवण्णोऽह ॥६५॥

पर्व ४८—अरहतसिद्धसाहूधम्मो तुह मगल होउ ॥१०७॥

(५) पद्मचरित (रविषेणाचार्य कृत) पर्व ८९

अर्हद्भ्योऽथ विमुक्तेभ्य आचार्येभ्यस्तथा त्रिधा ।
उपाध्यायगुरुभ्यश्च साधुभ्यश्च नमो नम ॥१०४॥
अर्हन्तोऽथ विमुक्ताश्च साधव केवलीरित ।
धर्मश्च मगल शश्वदुत्तम मे चतुष्टयम् ॥१०५॥

पर्व ४८—अर्हन्तो मगल सतु तव सिद्धाश्च मगलम् ।
मगल साधव, सर्वे मगल जिनशासनम् ॥२१२॥

(६) वरागचरित (जटासिंहनदि कृत) सर्ग १५

शरणोत्तममागल्य नमस्कारपुरस्सरम् ।
व्रतवृद्ध्यै हृदि ध्येय संध्ययोरुभयो सदा ॥१२१॥

(७) हरिवशपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) सर्ग २२

पुण्यपचनमस्कारपदपाठपवित्रितौ ।
चतुरुत्तममागल्यशरणप्रतिपादिनौ ॥२६॥

(८) महापुराण (जिनसेनाचार्यकृत) पर्व २५

चतु शरणमागल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधी ।
पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि माम् ॥७७॥

(९) अनेकार्थनाममाला (धनजय कृत)

अर्हत्सिद्धमिति द्वावप्यर्हत्सिद्धाभिधायिनौ ।
अर्हदादीनपि प्राहु शरणोत्तममगलान् ॥४६॥

(१०) ज्ञानार्णव (शुभचन्द्राचार्य कृत) अध्याय ३८

गुरुपचनमस्कारलक्षण मत्रमूर्जितम् ।
विचिन्तयेज्जगज्जन्तुपवित्रीकरणक्षमम् ॥३८॥
मगलशरणोत्तमपदनिकुरब यस्तु सयमी स्मरति ।
अविकलमेकाग्रधिया स चापवर्गश्रियं श्रयति ॥५७॥

(११) सुभापितरत्नसदोह (अमितगति कृत) अध्याय ३१

नमस्कारादिक ध्येय शरणोत्तममगलम् ।
सध्यानत्रितये शश्वदेकाग्रकृतचेतसा ॥८०५॥

(१२) चारित्रसार (चामुडराय कृत) के प्रारम्भ मे

अरिहननरजोहननरहस्यहर पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय,
लोकोत्तमाय- शरणाय विनेयजतो. ।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं,
स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥

(१३) सागारधर्मामृत (आशाधर कृत) अध्याय २

जिनानिव यजन्सिद्धान् साधून् धर्मं च नंदति ।
तेऽपि लोकोत्तमास्तद्वच्छरण मगल च यत् ॥४२॥

(१४) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय ५

ये मगललोकोत्तमशरणात्मान समृद्धमहिमान ।
पातु जगत्यर्हत्सिद्धसाधुकेवल्युपज्ञधर्मास्ते ॥९॥

(१५) जिनयज्ञकल्प (आशाधर कृत) अध्याय २

तेऽमी पच जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्सिद्धातदिक्साधवो
मागल्यं भुवनोत्तमाश्च शरण तद्वज्जिनोक्तो वृप ।
अस्माभि परिपूज्य भक्तिभरत पूर्णार्घ्यमापादिता
सघस्य क्षितिपस्य देशपुरयोरप्यासता शातये ॥२१॥

इन सब प्रमाणो से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि—नमस्कार-मन्त्र के साथ प्राचीन समय से ही चत्तारि मगलोत्तम शरण पाठ प्रचलित रहा है। इस तथ्य को किस खूबी के साथ प्रत्येक प्रमाण मे ग्रथित किया गया है यह इन प्रमाणो को ध्यान पूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक पाठक को स्वय अनुभव हो जायगा।

इस विषय मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अभिमत भी दिगम्बरवत् ही है इसके लिए ग्रन्थाभाव से सिर्फ एक ही प्रमाण नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

(१) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य कृत) प्रकाश ८

तथा पुण्यतम मन्त्र जगत्त्रितयपावनम् ।
योगी पचपरमेष्ठिनमस्कार विचिन्तयेत् ॥३२॥
मगलोत्तमशरणपदान्यव्यग्रमानस ।
चतु समाश्रयाण्येव स्मरन्मोक्ष प्रपद्यते ॥४२॥

नोट—श्लोक ४२ की स्वोपज्ञटीका मे पूरा और शुद्ध चत्तारिदण्डक पाठ दिया हुआ है जैसा कि हम ऊपर लिख आये है।

अब इस पाठ के कुछ पदो पर नीचे किंचित् ज्ञातव्य प्रस्तुत किया जाता है —

१ आइरियाण की जगह आयरियाण, लोगुत्तमा की जगह लोगोत्तमा और पव्वज्जामि की जगह पवज्जामि पाठ भी पाया जाता है।

२ 'साहु, एकवचन है' और 'साहू' बहुवचन है (प्राकृत मे)।

३ चत्तारि सरणं पवज्जामि मे पवज्जामि का सस्कृत रूपान्तर प्राय विद्वान् 'प्रपद्ये' करते हें* और अर्थ इस प्रकार करते है —

मै चारो की शरण को प्राप्त होता हूँ—चारो की शरण अगीकार करता हूँ किन्तु प्रभाचन्द्र ने अपनी सस्कृत टीका मे इसका अर्थ इस प्रकार किया है —

अर्हदादीन् चतुर शरण प्रव्रजामि। इसमें 'पव्वज्जामि' का अर्थ 'प्रपद्ये' न करके 'प्रव्रजामि' किया है। गमनार्थक 'व्रज' धातु से पहिले उत्कृष्टार्थक 'प्र' उपसर्ग लगाकर सम्भवत यह द्योतित किया गया है कि—अन्य सबकी शरण मे जाना छोडकर इन चारो की ही शरण मे जाता हूँ। वैसे 'प्रव्रजन' का अर्थ सन्यास, दीक्षा होता है। किन्तु प्राकृत मे गमन और सन्यास दोनो होते है देखो 'प्राकृत शब्द महार्णव' और 'जैनागमशब्द-सग्रह' मे—पव्वज्जा (प्रव्रज्या) तथा पव्वय (प्रव्रज) शब्द।

* (आदिपुराण पर्व ४० श्लोक २७ मे—
'शरण प्रपद्यामि, प्रयोग है अत पव्वज्जामि का 'प्रपद्यामि' सस्कृत रूप भी होता है।)

भारतीय श्रुति-दर्शन केन्द्र
जयपुर

हरिश चन्द्र कोलिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड, जयपुर-4

समाधिमरण : जीवन सुधार की कुंजी

काय और कषायो को कृश करते हुए शात भावोसे शरीरके त्याग को समाधिमरण कहते है। सल्लेखना, सन्यास मरण, अन्त्यविधि, पडित मरण, अतक्रिया, मृत्यु-महोत्सव, आर्याणा महाक्रतु आदि सब इसी के नाम है। समाधिमरण धारण करनेवाले को—साधक, क्षपक, प्रेयार्थी आदि कहते है।

अनेको अपराध करने पर भी अत मे मनुष्य क्षमा मागने पर जैसे अपराधो से मुक्त हो जाता है, उसी तरह जीवन भर पापारभ करनेवाला भी अगर अन्त समय मे समाधि धारण कर लेता है तो अवश्य सुगति का पात्र होता है। 'अन्त भला सो भला' की इस बात को जैन ही नही जैनेतर सप्रदायो मे भी महत्त्व दिया गया है। वैदिक पुराणो मे अनेक ऐसे आख्यान आते है जिनमे अन्त समय मे नारायण का नाम लेनेवाले पापी भी वैकुठगामी हुए है। अजामील ने सारी जिन्दगी पापकर्म मे बिताई परन्तु अन्त समय मे नारायण का नाम लेने से वह वैकुण्ठवासी हुआ। इसी बात को जैन कथाकारो ने भी दूसरे शब्दो मे चित्रित किया है। जीवन्धरकुमार ने मरणासन्न कुत्ते को णमोकार मन्त्र दिया तथा तीर्थंकर पार्श्वप्रभु ने अग्नि मे जलते हुए दो सर्पो को नमस्कार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से ये तिर्यच जीव भी देवगति को प्राप्त हुए। महाभारत युद्ध की समाप्ति के बाद अपना कार्य पूरा हुआ जानकर सहर्ष मृत्यु का स्वागत करने वाले भीष्म पितामह की 'इच्छा मृत्यु' (इच्छा पूर्वक मरण) भी जैन सल्लेखना से मिलती हुई है।

सारी जिन्दगी जप तप करने पर भी अगर मृत्यु समय समाधि धारण न की जावे तो सारा जप तप उसी तरह वृथा होता है जिस तरह

विद्यार्थी पूरे वर्ष भर पाठ याद करे और परीक्षा के समय उसे भूल जाये या शस्त्राभ्यासी योद्धा रण क्षेत्र मे जाकर कायर वन जाये या कोई दूर देशान्तर से धनोपार्जन करके लाये और उसे गाँव के समीप आकर लुटा बैठे। विना समाधिमरण के चारित्रवान् जीवन भी फलहीन वृक्षकी तरह निस्सार होता है। (इसी को स्वामी समन्तभद्रने कितने सुन्दर शब्दो मे कहा है—अन्तक्रियाधिकरण तप फल सकलदर्शिन स्तुवते। तस्मात् यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३॥) (रत्नकरण्डश्रावकाचार) अर्थ—समस्त मतावलम्वी तपका फल अन्तक्रिया समाधिमरण पर ही आधारित बताते है अत पुरुषार्थ भर समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भारतीय सस्कृति मे जो अन्तक्रिया पर इतना महत्त्व दिया गया है उसमे वैज्ञानिक रहस्य है, इससे भारतीय महर्षियो के आत्म-तत्त्व ज्ञान की पराकाष्ठा जानी जाती है। (मृत्यु के समय अगर आत्मा कषायो से सचिक्कण (चीकनी) नही होती तो वह अनायास शरीर त्याग कर देती है और उसे मारणातिक सक्लेश भी विशेष नही होता, उसका मानसिक सतुलन ठीक रहता है जिससे स्वेच्छानुसार सद्गति प्राप्त करने मे वह समर्थ होती है, और जब सद्गति प्राप्त हो जाती है तो पूर्वोपार्जित दुष्कर्म भी उसका कुछ नही बिगाड़ पाते, और अगर अन्त समय मे परिणाम कलुषित हो जाते है तो दुर्गति प्राप्त होती है जिसमे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मो को भोगने का अवसर ही नही मिलता। इस तरह सारा काता पीदा कपास या गुड गोवर हो जाता है और दुर्गति की परम्परा बढ जाती है। इससे जाना जा सकता है कि समाधिमरण को जीवन मे कितनी महत्ता है।)

तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना ॥१६॥

—मृत्यु महोत्सव।

(तपे हुए तप, पालन किए हुए व्रत और पढे हुए शास्त्रो का फल समाधिमरण मे ही है—विना समाधिमरण के ये वृथा है।)

यहाँ यह शका नही करना चाहिए कि—"जव समाधिमरण से ही सव कुछ होता है तो क्यो जप-तप-चारित्र की आफत मोल ली जाय, मरण समय समाधि ग्रहण कर लेगे।" परन्तु ऐसा विचारना ठीक नही क्योकि सारी जिन्दगी तप और चारित्र—काय तथा कपाय के कृश करने का अभ्यास इसी लिए किया जाता है कि अन्त समय मे भी परिणाम निर्मल रहे और समाधि ग्रहण करने मे सहूलियत रहे। सभवत इसी लिए कुन्दकुन्द आचार्य ने सल्लेखना को शिक्षाव्रत मे स्थान देने की दूरदर्शिता की है। समाधिमरण और तप चारित्र मे परस्पर कार्य-कारणरूपता है। जव उपसर्ग और अकाल मृत्यु का अवसर आ उपस्थित हो यथा—सिहादि क्रूर जन्तुओ का अचानक आक्रमण, सोते हुए घर मे भयकर अग्नि लग जाना, महावन मे रास्ता भूल जाना, वीच समुद्र मे तूफान से नाव डूवना, विपधर सर्प का काट खाना, आदि, तव पूर्वकृत चारित्र का अभ्यास ही काम आता है। सारी जिन्दगी चारित्र मे विताने वाला अगर अन्त समय मे असावधान होकर अपने आतमधर्म से विमुख हो जाये तो उसका दोप तप चारित्र पर नही है यह तो उसके पुरुपार्थ की हीनता और अभ्यास की कमी है या वुद्धि विकार है—इसे ही तो "विनाशकाले विपरीतवुद्धि" कहते है।

समाधिमरण का इच्छुक मृत्यु से भयभीत नही होता। वह अच्छी तरह समझता है कि मरण आत्मा का नाश नही है, मरण तो दूसरा जन्म धारण करने को कहते है। वह मृत्यु को महोत्सव समझता है, इसे आत्मा का शरीर के साथ विवाह समझता है, (शरीर का शरीर के साथ विवाह तो लौकिक है वह इसे अलौकिक विवाह समझता है और इस तरह मृत्यु का सहर्प आलिगन करता है। तेल हीन दीप और दग्धरज्जु तथा वृक्षके सूखे हुए पत्ते की तरह जीर्ण और शिथिल शरीररूपी नौकर को जव वह

अपने चारित्र साधन के लिए अयोग्य समझता है तो उसे पेंशन देकर दूसरा योग्य नौकर (शरीर) का प्रबन्ध करता है। इतनी उदात्त भूमिका पर स्थित साधक कभी कायर नही हो सकता, वह तो परम शूर–आत्म विजयी मृत्युजयी है।)

आत्मघात (विष खाकर, तालाब कुँए आदि मे डूबकर, स्वय फासी लगाकर या शस्त्रास्त्र से अपनी जीवन लीला समाप्त करना), सती प्रथा (मृत पति के साथ चिता मे जल जाना), आमरण अनशन (अपनी किसी माग की पूर्ति के लिए मरण पर्यन्त आहार त्याग करना), आदि समाधिमरण की कोटि मे नही आ सकते। समाधिमरण और इनमे आकाश-पाताल, काच-हीरा, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, और ३, ६ के अक की तरह महान् अन्तर है। ये कषायो की तीव्रता से, स्वार्थ की भावना से, और कलुषित हृदय से किए जाते है जब कि समाधिमरण शान्त परिणामो से विवेक पूर्वक बिना किसी वाञ्छा के किया जाता है।

दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरण च वोहिलाओ य।
मम होउ जगद् बन्धव तव जिणवर चरण सरणेण॥



जैनसंघ और जैनसंदेश

जैनसंघ

श्री भारतवर्षीय दिगंबर जैनसघ, मथुरा को कौन नही जानता, यह जैन समाज और जैनधर्म की अनुपम सेवा करनेवाली एक पुरानी यशस्वी कार्यशील सस्था है। (इसका उदय सन् १९३० मे 'श्री भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ' के नाम से हुआ था उस समय आर्यसमाज का वडा जोर था। आर्यसमाजी जैनो को हर कही शास्त्रार्थ का चैलेज दे देते थे। आर्य-समाज के इन वितडावादो का समुचित उत्तर देने के लिये शास्त्रार्थ सघ का उदय हुआ।)

सन् १९३०–३१ मे केकडी (अजमेर) मे भी कुछ जैन युवको ने "श्री अनेकात प्रभाकर मडल" की स्थापना की और उन्ही दिनो वीरजयन्ती के अवसर पर इस आशय का एक पेम्पलेट छपवाकर वितरित किया —

"भव्या ! भविष्यति महोत्सव एक एव
वीरस्य केकडि पुरे प्रथिता जयन्ती ।
सगीत नृत्य गुण गीत्युपदेश वाद्यो–
स्थार्हन्मत प्रभवनादि विधिर्विधेय ॥

—जिस महानुभाव को जैनधर्म के विपय मे किसी भी प्रकार की शका हो पूछने पर सवका यथोचित युक्तिशास्त्र द्वारा संतोषजनक उत्तर दिया जायगा।"

जयती के रोज शहर मे विद्यार्थियो ने—मिथ्यामत विध्वसक जैनधर्म और सर्वधर्म शिरोमणि जैनधर्म की जय के नारे भी लगाये। इस सब से

आर्यसमाजी चिढ उठे और स्वामी कर्मानन्द जी को शास्त्रार्थ के लिए अजमेर से ले आये। स्वामी जी ने समस्त जैन समाज को शास्त्रार्थ का चैलेज दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया।

शास्त्रार्थ के दो विपय चुने गए (१) क्या ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है ? (२) क्या जैनशास्त्र सर्वज्ञ कथित है ?

मडल के मत्री श्री सुवालालजी कटारिया थे और अध्यक्ष श्री कानमलजी कर्णावट (श्वे०)। मत्रीजी ने प० माणिकचन्द जी और प० मक्खनलाल जी मोरेना आदि दि० जैन विद्वानो को आने के लिए पत्र दिये, सबने आनाकानी और वहानेबाजी की ही बाते की, किन्तु कोई आने को तैयार नही हुआ। सेठ लोगो के पास गए तो उन्हो ने भी निष्ठुरता का ही जवाव दिया कि—आप लोगो को समस्त जैन समाज के नाम से चैलेंज लेने का क्या अधिकार था आदि। किसीने इस सकट के समय किसी प्रकार का कोई आश्वासन तक नही दिया।

उधर अध्यक्ष जी ने अनेक श्वेतावर श्रीमतो को तथा न्यायविजय जी, पुण्यविजय जी, विद्याविजय जी, इन्द्रविजय जी आदि विजयात नामधारी अनेक विद्वान् सवेगी साधुओ को एव पडितो को पत्र दिये किन्तु किसी की ओर से कुछ भी जवाव नही आया। इससे स्थानीय जैन समाज मे गहरी चिन्ता व्याप्त हो गई।

उस समय शास्त्रार्थ सघ अम्बाला नया ही प्रकट हुआ था। जैन पत्रो मे उसकी विज्ञप्ति देखकर उसे भी निराशभाव से योही एक पत्र डाल दिया। पत्र का जवाव तत्काल आया—"घवराने की कोई जरूरत नही, हम तैयार है, तिथि से सूचित करे ताकि २–३ दिन पहिले आ जाये"। उत्तर पढकर सव लोगो को वडी खुशी हुई। इधर कुछ लोग सेठ चम्पालाल जी रामस्वरूप जी के यहाँ व्यावर गए तो उन्होने भी वडे प्रेम से मुलाकात की और बोले–जव चैलेंज ले ही लिया तो घवराने की कोई वात नही है। अपने को नीची नही खानी है। विद्वानो को वुलाने आदि मे जो

भी खर्चा हो वह हमारी केकडी दुकान से आप ले लें और उन्होंने दुकान के नाम चिट्ठी लिखकर दे दी।

शास्त्रार्थ सघ अम्वाला से सेठ शिव्वामल जी, प० राजेन्द्रकुमार जी, वर्धमान जी शास्त्री, मगलसेन जी, अजितकुमार जी आदि की मडली आई, वैंड वाजे से शानदार स्वागत किया गया। सघ के विद्वान्, स्वामी कर्मानन्द जी से मिले और उनसे कहा—पहिले आपके दर्शनानन्द जी अजमेर में हमारे पडित गोपालदास जी से परास्त हो चुके हैं फिर आप यह शास्त्रार्थ को वला मोल न ले। स्वामी जी वोले—उन्होंने विपय ही ऐसा ले लिया था मैंने जो विपय चुना है वह एकदम अनूठा है इसमे आप लोगो की कुछ नही चल सकेगी, मेरा विपय पुराणो का है दर्शनशास्त्रादि का नही। (सही वात यह थी कि—उन दिनो कर्मानन्द जी को वावू सूरजभान जी जैन वकील कृत—आदिपुराण पद्मपुराण की समीक्षाएँ मिल गई थी, यह सघा-सधाया मसाला था उसी के आधार से उन्होंने १—सीता किसकी पुत्री है, २—एक लाख योजन का हाथी, ३—दो कोस की जू, ४—भोगभूमियो की विशाल शरीर-अवगाहना, ५—हनुमान जी का सूर्य मडल को लात मारना, आदि प्रश्न तैयार कर लिए थे)

आखिर ६ दिन तक शास्त्रार्थ होना तय हुआ। शास्त्रार्थ के निम्न नियम निर्धारित किए गये —

(१) कोई भी पक्ष आदर के शब्दो मे ही प्रतिपक्ष के मान्यपुरुप का नाम लेवे, (२) कोई भी पक्ष अपने महापुरुपो की जय, शास्त्रार्थ की सीमा मे नही बुलावे।

ज्येष्ठ मास मे यह शास्त्रार्थ वडी ही शाति से हुआ। प्रतिदिन करीव ३—४ हजार के जनता इकट्ठी होती थी। लोग सास खीचकर एकाग्रमन से कान लगाकर सुनने को वैठ जाते थे। सुई गिरने तक का शब्द मालूम पड जाये ऐसी निस्तब्धता रहती थी।

दोनो पक्षो के मच कुछ दूरी पर अलग-अलग लगे हुए थे, दोनो के

सभापति अलग-अलग थे, दोनो के पास घडियाँ पडी थी। प्रत्येक को बोलने के लिए १० मिनट तक का समय था।

आर्यसमाज की तरफ से रामचन्द्र देहलवी, लक्ष्मणानन्द आदि २-३ लम्बे सोटे वाले सन्यासी एव कुछ अन्य विद्वान् आये थे। आर्यसमाज की ओर से ४ दिन कर्मानन्द जी बोले और २ दिन रामचन्द्र देहलवी बोले। जैन समाज की तरफ से छहो दिन प० राजेन्द्रकुमार जी ही बोले। स्वामी कर्मानन्द जी वडे ही ओजस्वी और मधुर वक्ता थे। इधर प० राजेद्रकुमार जी भी कम नही थे। वे भी वडे ही आत्मविश्वासी, प्रत्युत्पन्नमति और निर्भीक युवक वक्ता थे। सेठ शिव्वामल जी वृद्ध होते हुए भी वडे उत्साही और फुर्तीवाज थे। शास्त्रार्थ के समय किसी ग्रथ की जरूरत होते ही झट भागकर लाते थे, और जैन विद्वानो की युक्तियो से आर्य विद्वानो को निरुत्तर होते देखकर मारे खुशी के उनकी भुजाएँ फडक उठती थी। सघ के विद्वानो ने स्वामी कर्मानन्द जी को खूव छकाया और जैनधर्म की दुन्दुभी वजाई। अन्तिम उत्तर-पक्ष जैनो का था यह भी विजय मे सहायक रहा।

सघ के आने से जैन समाज का गौरव वढा और धर्म की काफी प्रभावना हुई। अगर सघ ऐन मौके पर न आता तो इधर के प्रात में जैनधर्म की वहुत अवज्ञा होती। तभी से केकडी और आस-पास के ग्रामो मे सघ के प्रति काफी श्रद्धा है, जो अव तक उसी तरह कायम है।

सघ का पहला शास्त्रार्थ केकडी मे ही हुआ। उसके वाद तो अनेक मौखिक और लिखित शास्त्रार्थ हुए जिनकी सख्या करीव १५० होगी। ये सभी शास्त्रार्थ वडी शाति और सुव्यवस्था पूर्वक सपन्न हुए—यह कम महत्त्व की वात नही है। वहुत से लोगो को तो शास्त्रार्थ लडाई-झगडे का दूसरा नाम प्रतीत होता है किन्तु इन झगडा कहे जाने वाले शास्त्रार्थों ने उस समय वहुत ही शाति और प्रेम की परिस्थापना की थी। अगर ये

शास्त्रार्थ न होते तो उल्टे अनेक झगडे-टटे चढ जाते और परस्पर हिंसा-द्वेष भभक उठता।

सघ ने, जैन समाज के दिल मे जो परवादियो से शास्त्रार्थ करने मे भय और सकोच घुस गया था उसे निकाल कर निर्भीकता प्रदान की और वहुत से जैन वन्धुओ की चलायमान धार्मिक आस्था का स्थितिकरण किया। जहाँ कही भी शास्त्रार्थ का मौका आया, सघ सदा तैयार रहा। दो-एक स्थानो पर आर्यसमाज ने केवल २४ घटे का नोटिस देकर, शास्त्रार्थ के लिए जैन समाज को ललकारा। जैन समाज का तार आते ही शास्त्रार्थ-सघ २४ घटे के भीतर ही वहाँ जा पहुँचा।

केकडी शास्त्रार्थ के चार वर्ष वाद ही सन् १९३५ दिसम्वर मे स्वामी कर्मानन्द जी जैन हो गए। यह सघ की एक महान् विजय थी। शास्त्रार्थ सघ की एक निष्ठा और करारी चोटो मे प्रतिपक्षी तिलमिला उठे। आर्य-सभा ने हार-थककर जैनो से शास्त्रार्थ नही करने का निश्चय कर लिया। यहाँ तक कि आर्यसमाजी वन्धुओ के आग्रह प्रेरणा करनेपर भी फिर आर्य-सभा, शास्त्रार्थ के लिये कभी तैयार नही हुई।

यह तो हुई अन्य मतवादियो के साथ शास्त्रार्थ की वात, किन्तु घर मे भी शास्त्रार्थ सघ को प० दरवारीलाल जी न्यायतीर्थ से लोहा लेना पडा—उन दिनो प० दरवारीलाल जी 'जैनजगत्' मे 'जैनधर्म का मर्म' शीर्षक लेखमाला वडे जोर-शोर मे निकाल रहे थे। 'मर्म' के नाम मे वे जैन सिद्धान्तो और आचारो की कडी आलोचना कर रहे थे। उनके लेखन कौशल, युक्ति और तर्कवाद ने अनेक वुद्धिवादियो को प्रभावित करना शुरू कर दिया था, कोई जैन पडित उनकी धारा प्रवाह लेखनी का जवाव देने की अपने मे हिम्मत नही पा रहा था—इसका कारण यह था कि पडितो मे दरवारीलाल जी जैसी चतुर्मुखी प्रतिभा नही थी। ज्यादा से ज्यादा पडितगण दि० ग्रथो के विशेषज्ञ थे, परन्तु दरवारीलाल जी का मुकाविला करने के लिए इतना ही पर्याप्त नही था, प्रत्युत श्वेताम्बर एव

जैनेतर साहित्य के विशाल अध्ययन के साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की पारायणता की भी जरूरत थी। श्री० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थपरीक्षादि समीक्षात्मक लेख लिखनेवाले प्रकाड विद्वान् को भी इस विकट समस्या पर 'एक अमोघ उपाय' शीर्पक विस्तृत लेख पत्रो मे लिखना पडा, जिसमे उन्होने वतलाया कि—प० दरवारीलाल जी की लेखनीका उत्तर देना हँसी खेल नही है, वह एक दो विद्वानो के वल-वूते का काम नही। इसके लिए तो सारे जैन विद्यालयो को ६ महीने के लिए वन्द कर एक जगह सव विद्वान् इकट्ठे होकर फिर उत्तर लिखे तो सिद्धि मिल सकती है अन्यथा नही आदि। मुख्तार साहव के इस कथन से प्रमाणित होता है कि—दरवारीलालजी का पाण्डित्य कितना वढा-चढा था। मुख्तार साहव के अमोघ उपाय को अव्यावहारिक होने से जैन समाज ने नही अपनाया किन्तु दूसरा भी कोई मार्ग किसी को नही सूझ रहा था। इस विपय मे जैन विद्वान् जितने ज्यादा अकर्मण्य और कायर वनते जा रहे थे उतने ही दरवारीलालजी के हौसले वढते जा रहे थे। शास्त्रार्थसव ने इस भीपण स्थिति को परिलक्षित किया और सन् ३४ मे 'जैनदर्शन' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरु किया। जिसमे प० राजेन्द्रकुमारजी ने दरवारीलाल-जी के 'मर्म' का धारावाहिक रूप से जवाव देना शुरू किया। प्रथम ही दरवारीलालजी के 'जैनधर्म का मर्म' शीर्पक पर आपत्ति उठाई गई, कुछ वाद-विवाद के वाद आखिर दरवारीलालजी को मानना पडा और अपने लेखो को पुस्तकाकार छपाते वक्त उसका नाम 'जैनधर्म मीमासा' रखना पडा। सघ ने भी जवाव मे अपनी 'विरोध परिहार' लेखमाला को इसी नामसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया। प० राजेन्द्रकुमारजी ने दरवारी-लालजी के साथ थूवौनजी क्षेत्र पर मौखिक शास्त्रार्थ भी किया। इस तरह समय पर वुद्धिवादियो की भ्राति का निराकरण और चलित श्रद्धा का स्थितिकरण किया गया।

'जैन दर्शन' पत्र ३ वर्ष तक पाक्षिक रूप मे और करीव ३ ही वर्प

तक मासिक रूप मे कुल ६ वर्ष तक निकला। इसके सम्पादक पं० कैलाशचन्द जी, अजितकुमार जी और चैनसुखदास जी थे। इसमे अनेक उत्तम लेख निकले।

इस तरह शास्त्रार्थो का युग समाप्त हो गया। इन शास्त्रार्थो मे प० राजेन्द्रकुमार जी ने ही प्रमुख भाग लिया। उनमे नेतृत्व का गुण गजव का था। लोगो का कहना है कि राजेन्द्रकुमारजी अगर इस क्षेत्र मे न होकर राजनैतिक क्षेत्र मे होते तो अवश्य ही वहुत ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होते।

सन् ३७ मे सघ के नाम मे से 'शास्त्रार्थ' शब्द निकालकर उसका नाम 'भारतवर्षीय दि० जैन सघ' कर दिया गया।

सन् ४० मे श्रवणवेल्गोला मे गोम्मट स्वामी के महामस्तकाभिपेक के अवसर पर सघ ने प्रचार की दृष्टि से एक स्पेशल ट्रेन यात्रा का प्रवन्ध किया और श्रवणवेलगोला मे जैन धर्म का खूब प्रचार किया, इससे सघ की चारो ओर धूम मच गई।

सघ ने सन् ४१, ५१, ६१ की सरकारी मनुष्य गणना मे 'जैन लिखाओ' आन्दोलन का अच्छा सचालन किया।

तथा—वयाना, कुडची, शिवहरा, खेखडा, जवलपुर, विजौलिया आदि काण्डो, भिवानी मन्दिर के मामले मे और चन्देरी देवगढ मूर्ति विध्वस काण्ड मे जैनो की अनुपम सेवा-सहायता की तथा हिसार सरक्यूलर को खत्म करवाया और 'जैनीदडनम्' पुस्तक को जब्त करवाया।

सघ ने इतिहास सशोधन, विश्व विद्यालयो मे जैन कोर्स, मुनि उपसर्ग निवारण, स्वाध्याय मडल स्थापन, सर्व धर्म सम्मेलनो मे जैन प्रतिनिधित्व, रेडियो पर जैन कार्य-क्रम, वन्द शास्त्र भण्डारो का खुलाना, पचायती झगडो के फैसले आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये और कर रहा है।

सितम्बर सन् ५६ मे प० सुमेरचन्द्र जी दिवाकर को 'विश्व धर्म परिषद्, मे जैन धर्म प्रचारार्थ जापान भेजा गया।

सघ का अपना एक अलग पुस्तक प्रकाशन विभाग है जिससे अब तक छोटे-वडे करीब ५० महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। इनमे सिद्धान्त ग्रन्थ 'जयधवला' के भाग और पडित प्रवर कैलाशचन्द जी लिखित महान् लोक प्रिय पुस्तक 'जैन-धर्म' अपना विशिष्ट स्थान रखते है।

सन् ४०-४१ मे अम्वाला से सघ मथुरा आ गया और मथुरा मे सघ का अपना विशाल भवन निर्माण हुआ।

सघ को शुरु से ही कर्मठ और सुयोग्य सेवाभावी सचालक मिले। आजकल प० जगन्मोहन लाल जी, प० कैलाशचन्द्र जी, प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरावाला आदि महानुभाव वडे ही निस्वार्थ भाव से इस सस्था की सेवा कर रहे हैं।

सघ का एक प्रचार विभाग भी है जो सघ की जान है। करीव २८ वर्ष से यह जैन धर्म का अनुपम प्रचार और महान् धर्म प्रभावना कर रहा है। इसमे ५-७ वैतनिक सुयोग्य प्रचारक विद्वान् है जो दो श्रेणी मे विभक्त है। एक तत्त्वोपदेशक, दूसरे सगीतोपदेशक। ये विद्वान् ग्रामो-शहरो मे जाकर जैन मन्दिरो और पब्लिक स्थानो पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते है। हर एक प्रचारक अपनी कला मे काफी दक्ष होता है। अत जनता अच्छी सख्या मे एकत्रित होती है और इनके रोचक उपदेश एव मधुर सगीत को वडी तन्मयता से श्रवण करती है। सघ के पास कोई ध्रौव्य-फन्ड नही है उसके ये एक-एक प्रचारक ही उसकी एक-एक लाख की निधि है। ये प्रचारक दि० समाज मे ही अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करे ऐसी कोई वात नही है। निमत्रण पर श्वे० समाज मे भी जाकर अपना कार्य-क्रम प्रस्तुत करने मे इन्हे कोई हिचकिचाहट नही है। कोई भी जैन प्रतिष्ठा, उत्सव विधान आदि हो, लोग सघ के विद्वानो को धर्म प्रभावना और उत्सव की शान बढाने के लिए अवश्य बुलाते है।

वास्तव मे इनके आने से उत्सवो की काफी रौनक वढ जाती है, लोग भी काफी इकट्ठे होते हैं। विना इनके, उत्सव फीके-फीके से लगते है। इस विषय मे प्रमाण के लिए मै जैन कुवेर सर सेठ हुकुमचन्दजी का एक पत्र उद्धृत करता हूँ—"श्री भारतवर्षीय दि० जैन सघ, समाज की एक मात्र कर्मठ और क्रिया-शील सस्था है। इसके यशस्वी विद्वान् प्रचारको से मै वडा प्रभावित हूँ। इन्दौर समाज के वडे-वडे उत्सव सघ के विद्वानो से सदा मुखरित रहे है। यही कारण है कि हमे अपने यहाँ कोई वडा आयोजन करने मे धर्म प्रभावना के लिए कभी चिन्तित नही होना पडता। इस सस्था के विद्वानो मे लगन और काम करने का ढग है। मेरी शुभ कामनाएँ और शुभाशीर्वाद सदा इस सस्था के साथ है। इसके प्रचारक, निष्ठा और विश्वास पूर्वक सदा धर्म-प्रचार करते रहे, यही भावना है।

—हुकुमचन्द सरूपचन्द जी।"

सघ ने अपनी कार्य कुशलता से लोगो के हृदय मे काफी स्थान वना लिया है। विद्वानो की मान्य सस्था 'विद्वद् परिषद्' का सघ को अच्छा सहयोग है। सघ का कोई विरोधी नही है। अपने गुणो और कार्यो से इसने अपने को सभी का प्रिय वना लिया है। सघ अपने "न धर्मो धार्मिकैर्विना" इस सिद्धान्त का पूरा परिपालक है।

जैन समाज मे सघ ही एक जीती-जागती सस्था है। इतने महान् उपयोगी और सुव्यवस्थित कार्य करने वाली कोई दूसरी सस्था समाज मे नही है।

'अखिल भारतीय', नाम रखने वाली दि० जैनो की महासभा और परिषद् आदि सस्थाएँ अगर सघ मे मिल जाये और उसका महासघ नाम रख दिया जाय तो यह जैन समाज के लिए वडे ही सौभाग्य की वात हो। फिर अलग-अलग परीक्षालयो, अलग-अलग जैन पत्रो और अलग-अलग नीतियो के रूप मे जो हमारी वहुमूल्य शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही है

वह सगठित होकर, समाज का ठीक दिशानिर्देशादि के द्वारा वास्तविक हित सपादन कर सके।

यह जमाना सगठन का है—अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापने से कुछ नही होने वाला है। सभी को अपने 'स्व और अह' का त्याग कर एक सूत्र मे वद्ध होना है। "सघे शक्ति कलौ युगे" समाज के नेताओ को इस ओर ध्यान देने की खास जरूरत है।

जैन सन्देश

सन् ४०-४१ मे सघ मथुरा मे अपने निजी भवन मे रहने लगा। तभी वावू कपूरचन्द जी आगरा के साप्ताहिक 'जैन सन्देश' को सघ ने चौथे वर्ष से अपना मुखपत्र वना लिया। वही टाइटिल पेज, आकार, पृष्ठ सख्या, शैली, टाइप, और प्रति वृहस्पतिवार को प्रकाशन शुरू से आज तक निर्वाध गति से चला आ रहा है।

प्रारम्भ मे करीव ४-५ वर्ष तक इसके सपादक प० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, वनारस रहे वाद मे प० वलभद्र जी जैन इसके सपादक और प्रकाशक दोनो हो गए, जो वर्ष १९ तक रहे। २० वे वर्ष से प० जगन्-मोहनलाल जी शास्त्री कटनी इसके सपादक हुए और २१वे वर्ष से फिर पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसी भी सम्पादन मे सम्मिलित हो गए। अव तक दोनो माननीय शास्त्री जी इसका बहुत ही सुन्दर सम्पादन कर रहे है।

सन्देश की रीति-नीति युगानुरूप है। यह पत्र "यथा नाम तथा गुण" है। इसकी यह उद्घोषणा है —

अभिलाषा है सभी सुखी हो साहस धारी।
पौरुप पुण्य विवेक वने उनके सहचारी॥

जग सेवा के हेतु चाहते है हम जीवन।
महावीर का लिए हुए सदेश पुरातन॥

सदेश की खास विशेपताएँ है—

प्रति वृहस्पतिवार को नियमित प्रकाशित होना, शुद्ध कलात्मक छपाई, सफाई, सुन्दर सपादन, साधारण और विद्वान् दोनो की योग्य रोचक सामग्री का चयन, समाचारो और लेखो का अविकल व अविलम्ब प्रकाशन, निर्भीक-उद्वोधक-सामयिक-तात्त्विक-सपादकीय लेख, जैन तिथि दर्पण, प्राप्त ग्रन्थो की निष्पक्ष और वास्तविक समालोचना, सुन्दर और सरस कविताएँ आदि। सदेश के अव तक अहिंसा अक, मूर्ति पूजा अक, राष्ट्रीय अक, आदि अनेक पठनीय एव सग्रहणीय विशेपाक निकल चुके है। ग्राहको को "दिगवरत्व और दि० मुनि" तथा "विरोध परिहार" जैसे वृहद् ग्रन्थ उपहार मे दिये जा चुके है।

प्रतिवर्प इसका एक पर्यूपण विशेपाक निकलता है जो वडा सुन्दर और सारगर्भित लेखो से पूर्ण होता है।

इसमे सन् ५४ (वर्प १८) से सन् ५८ (वर्प २२) तक कुल ५ वर्षो मे करीव ६०० महत्त्वपूर्ण शका-समाधान प० रतनचन्दजी मुख्तार के सयोजकत्व मे प्रकट हुए है। अगर ये विपयवार परिमार्जित हो अलग पुस्तक रूप से प्रकाशित हो जायें तो श्रेष्ठ रहे। इसी तरह महत्त्वपूर्ण सपादकीय लेखो और सुन्दर कविताओ के भी अलग-अलग पुस्तकाकार सस्करण निकल जाये तो साहित्य जगत् को अनुपम लाभ हो।

जुलाई ५८ से जैन सन्देशका त्रैमासिक शोधाक भी अलग निकलने लगा है जिसमे इतिहास, पुरातत्त्व, सिद्धान्त, दर्शन आदि के खोजपूर्ण लेख रहते है। शोधाक के प्रमुख सपादक—डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ है। शोधाक समेत सदेश का वार्पिक मूल्य ७) मात्र है। पता है—

—"जैन सदेश, साप्ताहिक, चौरासी, मथुरा"—

इन सव विशेषताओ को देखते हुए 'जैन-सदेश' के सामने अन्य पत्र घासलेटी रद्दी सूचीपत्र से मालूम पडते है। 'सदेश' समाज का एक यशस्वी और उच्चकोटि का पत्र है। हर एक जैन परिवार, जैन सस्था और पुस्तकालय को 'सदेश' का ग्राहक होना चाहिए। नये-पुराने सभी ग्राहको को 'सदेश' के प्रत्येक वर्ष की पूरी फाइल वना लेनी चाहिए, यह अनेक दृष्टियो से वहुत महत्त्वपूर्ण होगी। सघ का अपना निजी प्रेस नही है अगर यह हो जाये तो सघ को ग्रन्थ एव पत्र प्रकाशन मे अर्थ और समय की काफी वचत हो तथा अनेक सुविधाएँ और दूसरे लाभ मिलने लगे। सघ के अधिवेशन पर जो अध्यक्ष वनते है उन्हे अपनी दानराशि को इस ओर लगाना चाहिए।

२५ वर्ष पूरे होने पर रजतजयती, ५० पर स्वर्ण जयती, ६० पर हीरक जयती मनाई जाती है और ७५ वर्ष पर अमृत महोत्सव मनाया जाता है। तदनुसार मार्च ६२ मे जैन संदेश, पत्र के भी २५ वर्ष पूरे हो गए इस उपलक्ष्य मे सदेश का रजत जयती विशेषाक निकाला गया है। हम 'सदेश' का हृदय से अभिनदन करते है एव साथ मे यह भावना करते है कि—'जैन सदेश' इसी तरह समाज और धर्म की चिरकाल तक सेवा करता रहे।



तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण

चौवीस तीर्थंकरो के शरीर का वर्ण--रग शास्त्रो मे निम्न प्रकार बताया है —

१—"तिलोय पण्णत्ती" अधिकार ४

चन्दपह पुप्फदन्त कुन्देन्दुतुसार हार सकासा ।
हरिदा सुपास पासा सुव्वय णेमी सणील वण्णाओ ॥५८८॥
विद्दुम समाणदेहा पउमप्पह वासुपुज्ज जिणणाहा ।
सेसाण जिणवराण काया चामीयरायारा ॥५८९॥

२—'पउम चरिय' (विमल सूरि कृत) पर्व २०

चन्दाभो चन्द्र निभो बीओ पुण पुप्फदन्त जिणवसभो ।
कुसुम पियगु सवण्णो हवइ सुपासो विगयमोहो ॥५४॥
वर तरुण सालि वण्णो पासो णागिंद सथुओ भयव ।
पउमाभो पउमनिभो वसुपुज्जो किंसुय सवण्णो ॥५५॥
अजन गिरि सरिस निभो हवइ य मुणि सुव्वओ तियस णाहो ।
बरहिण कठावयवो नेमि जिणो जाय वा णदो ॥५६॥
निद्धन्त कणय वण्णा सेसा तित्थकरा समक्खाया ॥५७॥

३—'पद्म चरित' (रविषेणाचार्य कृत) सर्ग २०

चन्द्राभश्चन्द्रसकाश पुष्पन्दतश्च कीर्तित ।
प्रियगु मजरी वर्ण. सुपार्श्वो जिनसत्तम ॥६३॥
अपक्वशालिसकाश पार्श्वो नागाधिपस्तुत ।
पद्मगर्भसमच्छाय. पद्मप्रभ जिनोत्तम ॥६४॥
किंशुकोत्कर सकाशो वासुपूज्य प्रकीर्तित ।
नीलाजनगिरिच्छायो मुनिसुव्रत तीर्थकृत् ॥६५॥

मयूरकण्ठसकाशो जिनो यादवपुगव ।
सुतप्तकाचनच्छाया शेपा जिनवरा स्मृता ॥६६॥

४—"अकृत्रिम चैत्यालय पूजा"—

द्वौ कुन्देन्दुतुपारहारधवलौ, द्वाविन्द्रनीलप्रभौ
द्वौ वन्धूकसमप्रभौ जिनवृपौ, द्वौ च प्रियगुप्रभौ ॥
शेपा पोडश जन्ममृत्युरहिता सतप्तहेमप्रभा ।
ते सज्ज्ञानदिवाकरा सुरनुता , सिद्धि प्रयच्छन्तु न ॥

५—पूजासार (हस्त लिखित पत्र ५३)

पार्श्वसुपार्श्वौ हरितौ नीलाभौ नेमिसुव्रतौ ।
चन्द्रदतौ सितौ शोणौ पद्मपूज्यौ परे परे ।

इन सव ग्रन्थो मे—चन्द्रप्रभ और पुष्पदत को कुदपुष्प, चन्द्र, वर्फ एव हीरा–मुक्ताहार की तरह 'श्वेत', सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को प्रियगु मजरी (मेंहदी के पत्तो) की तरह अथवा विना पके धान्य के पौधो की तरह 'हरित', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलाजन गिरि अथवा मयूरकठ की तरह 'नील', पद्मप्रभु और वासुपूज्य को कमल अथवा टेसू के फूल की तरह 'लाल' और शेप १६ तीर्थकरो को तपाये सोने की तरह 'पीत' वर्ण वाले वताये है ।

६—वराग चरित (जटासिंहनदि) सर्ग २७

सुवर्णवर्णा खलु पोडशैव चन्द्रप्रभौ द्वौ च जिनो सिताभौ ।
द्वौ द्वौ च सध्याजनतुल्यवर्णौ द्वावेव दूर्वाकुरकाडभासौ ॥८७॥

७—जिनयज्ञ कल्प (आशाधर कृत) अध्याय १

सितौ चन्द्राकसुविधी श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ।
पद्मप्रभ सुपूज्यौ च रक्तौ मरकतप्रभौ ॥८०॥
सुपार्श्वपार्श्वौ स्वर्णाभान्शेपाग्चालेखयेत्स्मरेत् ॥८१॥

८—अनगारधर्मामृत अध्याय ८ श्लो ४१ की टीका (पृष्ठ ५६९)

श्रीचद्र प्रभनाथ पुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी
रक्ताभोजपलाश र्णवपुपौ पद्मप्रभद्वादशौ ॥
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्व सुपार्श्वश्च वै
शेपा सतु सुवर्णवर्णवपुपो मे पोडशाघच्छिदे ॥

९—गौतम चरित (मडलाचार्य धर्मचन्द्र कृत) अधिकार ५

चन्द्राभपुष्पदतेशौ श्वेतवर्णौ प्रकीर्तितौ ।
पद्माभद्वादशौ रक्तौ श्यामलौ नेमिसुव्रतौ ॥१२८॥
सुपार्श्वनाथ पार्श्वौ द्वौ हरिद्वर्णौ च पोडश ।
तीर्थंकरा वुधैर्ज्ञेया सतप्तकनकप्रभा ॥१२९॥

१०—चर्चाशतक (द्यानतरायजी कृत)

पहुपदत प्रभुचद चदसम सेत विराजे ।
पारसनाथ सुपास हरित पन्नामय छाजे ॥
वासुपुज्य अरु पदम रक्त माणिक द्युति सोहे ।
मुनिसुव्रत अरु नेमि श्याम सुन्दर मन मोहे ॥
वाकी सोरे कचन वरण यह विवहार शरीर थुत ।
निहचे अरूप चेतन विमल दरस ज्ञान चरित–जुत ॥४६॥

इन ग्रन्थो मे भी उपर्युक्त ५ नवर तक के ग्रन्थो की तरह ही तीर्थंकरो का रग वताया है सिर्फ मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को 'नील' वर्ण की वजाय 'कृष्ण' वर्ण वताया है

११—हरिवश पुराण (जिनसेनाचार्य कृत) सर्ग ६०

चन्द्राभ एव चन्द्राभ सुविधि शख सत्प्रभ ।
प्रियगुमजरी पुजवर्ण सुपार्श्व तीर्थकृत् ॥२१०॥
मेघश्यामवपु श्रीमान् पार्श्वस्तु धरणस्तुत ।
पद्मगर्भनिभाभश्च पद्मप्रभ जिनाधिप ॥२११॥

रक्तकिंशुकपुष्पाभो वासुपूज्यो जिनेश्वर ।
नीलाजनचलच्छायो मुनीन्द्रो मुनिसुव्रत ॥२१२॥
नीलकठस्फुरत्कठरुचिर्नेमि समीक्षित ।
सुतप्त कनकच्छाया शेषास्तु जिनपुगवा ॥२१३॥

(इसमे और तो सब उपर्युक्त ग्रन्थो की तरह ही बताया है सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्वनाथ को कगणी के फूल एव बादलो की तरह श्याम-कृष्ण वर्ण बताये हैं। साथ ही मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को नीलवर्ण बताये हैं)।

१२—तिलोयसार (नेमिचन्द्र कृत)

पउमप्पह वसु पुज्जा रत्ता धवला हु चन्दपहसुविही ।
णीला सुपास पासा णेमी मुणि सुव्वया किण्हा ॥८४७॥

१३—सस्कृत चौवीसी पूजा-जयमाल (ज्ञानचन्द्र जैनी लाहौर द्वारा प्रकाशित)।

१४—चौवीस तीर्थकरो का ज्ञातव्य नकशा (जीयालालजी, जौहरी नगर-मैनपुरी)

(इन सबमे और कथन तो यथा पूर्व है सिर्फ सुपार्श्व पार्श्व को 'नील' वर्ण और नेमि मुनिसुव्रतको 'कृष्ण' वर्ण बताया है। भूधरदासजी कृत 'पार्श्व पुराण' मे भी पार्श्वनाथ प्रभु को नील वर्ण लिखा है। देखो—अधिकार ७ श्लोक ३०—नील वरण नौ हाथ उतग।)

१५—गुणभद्राचार्य कृत उत्तर पुराण का एतत्सम्बन्धी कथन ठीक 'तिलोयपणत्ती' के समान है। *पुष्पदत कृत अपभ्रश उत्तर पुराण का

---

* देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन—पृष्ठ ४१ प्रियगु प्रसवच्छवि (सुपार्श्व) पृष्ठ ४३५—बालशालितनुच्छाय (पार्श्व) पृ० २४६ सर्पाशन-गलच्छाय (मुनिसुव्रत)
पृष्ठ ३७७—नीलाभोजदलद्युति (नेमिनाथ)

कथन गुणभद्रानुसार है सिर्फ नेमिनाथ को नील के बजाय कृष्ण बताया है।

१६—'एकसंधि जिन संहिता' (प्रतिमा लक्षण-परिच्छेद श्लोक नं० १४१) —हरिवंश पुराण की तरह कथन है (पार्श्व-सुपार्श्व = श्याम। मुनिसुव्रत-नेमि = नील बताये हैं।)

१७—कल्याण मन्दिर स्तोत्र श्लोक २३ मे पार्श्वनाथ को श्याम वर्ण बताया है। इसीलिए पाटण आदि मे पार्श्व नाथ 'सांवलिया पारस-नाथ' कहलाते है।

१८—पार्श्वनाथ चरित (वादिराज कृत सर्ग १ श्लोक ९, सर्ग १० श्लोक ६९ मे पार्श्व प्रभु को श्याम बताया है और सर्ग ११ श्लोक २३, ४५ एव सर्ग १० श्लोक ६८ मे मरकत (पन्ना) की तरह हरित वर्ण बताया है।

१९—'स्वयभू स्तोत्र' (२०-२) मे मुनिसुव्रत को मयूर कंठवत् नील वर्ण बताया है।

२०—मुनिसुव्रतकाव्य (अर्हद्दास कृत) सर्ग ७ श्लोक ४-६ मे मुनि-सुव्रतनाथ को कृष्ण वर्ण और सर्ग ६ श्लोक ३३ मे 'तमाल नीलाकृति' सर्ग ४ श्लोक २३ मे 'नीलाजन सन्निभ' बताया है।

२१—दौलतरामजी ने 'पद्म चरित' की वचनिका मे नेमिनाथ को मयूर कण्ठ समान श्याम बताया है (जबकि मयूर का कण्ठ नीला होता है) सर्ग २० श्लोक ६५।

२२—रामचन्द्र कृत 'चौवीसी पूजा।'
सुपार्श्वनाथ को हरितवर्ण। पार्श्वनाथ को मेघ समान कृष्ण वर्ण। मुनिसुव्रत को श्याम वर्ण बताया है।

२३—वृन्दावन कृत 'चौवीसी पूजा'। पार्श्वनाथ को हरित वर्ण। मुनि-सुव्रत और नेमिनाथ को श्याम वर्ण बताया है।

२४—कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यपूजा

जवू धातकि पुष्करार्द्ध वसुधा क्षेत्र त्रये ये भवा-
श्चन्द्राभोजशिखडिक ठकनकप्रावृड्घनाभा जिना ॥
सम्यग्ज्ञान चरित्रलक्षणधरा दग्धाष्टकर्मेन्धना
भूतानागतवर्त्तमानसमये तेभ्यो जिनेभ्यो नम ॥*

(जम्बू द्वीप, धातकी द्वीप, आधा पुष्करद्वीप अर्थात् अढाई द्वीप (मनुष्य लोक) के भरत ऐरावत और विदेह इन तीन क्षेत्रो मे उत्पन्न, श्वेत-रक्त-नील-पीत और कृष्ण वर्ण वाले, रत्नत्रय के धारी, अष्ट कर्मो के हता, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालीन तीर्थकरो के लिए नमस्कार हो।)

इन २४ प्रमाणो से स्पष्ट है कि १६ तीर्थकरो के पीत वर्ण, चन्द्रप्रभ-पुष्पदत के श्वेत वर्ण और पद्मप्रभ-वासुपूज्य के रक्त वर्ण होने मे सव ग्रन्थ एक मत है। सिर्फ सुपार्श्व और पार्श्व तथा मुनिसुव्रत और नेमि इनके वर्ण के विषय मे परस्पर मतभेद है। कोई सुपार्श्व पार्श्व को हरित्त, कोई कृष्ण और कोई नील वर्ण वताते हे। इसी तरह कोई मुनिसुव्रत और नेमि को नील और कृष्ण वर्ण वताते है जिसकी उपरोक्त २४ प्रमाणो के अनुसार निम्नाकित तफसील है —

१ से ५ और १५—सुपार्श्व पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = नील।
६ से १०—सुपार्श्व-पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = कृष्ण।
११ और १६—सुपार्श्व-पार्श्व = कृष्ण। सुव्रत-नेमि = नील।
—२४—
१२ से १४—सुपार्श्व-पार्श्व = नील। सुव्रत-नेमि = कृष्ण।
१७—पार्श्व = श्याम। १८—पार्श्व = श्याम और हरित। १९—सुव्रत = नील।

* 'ज्ञानपीठ पूजाजलि', पृ० ६४ मे इसका अधूरा और गलत अर्थ किया है।

२०—सुव्रत = कृष्ण (नील)। २१—नेमि = श्याम। २२—सुपार्श्व = हरित। पार्श्व, सुव्रत = श्याम।

२३—पार्श्व = हरित। सुव्रत-नेमि = श्याम।

ऐसी हालत मे यह विचारणीय हो जाता है कि—ग्रन्थो मे यह परस्पर विरुद्ध और भिन्न कथन क्यो है? क्या इसका कोई समाधान या सगति भी है या नही?

नीचे समाधान प्रस्तुत किया जाता है —

काला, नीला और हरा ये तीनो रग एक (कृष्ण) ही माने जाते है—ऐसा कवि संप्रदाय है। महाकवि कालिदास ने अपने 'रघुवश' सर्ग २ श्लोक १७ मे लिखा है —

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखर्वाहिणानि।
ययौ मृगाव्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥

नदिनी गाय को चरा कर शाम के वक्त राजा दिलीप वापस घर को लौटने लगे तो इस प्रकार उन्होने वन की शोभा देखी—

"सरोवर से निकले (कीचड से लिप्त अत श्याम वर्ण) शूकर समूह और अपने आवास की ओर जाते (नील वर्ण) मयूर तथा जिस पर मृग बैठे है ऐसी (हरी) दूव इन तीनो से मानो वन श्याम वर्ण हो रहा था।"

इस प्रकार कवि ने चमत्कारिक शैली से कृष्ण, नील और हरित इन तीनो को एक श्याम वर्ण द्योतित किया है।*

---

* धनजय नाममाला के अमरकीर्ति भाष्य (ज्ञानपीठ प्रकाशन) पृ० ७२ मे भी कृष्ण रग के पर्यायवाची नामो मे हरित और नील-मेचक (मेचक शिखिकण्ठाय इति दुर्ग) शब्द दिये है इससे भी जाना जाता है कि हरे नीले को काले कहने की कवियो की मान्यता रही है।

यह कवि सम्प्रदाय कोरी कल्पना मात्र ही हो ऐसा नही है प्रत्युत प्रत्यक्ष अनुमानादि से भी इसकी पुष्टि होती है यथा—गहरे नीले रग के पदार्थ जैसे नीलम का पत्थर, मोर तूते की डली सामान्य तौर से काली ही दिखाई देती है। रोशनी के सामने करने पर या टुकडे करने पर ही वह नीली दिखाई देती है। इसी तरह गहरे हरे रग के पदार्थ भी काले ही दिखाई देते है जैसे पन्ने का पत्थर आदि।

सस्कृत शब्दकोशो मे भी नीला रग अलग नही बताया गया है। वह कृष्ण रग के पर्यायवाची रूप मे ही बताया गया है, देखो—"अमर कोष" काण्ड १ वर्ग ५ श्लोक २३ —कृष्णे नीलाऽसित श्याम काल श्यामल मेचक, ये ७ नाम काले रग के दिये है जिनमे १ नाम 'नील' भी है। और इसीलिए भौरे को नीलक, नीलगु। काले उडद को नील माष। कीचड और अन्धकार को नील पङ्क। कृष्णाजनगिरि को नीलगिरि। अग्नि को नील पृष्ठ। काली मक्खी को नील मक्षिका। शनिश्चर को नीलवसन। काले सुरमे को नीलाजन। काले बादल को नीलाभ कहते है। इसी दृष्टि से प्रमाण न० २० के 'तमालनील' और 'नीलाजन' शब्दो मे प्रयुक्त 'नील' शब्द का अर्थ नीला न होकर काला ही है क्योकि तमाल वृक्ष काला ही होता है (देखो अमर कोष—"कालस्कधस्तमाल स्यात्") इसी तरह अजन सुरमा भी काला ही होता है।

'जिन सहस्र नाम' की श्रुतसागरी टीका पृष्ठ २११ मे 'केशव' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए लिखा है—"प्रशस्ता अलिकुलनीलवर्णा केशा-मस्तके विद्यते यस्य स केशव" अर्थात् जिसके शिर पर भँवरे के समान काले केश हो उसे केशव कहते है। इसमे भी स्पष्टतया नील शब्द को कृष्ण वर्ण के ही रूप मे प्रयुक्त किया है। इन सब प्रमाणो से यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि—'नील' का अर्थ कृष्ण भी होता है। अब 'हरित' के विषय मे नीचे कुछ विवेचन किया जाता है —

कवि लोग इस पृथ्वी को "शस्यश्यामला" अर्थात् हरे हरे पौधो से श्याम वर्ण वाली, इस विशेषण से व्यक्त करते है। इससे हरे को काला कहने की पद्धति का पता लगता है। इसी दृष्टि से वादिराज ने 'पार्श्वनाथ चरित' मे पार्श्वप्रभु को एक जगह हरा और एक जगह श्याम लिखा है। देखो प्रमाण न० १८। तिलोयसार गाथा ७८४ मे तीसरे काल के मनुष्यो का शरीर 'प्रियगु-श्याम = हरित-श्याम वर्ण वाला वताया है। इस तरह स्पष्ट है कि हरे को श्याम भी कहा जाता है।

इन सव विवेचन से जिन्होंने नील अथवा हरित की जगह श्याम-कृष्ण वर्ण लिखा है वह तो समझ मे वैठ जाता है किन्तु जिन्होने हरित की जगह नीलवर्ण लिखा है उसका क्या समाधान है ?

लोक मे हरित शाक सब्जी को नीलोती कहते है। मालवा मे हरे चनो को लीलवा कहते है (नील और लील एक ही शब्द है यथा नीलगर, लीलगर)। हरी दूव को हिन्दी और सस्कृत मे 'नील दूर्वा' कहते है। कोकण मे 'नीली हरियाली,' गुजराती मे 'नीलोध्रा,' लीलीध्रो। मराठी मे 'नील दूर्वा' हरयाली, काली दूर्वा कहते है।

(प्राकृत शब्द महार्णव, मे भी 'णील' शब्द का अर्थ हरा और नीला दोनो वताया है और प्रमाण मे ठाणाग व पण्णवणा सुत्त १ का नाम दिया है। इसी तरह कोशो मे इन्द्रनीलमणि का अर्थ नीलम (नीले रग की मणि) और मरकत (हरे रग का पन्ना) दोनो दिया है।

गोम्मटसार जीव काण्ड गाथा ४९५ मे जघन्यभोगभूमि वालो का शरीर हरित वर्ण वताया है, इसे ही 'गौतम चरित्र, अ० ५ श्लोक ९२ मे 'नील' वर्ण से कहा है।

इस सवसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि—हरे रग को नीला कहने की भी प्रणाली है। हरा रग वनता भी नीले और पीले रग के सयोग से है।

इस प्रकार यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकारो

ने जो हरित, कृष्ण, और नील इन तीनो को परस्पर उलट-पुलट अथवा एक श्याम वर्ण ही प्रयुक्त किया है, वह अयुक्त नही है।

फिर भी एक सवाल उत्पन्न होता है कि तब क्या हरे और नीले कोई अलग रग नही है? अगर है तो पार्श्व-सुपार्श्व और मुनिसुव्रत-नेमी का वास्तविक रग क्या है? क्या ये चारो काले ही है? अगर ये काले ही होते तो ग्रन्थकार उन को अलग अलग नही बताते, चारो को एक कृष्ण वर्ण का ही लिख देते। अलग अलग (युग्म) बताने से और साथ में अलग अलग रग के वैसे ही उदाहरण देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि—इनका रग भिन्न रहा है।

वह भिन्न रग काले हरे और नीले में से कौन से तीर्थंकर का वास्तविक कौनसा है इसको निर्णय करने का हमारे पास कोई साधन नही है। जो भी मान्य ग्रन्थकारो ने लिखा है वह परस्पर विरुद्ध होने पर भी उसे सग्रह करके चलना ही श्रेयस्कर है।

फिर भी युक्तिवाद का आश्रय लें तो निम्न तथ्य सामने आता है। काले रग के मनुष्य तो देखे जाते है किन्तु हरे और नीले रग के मनुष्य कही देखने मे नही आते—हाँ नीली आँखो के मनुष्य अवश्य देखे जाते है।

हरा रग कोई स्वतन्त्र रग नही है वह पीले और नीले रग के सयोग से बनता है इसीलिए उसका एक नाम 'पीतनील' है। देखो—'अभिधान चिन्तामणि' कोश पृष्ठ ५५९—'पीतनील पुनर्हरित्'।

जैन शास्त्रकारो ने रग के ५ भेद बताये है—ये ही चौबीस तीर्थंकरो के वर्ण के आधार रहे है। ये ५ भेद इस प्रकार है—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इनमे नीला रग तो है किन्तु हरा नही।

इसी तरह वर्ण नाम कर्म के उदय से जो कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म (लाल), शुक्ल ये ६ द्रव्यलेश्या—शरीर का रग बताया है, उसमे भी नीला रग तो है किन्तु हरा नही।

इस दृष्टि से तिलोयसारादि (प्रमाण न० ११–१२–१३–१४–१६–२४) क ।कथन जिनमे हरे रग के तीर्थकर नही वताये है विशेष उचित प्रतीत होता है—वशर्ते कि 'नील' का अर्थ 'हरा' न लिया जाय। ('तिलोय सार' के कर्ता ने 'नील' के साथ कोई उदाहरण भी नही दिया है जिससे जाना जाता कि उन्हे नील से कौनसा वर्ण विशेप इष्ट था।

यह तो हुआ २४ तीर्थकरो का वर्ण विवेचन। अव प्रसगोपात्त अन्य पौराणिक महापुरुपो का भी शरीर-वर्ण नीचे प्रस्तुत किया जाता है—

(१) तिलोयसार, गाथा ८१८

१२ चक्रवर्तियो का शरीरवर्ण सुवर्ण सदृश (पीत) वताया है।

(२) जवूदीव पण्णत्ती—उद्देश्य २ गाथा १८२, १८३, १८४
९ वलदेवो का श्वेत तथा ९ नारायण-प्रतिनारायणो का नील कमल के समान (नीला) वताया है।

(३) तिलोय पण्णत्ती (भाग १ पृ० २०० मे २०६)
१४ कुलकरो का रग सुवर्ण सदृश (पीत) वताया है।

(४) हरिवश पुराण सर्ग ६० श्लोक ५६७
नवनारायणो को अजनच्छाय (कृष्ण वर्ण) वताया है। श्लोक ५६९ मे नव वलदेवो को चन्द्रसम—श्वेत वर्ण वताया है।

(५) उत्तर पुराण (गुणभद्र कृत) मे ९ वासुदेवो का रग नील-कृष्ण वताया है और ९ वलदेवो का श्वेत वताया है। देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० ३८३-(श्रीकृष्ण) लसन्नीलाब्जवर्णाभो। पृ० ८५, १२६, २४१, २५५ मे क्रमश वलदेव नारायण का रग इस प्रकार द्योतित किया है—शखेन्द्रनीलसकाशौ, शुक्ल-कृष्णत्विपौ, चन्द्रेन्द्रनीलसकाशौ, अमेयवीर्यौ हसाशनीलोत्पल-समत्विपौ।

इस विपय मे श्वेताम्बर-मान्यता क्या है वह नीचे प्रकट की जाती है.

१—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्राचार्य कृत) काण्ड १ श्लो० ४९—

रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ शुक्लौ तु चन्द्रप्रभपुष्पदतौ।
कृष्णौ पुनर्नेमिमुनी विनीलौ श्री मल्लि पार्श्वौ कनत्विपोऽन्ये ॥

अर्थ—पद्मप्रभ और वासुपूज्य 'लाल', चन्द्रप्रभ और पुष्पदत 'श्वेत', मुनिसुव्रत और नेमिनाथ 'कृष्ण', मल्लि और पार्श्व 'नील' एव शेष १६ तीर्थकर सुवर्ण रग के है।

२–३—"त्रिपष्टि शलाका पुरुप चरित" (हेमचन्द्र) मे तथा "जैनरत्नसार" पृ० २८८ मे भी उपर्युक्त ही कथन है।

४—विचार सार प्रकरण (प्रद्युम्नसूरि)

पउमाभ वासुपुज्जा रत्ता ससि पुप्फदत ससि गोरा।
सुव्वय नेमि काला पासो मल्ली पियगु निभा ॥११॥
वर कणय तविय गोरा सोलस तीत्थकरा मुणेयव्वा।
एसो वण्ण विभागो चउवीसाय जिणवराण ॥१११॥

अर्थ—इसमे पार्श्व-मल्लि को प्रियगु सदृश (हरित) वर्ण वाले वताये है—शेप कथन उपर्युक्त ही की तरह है।

५—"मन्त्राधिराज चिन्तामणि" मे सागरचन्द्र सूरि रचित 'मन्त्राधिराज कल्प' तृतीय पटल श्लोक ८८, ९० मे—मुनिसुव्रत और नेमि को "तैलावतकज्जलकलेवर—कृष्णाग (गहरे काले) लिखा है। श्लोक ८७, ९१ मे—मल्लि और पार्श्वनाथ को "कदलीदल नीलदेह" अर्थात् केले के पत्तो की तरह नील वर्ण वाले वताये है किन्तु केले के पत्तो का रग हरा होता है नीला नही। अत यहाँ 'नील' का अर्थ उदाहरण के अनुसार 'हरा' ही लेना चाहिए। पूर्व मे हरे को नीला कहने की पद्धति का दिग्दर्शन करा ही आये है। ऊपर भी प्रमाण न० ४ मे पार्श्व मल्लि

को प्रियगु–हरित वर्ण ही लिखा है। ऐसी हालत मे एक वात विचारणीय है कि—ऊपर प्रमाण न० १–२–३ मे जो हेमचन्द्राचार्य ने पार्श्व मल्लि को 'नील' वताया है सो उससे कोनसा रग ग्रहण करना चाहिए? नील का अर्थ आसमानी और हरा ही नही होता, काला भी होता है। अगर हरा ही ग्रहण करे तव तो श्वे० आम्नाय मे कोई मान्यता भेद नही होता और अगर आसमानी भी काला ग्रहण करें तो मान्यता भेद उत्पन्न होता है। हेमचन्द्राचार्य ने कही भी नील के साथ कोई उदाहरण नही दिया है इससे यह निर्णय करना कठिन है कि—'नील' से कोनसा वर्ण विशेप उन्हे इष्ट था।

"त्रिपष्टिशलाका पुरुप चरित" गुजराती अनुवाद पर्व ९ सर्ग ३ पृष्ठ ४७०–७१ मे पार्श्व प्रभु को नीलमणी और नीलकमल की सदृश्य काति वाले नीलवर्ण, लिखा है—यह ज्ञातव्य है।

६—ऋपि मण्डल स्तोत्र*

शिर सलीन ईकारो विनीलो वर्णन स्मृत ।
वर्णानुसारसलीन तीर्थकृन्मडल नम ॥१३॥
शिर ई स्थिति सलीनौ पार्श्वमल्ली जिनोत्तमौ ॥१५॥

अर्थ—'ह्री' इस वीज अक्षर की ईकार मात्रा का रग विनील (विशेष नीला) किया जावे और उस पर उसी रग के तीर्थकर–पार्श्व मल्ली के नाम लिखे जावें) इसका कथन ठीक हेमचन्द्राचार्य ही की तरह है।

श्वेतावर आम्नायानुसार यह २४ तीर्थकरो का वर्ण विभाग है। इससे स्पष्ट है कि—दि० श्वे० आम्नाय मे खास अन्तर निम्न प्रकार है—

* यह कृति श्वेतावरी ही है इस विषय मे एक खोजपूर्ण लेख "क्या ऋपि मण्डल स्तोत्र दि० परम्परा का है?" इस शीर्षक से इसी ग्रथ में देखिये।

मल्लिनाथ को श्वेताम्बर नील वर्ण और सुपार्श्वनाथ को कनकवर्ण मानते हैं जब कि दिगम्बर, मल्लिनाथ को सुवर्ण वर्ण और सुपार्श्वनाथ को हरित या नील वर्ण मानते हैं अर्थात् श्वेताम्बर सुपार्श्वनाथ की जगह मल्लिनाथ को विनील लिखते हे। इस नाम-व्यत्यय के सिवा रंग के विषय में श्वे० हेमचन्द्राचार्य का कथन दि० 'तिलोयसार' ग्रन्थ के कथन से मिलता है।

अब ६३ शलाका पुरुषों में से शेष का शरीर वर्ण श्वेताम्बराम्नायानुसार क्या है यह नीचे बताया जाता है

१—विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरि)

वन्नेण वासुदेवा नीला सव्वे बला च सुक्किलया ॥५७०॥
सव्वे विरागवण्णा निम्मल कणगप्पभा मुणेयव्वा।
छह खंड भरह सामी तेसिं पमाण अओ वुच्छे ॥५४३॥

(९ वासुदेव तथा ९ प्रति वासुदेव नीलवर्ण हैं और ९ बलदेव शुक्ल वर्ण हे १२ चक्रवर्ती कनकवर्ण हैं)।

२—'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' (हेमचन्द्र) पर्व १ सर्ग ६

वासुदेवा नवाऽसिता ॥३३८॥
बलदेवा सिता नव ॥३३९॥
काश्यपश्च कृष्ण स्वर्ण वर्णा अष्टैषु मोक्षगा. ॥३२६॥

[इसमें वासुदेवों (प्रतिवासुदेवों) को कृष्ण वर्ण बताया है शेष पूर्ववत् है]

३—'अभिधानचिन्तामणि' (हेमचन्द्र) काण्ड ३

वासुदेवा अमी कृष्णा नव शुक्ला बलास्त्वमी ॥३६१॥
[इसमें भी प्रमाण नं० २ की तरह ही कथन है]।

ऊपर के विषय में दि० श्वे० आम्नाय में परस्पर क्या अन्तर पड़ता है यह बताना अनावश्यक है। यह दोनों आम्नायों के दिये गये प्रमाणों से

विज्ञपाठक स्वयं निर्णय कर सकते है। निर्णय की विधि पूर्व मे प्रदर्शित कर ही आये है।

अव नीचे कतिपय ऐसे ग्रन्थोल्लेख प्रस्तुत किये जाते है जो तीर्थंकरो के शरीर-वर्ण विषय मे कुछ विलक्षण ही प्रकाश डालते हैं—

१—अपराजित पृच्छा (भुवनदेवाचार्य कृत)

चन्द्रप्रभ पुष्पदत श्वेतौ वै क्रौंचसभवौ।
पद्मप्रभो धर्मनाथो रक्तोत्पलनिभौ मतौ ॥
सुपार्श्व पार्श्वनाथश्च हरिद्वर्णौ-प्रकीर्तितौ।
नेमिश्च श्यामवर्ण स्यान्नीलो मल्लि प्रकीर्तित ॥
शेपा पोडशसप्रोक्तास्तप्तकाचनसप्रभा ।
वर्णानि कथितान्यग्रे लाछनानि तत श्रृणु ॥

—प्रतिमालक्षण (सं० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल पृ० २७१

इसमे सुपार्श्वनाथ को जो हरिद्वर्ण वताया है वह दि० सप्रदायानुसार है और मल्लिनाथ को जो नील वर्ण वताया है वह श्वे० सप्रदायानुसार है इस तरह इसमे दोनो आम्नाओ को ग्रथित किया है किन्तु धर्मनाथ को रक्त वर्ण और मुनिसुव्रतनाथ को काचन वर्ण वताया है वह दोनो आम्नायो से विरुद्ध है। इस तरह इस ग्रन्थ का कथन वडा ही विलक्षण मालूम पडता है।

यह 'अपराजित पृच्छा' ग्रन्थ जैनेतर है। इसके कथन से सिद्ध है कि इसके कर्त्ता को जैन (दि० श्वे०) ग्रन्थो का प्रामाणिक ज्ञान नही था। आजकल जिस तरह अनेक जैनेतर विद्वान् जैन मान्यताओ के विपय मे अन्यथा प्रतिपादन करते देखे जाते है उसी तरह पूर्वकाल मे भी ऐसा होता रहा है—यह इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है।

२—"मूर्त्तिविज्ञानम्" (जी० एच० खरे कृत) पृ० २०२–२०५ मे दिगम्बर मतानुसार तीर्थंकरो का वर्ण निम्न प्रकार वताया है। (देखो–पुष्पदत कृत महापुराण भाग २ पृ० ५५८)

सुमति, पद्म = कुकुम। वासुपूज्य = रक्त। पार्श्व, मल्लि = नील। मुनिसुव्रत, नेमि = कृष्ण। सुपार्श्व = काचन।

इसमे मल्लिनाथ को नील और सुपार्श्व को काचन वर्णी वताया है। वह श्वे० सप्रदायानुसार है जवकि ग्रथकार ने यह वर्ण विवेचन दि० मतानुसार होने की वात कही है जो गलत ठहरती है। इसके सिवा सुमतिनाथ को जो कुकुम (रोली केशर) के समान लाल वर्ण के वताये है वह दोनो सप्रदायो की दृष्टि से विरुद्ध है इस तरह इस ग्रथ का कथन भी विलक्षण ही ज्ञात होता है। अगर 'सुमति' विपयक कथन को मुद्रण की गलती मान ली जाय तो समग्र कथन श्वे० आम्नायानुसार हो जाता है किन्तु ग्रथकार ने समग्र कथन को दिगम्बर मत का वताया है यह विलक्षणता फिर भी रहती है*

इस सब विवेचन से तीर्थंकरो के शरीर-वर्ण विपय मे ग्रथकारो के परस्पर भिन्न–विरुद्ध कथनो के तथ्य को पाठको ने अच्छी तरह हृदयंगम

---

* वसुनदिकृत—प्रतिष्ठार सग्रह अ० ५—

चन्द्रप्रभजिन श्वेत पुष्पदत जिनस्था
पद्मप्रभ सुपद्माभ सुपूज्यो विद्रुमप्रभ ॥६९॥
सुपार्श्व पार्श्वनाथौ च द्वौ जिनेन्द्रौ हरित्प्रभौ।
मुनिसुव्रतनेमी च जिनौ मरकतप्रभौ ॥७०॥
ये पोडशजिना शेपा ज्ञेयाश्चामीकरप्रभा।
विज्ञाय वर्णकानेन भोजयेच्चित्रकर्मसु ॥७१॥

(इसमे पार्श्व सुपार्श्व सुव्रत नेमि चारो को ही एक हरे रग के वताया है)

कर लिया होगा। अत मे यह और वताना चाहता हूँ कि—ग्रथो मे अन्यत्र भी जहाँ रगो को लेकर परस्पर भिन्नता विरुद्धता पाई जाती हो वही उपर्युक्त विवेचन को लगा लिया जाना चाहिये। चन्देरी के भोयरो मे चौवीसी की मूर्त्तियाँ हे जो रग के अनुसार पत्थरो की वनी हुई है।

जिस तरह हरित, नील आदि मे विविधार्थकता पाई जाती है उसी तरह 'गौर' शब्द मे भी। देखो हेमचन्द्र कृत अनेकार्थ सग्रह, द्वितीय काड श्लोक–४२५" गौर श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि"। अर्थात् "गौर" शब्द सफेद, लाल और पीले तीनो रगो मे प्रयुक्त होता है।

सस्कृत भाषा मे एक शब्द के अनेक अर्थ और आशय होते है, यह इसकी खासियत है। इस खासियत को अव्यवस्था, जटिलता या विरुद्धता का जनक नही समझना चाहिए किन्तु यह अनेकान्तता का द्योतक है, अत समीचीन है।

परस्पर भिन्नता मे जो यथोचित समन्वय नही कर सकते उन्हे ही विरुद्धता मालूम पडती है।



कर्मग्रन्थ त्रय

चूर्णी सहित कम्मपयडी, सतक और सित्तरी ग्रन्थ त्रय के विषय में क्षु० श्री सिद्धसागरजी ने 'जैनसदेश' के शोधाक न० २ मे एक लेख लिखा हैं। समीक्षात्मक रूप से नीचे उस पर कुछ विचार किया जाता है—

लेख के आदि मे क्षुल्लक जी ने 'कम्मपयडी सगहणी' की मंगल गाथा देते हुए उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"सिद्ध सिद्धत्थ सुयं वदिय णिद्धोय सव्वकम्ममलं।
कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदय अताणि वोच्छामि।

इसमे सिद्ध, सिद्धार्थ, श्रुतगणधर तथा श्रुत को वदन कर आठ कर्मो के आठ और दो दस करणो का विस्तार पूर्वक वर्णन है।"

समीक्षा—क्षुल्लकजी ने जो अर्थ दिया है वह बिल्कुल गलत है ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये —"जिन्होने सर्व कर्ममलो को नि शेष रूप से धो दिया हैं और सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धार्थ सुत–भगवान् महावीर को नमस्कार कर आठ कर्मो के आठ करण और उदय व सत्त्व का वर्णन करता हूँ।"

मूल गाथा मे "अताणि' की जगह 'सताणि' होना चाहिये। 'सत' का अर्थ 'सत्त्व' होता है। क्षुल्लकजी को शायद यह मालूम नही प्रतीत होता। इसी लिए २०-५-५८ के जैन-दर्शन मे आपने एक लेख मे 'सत सूत्र' लिख दिया है, जो गलत है सित्तरी चूर्णि मे वहाँ 'सत्त्व सूत्र' (कर्मों के सत्त्व विषयक सूत्र) अभिप्रेत है।

क्षुल्लक जी—"निद्रादय समधिगताया एव दर्शलब्धेरुपघाते वर्त्तते दर्शनावरणचतुष्टय तूद्गमोच्छेदित्वात्समूलघात हति दर्शनलब्धिमिति

गधहस्ती ।" उपाध्याय यशोविजय ने उक्त उद्धरण गधहस्ती के नाम से उद्धृत किया है। इसी आशय वाला वर्णन शतक व्याख्या मे प्रकृति समुत्कीर्तन के समय यतिवृपभ ने किया है अत गधहस्ती या गधहस्ती-महाभाष्य व्याख्या चूर्णिकार से पहिले अवश्य रहा होगा। चूर्णिकार ने गधहस्ती महाभाष्य का उपयोग भी सिद्धसेन, अकलक और पूज्यपाद की तरह अवश्य किया है।

समीक्षा—उपाध्याय यशोविजय १८वी शताब्दी के श्वे० आचार्य है उन्होने जो गधहस्ती के नाम से उल्लेख दिया है वह सिद्धसेन गणी (९वी शताब्दी) की तत्त्वार्थवृत्ति का उल्लेख है। अध्याय ८ सूत्र ८ की वृत्ति मे पृ० १३५ पर वह इस प्रकार पाया जाता है—"निद्रादयो यत समधिगताया एव दर्शनलब्धे उपयोगघाते प्रवर्त्तते, चक्षुर्दर्शनावरणादि-चतुष्टय तद्गमोच्छेदित्वान्मूल निहति दर्शनलब्धि" यह उल्लेख क्षुल्लकजी के द्वारा उद्धृत उल्लेख से प्राय अक्षरश मिलता है। श्वे० संप्रदाय मे सिद्धसेन 'गधहस्ति' के नाम से भी प्रसिद्ध रहे है। उपाध्याय यशोविजय आदि वहुत से श्वे० आचार्यो ने जो अनेक जगह गधहस्ती के नाम से उल्लेख दिये है वे सव प्राय सिद्धसेन गणि की तत्त्वार्थवृत्ति मे पाये जाते है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि यशोविजयजी द्वारा गधहस्ती के नाम से दिया हुआ उपर्युक्त उद्धरण सिद्धसेन की वृत्ति का ही है—यह उद्धरण और भी अनेक श्वे० आचार्यो ने अपने ग्रन्थ मे 'गधहस्ती' ही के नाम से दिया है (देखो प्रवचनसारोद्धार टीका पत्र ३५८ तथा देवेन्द्र-सूरि कृत प्रथम कर्मग्रन्थ (गाथा १२) की टीका)। यहाँ एक वात यह ध्यान देने योग्य है कि इन सभी श्वे० उद्धरण कर्ताओ ने 'गंधहस्ती' व्यक्ति नाम ही दिया है कही भी 'गधहस्ति महाभाष्य' ऐसा ग्रन्थ नाम नही दिया है अत यशोविजयजी के उद्धरण से न तो किसी गधहस्ति महाभाष्य का समर्थन होता है और न उसका दिगवरीय होना ही सिद्ध होता है—आज तक किसी भी दि० ग्रथकारके द्वारा गधहस्ति महाभाष्य

का कोई भी वाक्य उद्‌धृत हुआ नही पाया जाता है। ऐसी हालत मे यह कैसे हो सकता है कि १८वी शती के श्वे० यशोविजयोपाध्याय को तो दिगम्बर सम्मत गधहस्ति महाभाष्य उपलब्ध हो और दिगम्बर आचार्यो को वह उपलब्ध ही न हो।

इस तरह जब यशोविजय का उद्‌धरण ही दिगम्बर सम्मत गधहस्ति महाभाष्य का सिद्ध नही होता तब उसके बल पर शतक चूर्णि के वाक्यो का बादरायण सम्बन्ध जोडना और उन्हे दिगम्बरीय गधहस्ति महाभाष्य का बताना कितना निराधार और भूलभरा है, यह साधारण पाठक भी सहज समझ सकता है।

शतक चूर्णिकार के वे वाक्य यशोविजय के उद्धरण से शब्दश बिल्कुल भी नही मिलते अर्थश कुछ कुछ मिल सकते है। सभव है शतक व्याख्याकार ने वे वाक्य सिद्धसेन की तत्त्वार्थवृत्ति पर से गढे हो-अथवा दोनो ने ही किसी प्राचीन स्रोत से स्वतन्त्र रीत्या निर्मित किये हो, इसके सिवा व्याख्या चूर्णिकार ने वहाँ कही भी गधहस्ति महाभाष्यका कोई भी नामोल्लेख नही किया है। ऐसी हालत मे उन वाक्यो को दि० गधहस्ति महाभाष्य के बताना किसी भी तरह समुचित नही कहा जा सकता। और शतक चूर्णि को बिना किसी प्रमाण के यतिवृषभ की कृति बताना भी निराधार है। इसी तरह बिना किसी प्रमाण के पूज्यपाद सिद्धसेन और अकलक तक को गधहस्ति महाभाष्य का उपयोगकर्त्ता लिखना भी बडा साहसपूर्ण प्रतीत होता है, जब कि इन आचार्यो के किसी भी ग्रन्थ मे कही भी गधहस्ती महाभाष्य का कोई भी उल्लेख नही पाया जाता है।

क्षुल्लकजी—मूलाचार की "पच नव दोन्नि अट्ठावीसा" यह गाथा कम्पपयडी, शतक तथा सत्तरि चूर्णि मे उद्‌धृत पाई जाती है। तथा दि० 'पचसग्रह' मे पाई जाने वाली "निद्दापयलाय तहॉ" गाथा सत्तरी चूर्णि मे उक्तच रूप से पाई जाती है।

समीक्षा—ऊपरके कथन से क्षुल्लकजी का यह आशय प्रतीत होता है कि दि० ग्रन्थो मे पाई जाने वाली उक्त गाथाएँ ही इन चूर्णि ग्रन्थो मे पाई जाती हे इससे ये दि० ग्रन्थ है तो यह नतीजा ठीक नही है—यह कोई दिगम्बरत्व का नियामक नही माना जा सकता, अगर ऐसा ही माना जायगा तो फिर मूलाचार की अनेक गाथायें श्वे० आवश्यक निर्युक्ति मे भी पाई जाती है तो क्या श्वे० निर्युक्ति भी दि० ग्रन्थ है ? पर ऐसा नही है, सही बात यह है कि दि० श्वे० दोनो को विरासत मे मूल सामग्री एक ही जगह से मिली है अत दोनो के किसी अश मे साम्य पाये जाने से ही सारा ग्रथ किसी एक आम्नाय का नही हो सकता उसमे पाई जाने वाली दूसरी विरुद्ध बातो का भी ख्याल करना होगा। शोधाक १ मे प०कैलाशचद्रजी ने चूर्णि ग्रथो का अत परीक्षण करके कुछ प्रमाण देते हुए यह बताया था कि ये यतिवृषभ कृत और दिगम्बर नही है क्योकि इनमे यतिवृषभ के मतव्यो से विरुद्ध मतव्य पाये जाते है पर क्षुल्लकजी ने उनपर कोई ध्यान नही दिया प्रतीत होता है। उन्होने प० हीरालालजी सिद्धातशास्त्री की ही तरह बिना विशिष्ट मनन किये इन चूर्णि ग्रन्थो को यतिवृषभकृत लिख दिया है। इन चूर्णियो मे श्वेताम्बर ग्रन्थो की गाथाएँ भी पाई जाती है तथा इनमे दि० ग्रन्थकारो को 'अन्य' शब्द से भी उल्लेखित किया है। ऐसी स्थिति मे ये चूर्णियाँ दिगम्बर ग्रन्थ सिद्ध नही होती। जो विद्वान् इन ग्रथो को दि० मानने का आग्रह रखते हो उनका कर्त्तव्य हो जाता कि—वे सबसे पहिले उन बातोका समाधान करे जो इनमे श्वे० आम्नाय को समर्थन करने वाली है और फिर साथ मे ऐसे स्थल भी खोजकर बतावे जो स्पष्टत श्वेताम्बर विरुद्ध हो और दिगम्बर सम्मत हो। बिना इस प्रकार का परिश्रम किये केवल यह लिख देना कि—"ये चूर्णिया यतिवृषभ की चूर्णियो से मेल खाती है अत दिगम्बर है, कोई वकत नही रखता।

मूलग्रथ और उनकी चूर्णियो पर विशिष्ट अध्ययन होने की सख्त

जरूरत है। (प्राकृत) पंचसग्रह को छोडकर किसी भी दि० ग्रथ मे इन ग्रंथो का उल्लेख तक नही पाया जाता जब कि इन ग्रथो पर श्वेताम्बरो की विस्तृत टीकाये पाई जाती हे। (श्वे०) सिद्धसेन गणि ने भी तत्त्वार्थ-वृत्ति (अध्याय ८ का अन्तिम सूत्र) मे 'कर्मप्रकृति' का उल्लेख किया है। ऐसी हालत मे इन ग्रन्थो के श्वेताम्बर होने का ही समर्थन होता है।

क्षुल्लकजी—"व्याख्या चूर्णि के रचयिता यतिवृपभ माने जाते है, लगभग ५वी सदी मे यह व्याख्या चूर्णिया बनी है यही शिवशर्म का वास्तव मे काल है।"

समीक्षा—क्षुल्लकजी एक जगह तो यतिवृषभ और शिवशर्म का काल २री से ५वी सदी लिखते है और एक जगह स्पप्टत ५वी सदी लिखते है जब कि एक दफा इन्होने ही जैन-सन्देश मे यतिवृपभ का काल प्रथम द्वितीय सदी बताया था। इसके सिवा २०-५-५८ के जैन-दर्शन मे इन्होने आचार्य शिवशर्म को भगवत भूतबलि के समकालीन या उनसे भी कुछ पहिले रहा बताया है। इस तरहके परस्पर- विरुद्ध कथन अनिश्चयात्मक होने से भ्राति जनक है।



काव्यों के अक

सुगमता से अपनी वस्तु अलग पहचान ली जाय इसके लिये मानव समाज उनमे अपने अलग-अलग चिन्ह कायम कर देता है जैसे सावुन के व्यापारी अपने-अपने सावुन के अलग-अलग चिन्ह 'सनलाइट', 'लक्ष', 'वतनी', 'रेक्सोना', पामोलिव' आदि रखते है। अलग-अलग देशो की सरकारे अपने राष्ट्रध्वजो और मुद्रादि पर अलग-अलग चिह्न रखती है। उसी तरह कवि भी अपनी अपनी कृतियो मे अपना इच्छित शब्दचिह्न रख देते है उसे ही काव्यो का अक यानी चिह्न कहते है। ये 'अक' (सकेताक्षर) काव्यो के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक मे प्रयुक्त होते है— माघकविकृत माघमहाकाव्य का अक 'श्री' है। भारवी ने 'लक्ष्मी', प्रवरसेन ने 'अनुराग', पचशिख ने 'आनन्द' शब्दाक का प्रयोग किया है।

नीचे कुछ जैन काव्यो के अंक खोजकर वताये जाते है—

१—पार्श्वनाथ चरित (वादिराज सूरिकृत) इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त मे 'श्री' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् यह काव्य 'श्र्यक' है।

२—यशोधर चरित (वादिराज सूरिकृत) यह काव्य भी श्र्यक है।

३—चन्द्रप्रभ चरित (वीरनदिकृत) इस काव्य का अक 'उदय' है। इसके १२वे सर्ग के अन्तिम श्लोक मे—'गुरुवचन हृदयैपिणामलघ्य' ऐसा ववई से प्रकाशित प्रति मे छपा है। इसमे 'हृदय' पाठ अशुद्ध है। ह्युदय' पाठ चाहिए तभी अर्थ-सगति होगी और सर्गान्त मे 'उदयाक' की सिद्धि होगी।

४—महावीर चरित (अशगकृत) इस काव्य का अङ्क 'सम्पद' है।

५—गौतम चरित (मण्डलाचार्य धर्मचन्द्रकृत) इसका अङ्क 'सदा' या नित्य है।

६—'भरतेश्वराभ्युदय' अनुपलब्ध (आशाधरकृत) इसका अङ्क 'सिद्धि' है। देखो आशाधरप्रशस्ति,—सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदय सत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलं।

७—'श्रावक धर्मविधि प्रकरण' (प्राकृत) इसकी अन्तिम गाथा १२० मे 'विरह' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। यह ग्रन्थ हरिभद्रसूरिकृत है। इनके और भी ग्रन्थो के अन्त मे 'विरह' शब्दाङ्क पाया जाता है। हरिभद्रसूरि नाम के अनेक विद्वान् हुए है किन्तु इस विरहाक से यह अलग पहिचाने जा सकते है।

८—शासन चतुस्त्रिशिका (मदनकीर्तिकृत) प्रत्येक श्लोक के अन्त मे 'दिग्वासना शासन' पद का प्रयोग है।

कुछ काव्य ऐसे है जिनमे कवियो ने अपने नाम का पूर्व भाग या पूरा नाम अङ्कित किया है वे इस प्रकार है—

१—पउम चरिय-प्राकृत (विमलसूरिकृत) इस काव्य के प्रत्येक उद्देश के अन्त मे 'विमल' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

२—पद्मचरित (रविषेणकृत) 'रवि' अङ्क का प्रयोग है। किन्तु पर्व ८० के अन्त मे 'रवि' शब्द का प्रयोग नही पाया जाता है। कवि ने वहाँ 'रवि' के पर्यायवाची 'प्राशुविहारी' शब्द का प्रयोग किया है—खास शब्द के बजाय पर्यायवाची शब्दो के प्रयोग की भी प्रणाली रही है।

३—आदिपुराण (जिनसेनाचार्यकृत) यह जिनाक है। किंतु पर्व २१, ३५, ३९ के अन्त मे 'जिन' अङ्क नही पाया जाता है। कवि ने वहाँ 'जिन' के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है।

ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित सस्करण के पर्व १५ के अन्त मे 'जनश्री' छपा है वह गलत है। वहाँ 'जिनश्री' शुद्ध पाठ होना चाहिए तभी अर्थ-सगति और अङ्क की निष्पत्ति होगी।

४—हरिवशपुराण जिनसेन (द्वितीयकृत) यह भी जिनाक है। किन्तु सर्ग ५ और ५६ के अन्त मे 'जिन' अङ्क का प्रयोग नही पाया जाता है।

कवि ने वहाँ 'जिन' के पर्यायवाची 'मुनि' और 'तीर्थकृत्' शब्दो का प्रयोग किया है। माणिकचद ग्रन्थमाला, वम्बई से प्रकाशित सस्करण के सर्ग ६२ के अन्त मे 'जनतया' छपा है जो अशुद्ध है उसकी जगह 'जिनतया' शुद्ध पाठ होना चाहिए तभी अर्थसगति और जिनाक की निष्पत्ति होगी।

५—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधरकृत) आशाधराक है।

६—महापुराण (अपभ्रश)—पुष्पदतकृत। इसमे 'पुपफयत—पुप्फदत' शब्द का प्रयोग है। कही-कही पर्यायवाची 'कुसुमयत' शब्द का भी प्रयोग है। देखो सधि १०, ६ आदि मे।

७—यशोधर चरित (अपभ्रश)—पुष्पदतकृत। इसमे भी 'पुप्फदत' प्रयुक्त है।

८—नागकुमार चरित (अपभ्रश)—पुष्पदतकृत। इसमे भी 'पुपफयत' प्रयुक्त हे।

९—करकडु चरित (अपभ्रश) मुनि कनकामर रचित। इसमे 'कणयामर' प्रयुक्त है।

१०—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (पद्मनदिकृत) प्राकृत। इसमे 'वरपउमणदि' प्रयुक्त है।

११—श्रावकाचार (अमितगतिकृत) यह अमितगत्यक है।

१२—त्रैवर्णिकाचार—धर्मरसिक (सोमसेन भट्टारककृत) सव अध्यायो के अन्त मे सोमसेन नामाक हे। १०वे अध्याय के अन्त मे 'सोमदेव' नाम है। 'सोम' का अर्थ चद्र होता है। अत ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ मे चन्द्रप्रभदेव की स्तुति की है।

१३-१४—पउम चरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ (अपभ्रश)—स्वयभूकृत। प्रत्येक सन्धि (सर्ग) के अन्त मे 'सयभु' 'सइभु' स्वनामाक का प्रयोग है।

१५—प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (सकलकीर्तिकृत) सर्गो के अन्त मे 'सकल' या उसके पर्यायवाची सर्व, समस्त आदि शब्दो का प्रयोग है। इस

[illegible]

१०—[illegible]

१३—[illegible]

[illegible] 'पुण्य' [illegible]

१४—[illegible] प्रयोग किया [illegible]—

[illegible]

([illegible])

[illegible]

[illegible]—

१—[illegible]

२—[illegible] (जन [illegible]— [illegible])।

३—[illegible] आम्नाया में।

४—[illegible] आम्नाया में।

५—[illegible] 'सिद्ध' [illegible] का प्रयोग।

[illegible] इतिहास है।

टोडरमल श्रावकाचार

'मनोमति खडन्' जिसे वम्वई के श्रीधर शिवलाल के छापे खाने मे स० १९४२ मे प० मन्नालाल जी मानपुर वालो ने छपाया था उसके पत्र तीन मे लिखा है।

"वहुरि टोडरमल्ल कृत श्रावकाचार विपै तो जिन विम्व के केसर चदनादि का लगवाना निपेध्या है।" इन वाक्यो पर से वहुत से भाइयो की सम्मति वन गई है कि—पूज्यवर पडित टोडरमल जी का एक श्रावकाचार ग्रन्थ भी रहा है। इस विपय मे अजमेर, जयपुर के कुछ स्वाध्याय शील व्यक्तियो ने भी मुझसे कई वार पूछा कि—'क्या आपको कही 'टोडरमल श्रावकाचार' देखने मे आया है? आज उक्त जिज्ञासा के समाधान रूप मे नीचे प्रकाश डाला जाता है —

१—अनेकान्त वर्प ४ किरण ८ पृ० ४७२ पर देहली के जैन मन्दिर की शास्त्र-सूची देखते हुए ज्ञानानन्द श्रावकाचार पत्र सख्या २२५ की १ प्रति को प० टोडरमल्ल कृत वताया है।

२—राजस्थान जैन शास्त्रभडार, जयपुर की ग्रन्थ सूची भाग २ पृष्ठ १५५ पर ज्ञानानन्द श्रावकाचार पत्र स० १४४ लिपिकाल १९९० की १ प्रति को प० टोडरमल्ल जी कृत वताया है।

३—दि० जैन सघ मथुरा से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाश की प्रस्तावना पृ० ४८-४९ पर प० लालवहादुर शास्त्री ने लिखा है —

"भाई रायमल्लजी की केवल दो ही रचनायें उपलब्ध है एक तो श्रावकाचार है और दूसरी कोई चर्चा सम्वधी रचना है। वावा दुलीचदजी की सूची मे इस श्रावकाचार का पूरा नाम ज्ञानानद निजरस निरभर

श्रावकाचार लिखा है। लेकिन हमारे सामने जो लिखित प्रति मौजूद है उस पर केवल श्रावकाचार लिखा है साथ ही मुख पृष्ठ पर टोडरमल्लजी कृत लिखा है जो लेखक के प्रमाद से ही हुआ जान पडता है। इसमे २२७ पृष्ठ है और श्रावकाचार की करीब-करीब सभी बातो का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। कुछ बातो का विशेष वर्णन भी है।

आपका दूसरा ग्रथ चर्चा ग्रथ है। रायमल्लजी की टोडरमल्ल जी के साथ जो धार्मिक चर्चायें होती थी उन्ही का इसमे सग्रह है। इस तरह हम प० टोडरमल्लजी की तरह ही भाई रायमल्लजी को सरल स्वभावी समाजसेवी और महा परोपकारी पाते है। सच पूछा जाय तो उस समय के ये दो ही महानुभाव युग प्रवर्तक थे। एक ने अपने ज्ञान से जनता का स्तर ऊँचा उठाया तो दूसरे ने अपनी सेवाओ से लोगो को नैतिक बल दिया। एक ने अपने प्राणो का बलिदान कर धर्म और समाज की शान कायम रखी तो दूसरे ने अपने सुखो का बलिदान कर धर्म और समाज की सेवा मे अपने को खपा दिया। वे दो आत्माएँ थी जिन्होने ज्ञान और त्याग के क्षेत्र को अमर बना दिया।"

इन तीनो उद्धरणो से स्पष्ट है कि—'मनोमतिखडन्' के कर्त्ता को भी कोई ऐसी ही प्रति मिली जिसमे ज्ञानानद श्रावकाचार को प० टोडरमलजी कृत लिखा था, उसी के आधार से उन्होने भी रायमल्लजी कृत श्रावकाचार को टोडरमल्ल श्रावकाचार लिख दिया। जो उद्धरण 'मनोमतिखडन्' कार ने दिया है वह (सद्बोध रत्नाकर कार्यालय सागर से वीर नि० स० २४४५ मे मुद्रित) ज्ञानानद श्रावकाचार के पृष्ठ ९६ पर इस प्रकार पाया जाता है।

"प्रतिमाजी का अंग कै केसर चदन आदि का चरचन करै नाही ··। मुन महाराज कै भी तिलतुसमात्र ग्रहन न कहा तो भगवान कै केसर आदि का सयोग कैसे चाहिये।" इससे दोनो का एकत्व सिद्ध हो जाता है।

१—मुद्रित ज्ञानानद श्रावकाचार के अत मे पृ० २९२ पर लिखा है—इति श्री प० रायमल जी कृत श्री ज्ञानानद श्रावकाचार ग्रथ सपूर्ण। शुभ मगल।

२—जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे ज्ञानानद श्रावकाचार की २ प्रतियाँ है जिनकी पत्र सख्या १३६, तथा २१९ है और जिनका लिपिकाल क्रमश सवत् १८५८ और १८८८ है। इन दोनो का कर्ता रायमल्लजी को लिखा है।

३—राजस्थान जैन शास्त्रभडार ग्रन्थ सूची भाग ३ पृ० २८ पर ज्ञानानद श्रावकाचार की १ प्रति का परिचय इस प्रकार दिया है—कर्त्ता-रायमल्ल, पत्र स० १११ लिपिकाल १९२६।

४—अनेकात वर्ष ४ किरण ६–७ पृ० ४२२ पर ज्ञानानद श्रावकाचार की १ प्रति का परिचय इस प्रकार दिया है, कर्ता–प० रायमल्ल, पत्र स० १३१ लिपिकाल १९२९।

५—"दि० जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रथ" (नाथूरामजी प्रेमी) पृ० ५२ पर ज्ञानानद श्रावकाचार को रायमल्लजी कृत बताया है।

इन सब उल्लेखो से जाना जाता है कि—ज्ञानानद श्रावाकाचार के कर्त्ता प० रायमल्ल जी ही है। कुछ प्रतियाँ ऐसी भी है जिनमे कर्त्ता का कही नाम नही दिया है, हो सकता है इसी से आनुमानिक तौर पर कुछ लिपिकारो ने कर्त्ता के रूप मे प० टोडरमलजी का नाम लिख दिया है किन्तु वस्तुत इस ग्रन्थ के कर्त्ता टोडरमलजी नही है क्योकि उनके अन्य ग्रन्थो की शब्द-शैली इससे नही मिलती।

इस ग्रन्थ का पूरा नाम—"ज्ञानानद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार" है जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वय लिखा है (देखो मुद्रित ग्रन्थका पृ० २६) "अपने इष्ट देव ताकू विनय पूर्वक नमस्कार करि आगे ज्ञानानद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार नाम शास्त्र ताका प्रारम्भ करिये है।"

इस नाम के आदि पद ज्ञानानद को लेकर लोक मे ग्रन्थ का नाम "ज्ञानानद श्रावकाचार" प्रसिद्ध हो गया है। ज्ञानानद कोई कर्त्ता का नाम नही है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि—प० टोडरमलजी कृत कोई श्रावकाचार नही है। फिर भी यह जरूर है कि—ज्ञानानद श्रावकाचार शब्दश टोडरमल जी कृत न होने पर भी अर्थश उनका माना जा सकता है क्यो कि प० रायमल्ल जी और प० टोडरमल जी दोनो धार्मिक और साहित्यिक कार्यो मे परस्पर एक दूसरे के साथी थे।

प० रायमल्ल जी का एक और ग्रथ है — "चरचा (सार) सग्रह"। यह भी प० टोडरमलजी के नाम पर चढ गया है।

अहिंसावाणी (हिन्दी मासिक) जनवरी मन् ५८ के अक मे पृ० ४०५ पर घाटोल वासगज मे 'चरचासार सग्रह' का होना सूचित किया है और उसे टोडरमलजी कृत वताया है।

इस पर हमने श्री कामताप्रसाद जी को लिखकर पूछा तो २८-२-५८ को उनका पत्र आया जिसमे लिखा था—"अहिंसा वाणी" मे सूचना प्रचारक जी के विवरण पर प्रगट की थी। उसके पश्चात् हमने वह (चर्चा सग्रह) ग्रन्थ मगा कर देखा वह पूज्य प० टोडरमल जी की रचना नही है जैसे आप लिखते हे वह रायमल्लजी का ही हो सकता है, आप चाहे तो घाटोल वालो से मगवाले हम उनको वापिस भेज रहे है।"

प० रायमल्लजी सा० को हुए मात्र २५० वर्ष हुए है फिर भी उनके ग्रन्थो के कर्तृत्व विषय मे इस प्रकार के भ्रम प्रचलित हो गए है—यह आश्चर्य की वात है।

●

तेष्यगिरि नहीं, तक्षकपुर

जैनसदेश के शोधाक ९ मे एक शिलालेख को उद्धृत करते हुए उसके आवार से श्री क्षु० सिद्धसागर जी ने टोडारायसिंह का प्राचीन नाम 'तेष्य गिरि' प्रकट किया है, किन्तु यह गलत है। उद्धृत शिलालेख में 'तेष्यक महादुर्गे' वाक्य दिये है कही भी 'तेष्य गिरि' नाम नही दिया है। अर्ध विदग्ध लेखक ने 'तक्षक' की वजाय 'तेष्यक' लिख दिया है अथवा क्षु० जी ने पढने मे गलती की है। 'तेष्य' का सस्कृत मे कोई अर्थ भी नही होता और न इस नाम की अन्यत्र से कोई उपलब्धि ही होती है। सही पाठ 'तक्षक महादुर्गे' है।[1] अवतक टोडा नगर के विषयमे जितने भी उल्लेख प्राप्त हुए है उन सव मे टोडा का नाम 'तक्षकपुर, तक्षकनगर, तक्षक गढ महादुर्ग' ही दिया हे देखो—

१—जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह प्रथम भाग पृष्ठ २०६, प्रस्तावना पृष्ठ १०२ और ३६। (तक्षक नगर)

२—भट्टारक सप्रदाय, पृष्ठ १०५, १५१ और ६८ (तक्षकपुर, टोडागढ महादुर्ग = विक्रम सं० १४६० से १७६२)

३—प्रशस्ति सग्रह (आमेर भडार) पृ० ८६, ११३, १६२, १६३ (तक्षक गढ महादुर्ग = विक्रम स० १६१० मे १६६४)।

---

१ हस्त लिखित ग्रथो मे 'अतरीक्ष, को अतरीष (अतरीष्य) तथा मनुष्यणी को मनुक्षणी लिखा मिलता है। इससे सिद्ध है कि क्ष को ष-ष्य और ष्य को क्ष भी लेखक लिख देते है। अत यहाँ भी तक्षक को 'तेष्यक, लिख दिया गया है।

इन सब उल्लेखो से स्पष्ट जाना जा सकता है कि-टोडारायसिह का प्राचीन सस्कृत नाम 'तक्षकपुर' ही रहा है 'तेष्यगिरि' नही।

तक्षक का अर्थ होता है शिल्पकार = कारीगर—जो लकडी पत्थर को छीलने काटने का काम करते हैं। टोडा नगर इस काम के लिये प्राचीन समय से काफी प्रसिद्ध रहा है। अब भी वहाँ इमारती पत्थर का कार्य काफी होता है।

इस प्रकार 'तेष्य गिरि' नाम सर्वथा अशुद्ध और भ्रामक सिद्ध होता है। उद्धृत उक्त स० १६८७ के शिलालेख के अन्त मे लिखा है —

"समस्त महाजन टोडा का निसिही प्रणमति"

इन वाक्यो से स्पष्ट है कि तक्षकपुर का आम बोलचाल मे टोडा यह नाम भी प्रचलित था।

'भट्टारक सप्रदाय पृष्ठ ९८ मे वि स० १४९७ का एक उल्लेख है उसमे भी 'श्री टोडा महादुर्गे' लिखा है इसी तरह पृष्ठ १०५ मे स० १६१५ का उल्लेख है उसमे भी 'टोडागढ महादुर्गे' लिखा है।

अत यह टोडा नाम भी काफी प्राचीन है। यह टोडा नाम कैसे प्रचलित हुआ इस पर जब हम विचार करते है तो ऐसा ज्ञात होता है कि—टोडियो को सस्कृत मे 'मत्त वारण' कहते है। इस नगर मे टोडियाँ—इमारती कार्य मे उपयोग आने वाले पत्थर प्राचीन समय से ही बहुत बनते आ रहे है इसी पर से इसका नाम टोडा प्रसिद्ध हो गया है।[1]

---

१ इसे टोडारायसिह भी कहते है इसका कारण यह है कि एक दूसरा टोडा नगर भी है जो 'भीम का टोडा' कहलाता है उससे अलग पहचान के लिए इसे टोडारायसिह कहते है। भीम और रायसिह ये दो राजा हुए है।

यहाँ के एक मन्दिर मे जो रैंण का मन्दिर नाम से प्रसिद्ध है उसमे सैकडो की सख्या मे हस्तलिखित प्राचीन जैन शास्त्र थे जिन्हे धीरे-धीरे बाहर के लोग ले गये अब तो थोडे से शास्त्र बचे है।

इस मन्दिर को रैंण का मन्दिर इसलिए कहते है कि पहले इसमे खिरणी जिसे इधर राणी बोलते है[1] उसका वृक्ष लगा हुआ था।

इस प्रकार यह टोडा नगर का सक्षिप्ततम प्रासगिक परिचय है।



१ राजादन फलाध्यक्ष क्षीरिकायामथ द्वयो (अमरकोष, १, ४, ४५)

नेमिप्रभु की बारात

वीरवाणी वर्ष ३ पृष्ठ २५ पर क्षुल्लक श्री सिद्धसागर जी ने पडित कैलाशचन्द्र जी कृत 'जैनधर्म' पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखा है —

'नेमिनाथ की वारात का जो वर्णन है वह जूनागढ की ओर जाने के साथ दिगम्वरो की मान्यता के अनुसार सम्वन्ध नही रखता। जो वैराग्य उत्पन्न करने का छल रचा गया था उसका सम्वन्ध द्वारिका के उद्यान आदि के साथ है इसे पद्मपुराण से जान लेना चाहिए। वरात सजकर जूनागढ नही गई किन्तु द्वारिका से ही नेमिनाथ दीक्षा के लिए पालकी मे वैठकर निकले, वारात जाने की जो कविता या कथा है वह दतकथा है उसका आधार चित्र है,।

समीक्षा —'जैनधर्म' (प्रथम सस्करण) पृ० १८ मे लिखा है — 'जूनागढ के राजा की पुत्री राजमती से नेमिनाथ का विवाह निश्चित हुआ, वडी धूमधाम के साथ वारात जूनागढ पहुँची, इसपर आपत्ति करते हुए क्षुल्लक जी ने नेमिप्रभु की वारात की वात को गलत वताया है। ऐसा ही कुछ अन्य विद्वानो का भी ख्याल है परन्तु यह सव ठीक नही है। मन्दिरादि मे जो नेमिप्रभु की वारात के चित्र पाये जाते है वे शास्त्र समत ही है। उन्हे जो शास्त्राधार से रहित, दन्तकथामात्र या श्वेतावरो की नकल वताते है उन्होने इस विपय मे दि० शास्त्रो का ठीक से अध्ययन नही किया है। देखिये—

उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) पर्व ७१ मे लिखा है—

पंचरत्नमय रम्य समानयदनुत्तरम्।
विवाहमडप तस्य मध्यस्थे जगतीतले ॥१४९॥

विस्तृताभिनवानर्घ्यवस्त्रे सौवर्णपट्टके ।
वध्वा सह समापार्द्रतडुलारोपण वर ॥१५१॥
परेद्यु समये पाणिजलसेकस्य माधव ॥
यियासुर्दुर्गति लोभसुतीव्रानुभवोदयात् ॥१५२॥

अर्थ—पचरत्नो का सुन्दर विवाह-मडप वनवाया उसके वीच मे वेदी वनवाई जिसके ऊपर विस्तृत वहुमूल्य वस्त्र तना हुआ था वहाँ सुवर्ण की चौकी पर नेमिकुमार ने वधू राजमती के साथ—चावलो के पौधे रोपने (अकुरारोपण) की विधि सम्पन्न की । दूसरे दिन हाथ मे जलधारा देने के समय [redacted] श्रीकृष्ण के विचार लोभ कपाय से अभिभूत हो गये ।

इससे साफ सिद्ध है कि नेमिप्रभु राजमती से विवाह के लिए उग्रसेन के यहाँ (जूनागढ) गये थे अत उनकी वारात की वात भी स्वत सिद्ध हो जाती है ।

नेमिनिर्वाण (वाग्भट कृत) पर्व १२ मे लिखा है—

विवाहार्थ प्रतिष्ठासुरुग्रसेनपुरी प्रति ।
अगीचकार नेपथ्य नेमिनाथो यथा विधि ॥१॥
समेत बधुवर्गस्य वरस्यास्य प्रसर्पत ।
सवधित पुरे वार्ता सह तूर्यरवैरगात् ॥२६॥

जगत्त्रय वरस्यास्य वरस्यालोकहेतवे ।
जवान्नगरनारीभिरध्यासे सौधमूर्धसु ॥४८॥
इत्थ पुरपुरध्रीणा शृण्वन्नन्योन्यसकथा ।
नेमि समासदत्तत्र द्वार सवधिन शनै ॥६९॥

दूर्वाक्षतैर्मलयजेन घनेन दध्ना,
विभ्राजित कनकभाजनमाददाना ।
तत्रोग्रसेननृपतेर्दयिता वरस्य,
कर्तु विवाहमहमगलमग्रतोऽभूत् ॥७०॥

अर्थ—विवाह के लिए उग्रसेन की नगरी को प्रयाण करने के इच्छुक नेमिप्रभुने अलंकार धारण किये। वस्त्र वाद्यों के साथ वर के प्रस्थान करने की सूचना तुरही के शब्दों के साथ समधी के नगर में पहुँची, तीन लोक के वर ऐसे नेमिनाथ वरको देखनेके लिए भगकर नगरकी स्त्रियाँ मकानों के ऊपरी खंड पर जा बैठी और परस्पर नेमिनाथ के रूप की चर्चा करने लगी जिसे सुनते हुए नेमिप्रभु धीरे-धीरे समधी के गृह द्वार पर पहुँचे। वहाँ मांगलिक द्रव्यों के साथ सुवर्ण पात्र को हाथ में लिये उग्रसेन की रानी ने वर की अगवानी की।

पांडव पुराण (शुभचन्द्र कृत) पर्व २२ में लिखा है—

विवाहार्थं जिनो गच्छन्वीक्ष्य बद्धान् बहून्पशून्।
पृष्ट्वा तद्रक्षकानाप वैराग्यं रागदूरगः ॥४३॥

अर्थ—नेमिकुमार ने विवाह के लिए प्रस्थान किया और बंधे हुए पशुओंको देखा तथा इसका कारण जानकर उन्हें वैराग्य हो गया।

इन्ही संस्कृत ग्रन्थो के आधार पर प्राचीन हिन्दी कवियों ने भी नेमि-प्रभु के विवाह-बारात का हृदयग्राही वर्णन किया है। देखिए—

१—विनोदीलाल जी कृत 'बारहमासा' (राजुल नेमिका)

तुम आगे आषाढ में क्यों न लियो
व्रत काहें को एती बारात बुलाई॥
अरु छप्पन कोड जुडे यदुवंशी
व्याहन आय निशान बजाई॥
संग समुद्र विजय बलभद्र मुरारि हु
की तुम्हें लाज न आई॥
नेमि पिया उठ आवो घरे
इन बातन में कहो कौन बडाई॥

१—खेमचन्द्रजी कृत 'नेमिव्याह'

समुद्र विजय यादव नृपति तिन सुत नेमकुमार ।
जूनागढ व्याहन चले उग्रसेन दरबार ॥

३—विनोदीलालजी कृत 'नेमिव्याह'

मौर धरो शिर दूलह के
कर ककण वाँध दई कस डोरी ।
कुण्डल कानन मे झलके अति,
भाल मे लाल विराजत रोरी ।
मोतिन की लड शोभित है छवि
देखि लजे वनिता सव गोरी ।
लाल विनोदि के साहिव को मुख
देखन को दुनिया उठ दौरी ।

'गिरिनार गौरव' (पृ० २६) मे इतिहासज्ञ विद्वान् वावू कामताप्रसादजी ने भी लिखा है—

'जव नेमिकुमार का विवाह होने लगा और वारात जूनागढ गई तव एक करुणाजनक दृश्य ने उन्हे ससार से विरक्त कर दिया, तोरण द्वार से वह लौट गये ।

इन सव उल्लेखो से स्पष्ट है कि—नेमिकुमार विवाह के लिए वारात सजाकर गये थे । पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने जो इस विषय मे लिखा है वह गलत नही है वल्कि शास्त्राधार से युक्त है ।

क्षुल्लक जी ने अपने कथन के समर्थन मे यह लिखा है कि 'इसे पद्मपुराण से जान लेना चाहिए, सो विलकुल भ्रान्त है क्योकि पद्मपुराण मे एतद्विषयक कही कोई कथन नही है ।

हरिवश पुराण (सर्ग ५५ श्लोक ७१ से २०८) मे जरूर क्षुल्लकजी

का कथन पाया जाता है यानी उसमे नेमिकुमार का विवाहार्थ प्रस्थान करने का वर्णन नही है किन्तु मात्र हरिवंशपुराण के आधार से नेमिनाथ की बारात के वर्णन को दन्तकथा कहना, किसी लेखक के ऐसे कथन पर आपत्ति करना, ऐसे चित्रादि को गलत और दिगम्बर विरुद्ध बताना, तो उचित नही कहा जा सकता। क्योकि अन्य अनेक ग्रन्थो मे स्पष्टतया नेमिप्रभु की बारात का वर्णन है अत उत्तरपुराण, नेमिनिर्वाणादि प्राचीन मान्य ग्रन्थो के आधार से नेमिप्रभु की बारात की बात को सही ही समझना चाहिये।



यह अष्टमूल गुण-प्रतिपादक श्लोक किसका है ?

गवेषक विद्वान् अनुसंधान करे

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्म परिग्रहाच्च वादरभेदात् ।
द्यूतान्मासान्मद्याद् विरतिर्गृहिणोऽष्ट (सन्त्यमी) मूलगुणा ॥

इस श्लोक को विद्वान् अष्ट मूलगुणो के विवेचन मे जिनसेन और उनके आदिपुराण के नाम से देते हुए देखे जाते है पर खोज करने पर भी यह श्लोक समग्र महापुराण मे कही नही मिला, समझ मे नही आता यह श्लोक जिनसेन के नाम पर कैसे चढा दिया गया ? जहाँ तक मेरा खयाल है सर्वप्रथम पण्डितवर्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने करीव तीस वर्ष पहिले "जैनाचार्यो का शासनभेद" नाम के अपने ट्रेक्ट मे इस श्लोक को आदि-पुराण के प्रणेता श्री जिनसेनाचार्य के नाम से उद्धृत किया था फिर तो इसकी परम्परा चल पडी और विद्वानो ने विना इस वात की स्वय जाँच किये कि—यह आदिपुराण के किस पर्व का कौन से नम्वर का श्लोक है, योही जिनसेन के नाम से इस श्लोक को देना शुरू कर दिया, यथा पण्डित हीरालाल जी ने वसुनन्दि श्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना पृष्ठ ३५ पर, पण्डित दरवारीलाल जी सत्यभक्त ने "जैनधर्म मीमासा" भाग ३ पृष्ठ ३२२ पर, स्व० मास्टर विहारीलालजी ने "वृहज्जैन शव्दार्णव" भाग २ पर, श्री भँवरलालजी पोल्याका शास्त्री ने "वीरवाणी" वर्ष ९ अक १९-२० पृष्ठ २३० पर इसका उल्लेख किया है ।

इसके लिए मैने दो-तीन विद्वानो से पत्र-व्यवहार भी किया पर किसी ने कोई समुचित उत्तर नही दिया ।

अव मै यह वताना चाहता हूँ कि—जिनसेनाचार्य ने अपने आदिपराण

पर्व ३८ श्लोक १२२ मे कुछ जुदे ही आठ मूलगुण बताये है यथा—मधु-मासपरित्याग पचौदुंवरवर्जनम्। हिंसादिविरतिश्चास्य व्रत स्यात्सार्वकालिकम्॥ (मधुत्याग, मांसत्याग, पचौदुम्बर त्याग, हिंसादि पाँच पापो का त्याग इस प्रकार आठ सार्वकालिक व्रत—मूलगुण होते है)। ऐसी हालत मे यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि—फिर विद्वान् इन मूलगुणो का जिनसेन के नाम से उल्लेख न कर उस अनुपलब्ध श्लोक का क्यो उल्लेख करते है ? प्रतीत होता है कि—पर्व ३८ का यह उपलब्ध श्लोक सम्भवत विद्वानो के ध्यान मे ही नही है, वे तो एक दफे जो परम्परा चल पडी उसी का अनुसरण करते है। इस विषय मे एक बात और जानने योग्य है वह यह कि—

चारित्रसार (शास्त्राकार पृष्ठ ३०) मे चामुण्डराय जी ने 'तथा चोक्त महापुराणे' लिखकर यह "हिंसाऽसत्यस्तेय" नाम का श्लोक उद्धृत किया है सम्भवत इसी का अनुसरण कर सागारधर्मामृत अध्याय २ श्लोक ३ के स्वोपज्ञ भाष्य मे पण्डित आशाधर जी ने भी 'महापुराण मते तु स्मरेत्', लिखकर पजिका मे इस श्लोक को उद्धृत किया है। पर इन दोनो विद्वानो ने आचार्य जिनसेन का और पर्व श्लोक सख्यादि का कोई उल्लेख नही किया है अत इस बात की सख्त जरूरत है कि—यह श्लोक किस ग्रन्थ का है और उसका कर्त्ता कौन है तथा पर्व और श्लोक सख्या उसकी क्या है, इसका पूरा पता लगाया जाय।

अनेक हस्तलिखित प्रतियो के आधार से सम्पादित महापुराण के ज्ञानपीठ प्रकाशन की श्लोक सूची बडी सावधानी के साथ देखी गयी पर वहाँ हमे इस श्लोक का कोई पता नही लगा, हो सकता है चारित्रसार और सागारधर्मामृत मे उल्लिखित 'महापुराण' जिनसेन कृत न होकर किसी अन्य कवि कृत हो और अगर जिनसेन कृत ही हो तो फिर ऐसी हस्त-लिखित प्रति की खोज होनी चाहिये जिसमे यह श्लोक पाया जाता हो।

आशाधर जी ने जहाँ भी जिनसेन के महापुराण से कुछ उद्धृत किया है वही महापुराण या जिनसेन का नामोल्लेख न करके सिर्फ 'इत्यार्षे' लिखा है और साथ मे पर्व सख्या दी है। अगर यह श्लोक जिनसेन गुणभद्र के महापुराण का होता तो वे अवश्य इत्यार्षे लिखकर पर्व सख्या भी देते अत यह श्लोक किसी अन्य महापुराण का ज्ञात होता है, सम्भव है मल्लिषेण कृत महापुराण का हो।

(जिनसेन के महापुराण का इस श्लोक को मानने मे सबसे बडी बाधा यह भी आती है कि पर्व ३८ के श्लोक १२२ के कथन के साथ इसमे भिन्नता पाई जाती है।) अत अन्वेषक विद्वानो का कर्तव्य हो जाता है कि वे इस श्लोक के ठीक उद्गम स्थान का पता लगाये। तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थो मे भी यह श्लोक कही उद्धृत हुआ हो तो उससे सूचित करे।



नौ बलदेवों के नाम और पद्मचरित

निम्नांकित दिगम्बर ग्रन्थों में ९ बलदेवों के नाम इस प्रकार दिये हैं —

१—'तिलोयपण्णत्ती' अधिकार ४ गाथा १४११ ।

विजओ अचलो धम्मो सुप्पह णामो सुदंसणो णंदी ।

णंदिमित्तो य रामो पउमो णव होंति बलदेवा ॥

१ विजय, २ अचल, ३ धर्म, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ नन्दी, ७ नन्दिमित्र, ८ राम, ९ पद्म ये नव बलदेव होते हैं ।

२—ऐसा ही 'तिलोयसार' गाथा ८२७ में है ।

३—'वरांग चरित', सर्ग २८ में भी ऐसा ही लिखा है—

बलेष्वेको विजयोऽचलश्च धर्मस्ततोऽन्यश्च सुप्रभश्च ।

ततः सुदर्शोऽपि च नन्दिनामा स्यान्नन्दिमित्रश्च हि रामपद्मौ ॥४३॥

४—यही 'हरिवंश पुराण' सर्ग ६० में लिखा है —

विजयोऽचलः सुधर्मश्च सुप्रभश्च सुदर्शनः ।

नंदी च नंदिमित्रश्च रामः पद्मो बला नव ॥२९०॥

५—'गौतम चरित' (मंडलाचार्य धर्मचन्द्रकृत) अधि० ५ श्लोक १५८-१५९. —

प्रथमो विजयाभिख्योऽचलः सुधर्मसुप्रभौ ।

स्वयप्रभस्तथा नंदी नन्दिमित्राभिध क्रमात् ॥

राम पद्मो बला प्रोक्ता जिनदीक्षाप्रचारका ।

मोहमदनजेतारो निर्निदानास्तयोर्व्वगा ॥

इसमे और नाम तो पूर्ववत् दिये हे किन्तु ५वा नाम 'सुदर्शन' की जगह 'स्वयप्रभ' दिया है यह अतर हे ।

६—एक 'जिनवाणी मग्रह' मे पृष्ठ ६२२ पर इस प्रकार नाम दिये हैं–

१ विजय, २ अवध, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नदननद, ८ पद्म-रामचद्र, ९ वलभद्र। (ये नाम और भी विशेप अन्तर को लिए हुए हैं न जाने कहाँ से मग्रह किये हे)।

७—उत्तरपुराण (गुणभद्र कृत) त्रिपष्टि स्मृति गास्त्र (आशाधर कृत) अपभ्रग महापुराण (पुष्पदन्त कृत) मे भी 'तिलोयपण्णत्ती' के समान नाम दिये हैं किन्तु छठा नाम पूरा 'नदिपेरण' दिया है।

अव श्वेताम्वर आम्नाय मे ये नाम किस प्रकार दिये हैं यह वताया जाता है —

१—'अभिधान चिन्तामणी' शव्दकोश (हेमचन्द्र कृत) काण्ड ३

अचलो विजयो भद्र सुप्रभश्च सुदर्शन.।
आनदो नदन पद्मो राम शुक्ला वलास्त्वमी ॥३६२॥

१ अचल, २ विजय, ३ भद्र, ४ सुप्रभ, ५ सुदर्शन, ६ आनन्द, ७ नदन, ८ पद्म, ९ राम। ये ९ वलदेव हैं जिनका वर्ण श्वेत हैं।

२—'विचारसार प्रकरण' (प्रद्युम्न सूरि कृत) गाथा ५६७ मे भी इसी प्रकार लिखा है—

अयले विजये भद्दे सुप्पभे य सुदसणे।
आणदे नदणे पउमे रामे आवि अपच्छिमे॥

३—विमल सूरि कृत 'पउमचरिय' पर्व ५ गाथा १५४ मे भी ऐसा ही लिखा है—

अयलो विजओ भद्दो सुप्पभ सुदसणो य नायव्वो।
आणदो नदणो पउमो नवमो रामो य वलदेवो॥

ऐसा ही पर्व ७ गाथा ३५ मे लिखा है।

४—प्रवचनसारोद्धार और समवायाग सूत्र मे भी ये ही नाम दिये है।

कृत रामचरितमानस मे भी राम का 'पद्म' नाम नहीं दिया है। (वैदिक सम्प्रदाय मे व्यासमुनि कृत 'पद्मपुराण' नाम का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है उसमे भी 'पद्म' नाम राम का नहीं दिया है किन्तु उत्थानिका में पद्म-योनि = ब्रह्मा और पद्मनाभ = विष्णु के नाम पर उसका नाम 'पद्मपुराण' रखा प्रतीत होता है।)

इस तरह वैदिकों मे भी 'राम' का 'पद्म' नाम नहीं पाया जाता। जहाँ तक मेरा अनुमान है यह 'पद्म' नाम विमलसूरि के पउमचरिउ से प्रचलित हुआ है और श्वेताम्बर सम्मत है।

२—ज्ञानपीठ मे प्रकाशित रविषेणाचार्य कृत 'पद्मचरित' भाग १ मे ग्रन्थमाला के सपादकों ने अपने 'सपादकीय' मे लिखा है—

"जैन परम्परा मे राम को त्रेसठशलाका पुरुषों में वासुदेव के रूप मे गिना गया है।"

विद्वान् सपादकों ने जो राम को जैन परम्परा मे वासुदेव (नारायण) बताया है वह गलत है, जैन परम्परा मे राम को ८वां बलदेव माना है वासुदेव (नारायण) नहीं, उन्हे वासुदेव तो वैदिक सम्प्रदाय मे माना है।

मे प्रथम वलभद्र का नाम 'विजय' दिया है और पर्व ७३ श्लोक ९९ मे 'विजय और अचल सिर्फ ये २ नाम दिये है इनसे साफ मालूम होता है कि रविषेण ने ये नाम दि० आम्नाय के क्रम से दिये है किन्तु प० दौलतराम जी ने और सपादक प० पन्नालाल जी ने 'अचल विजय' इस श्वे० क्रम से अपने अनुवादो मे नाम दिये है। (रविषेण ने पर्व २० श्लो० २४४-२४५ मे प्रतिनारायणो के नाम दि० क्रम से दिये है किन्तु प० पन्नालालजी सा० ने भाग ३ पृष्ठ ४६ के पाद टिप्पण मे ये नाम श्वे० क्रमानुसार दिये है शायद यह भी विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के अनुसार किया गया है)।

यहाँ मै पाठको को यह वताना आवश्यक समझता हूँ कि—श्वेताम्बर आम्नाय मे ८वें वलदेव का नाम 'पद्म' माना गया है जब कि दि० आम्नाय मे 'पद्म' नाम ९वें वलदेव का माना है यह दिगम्वर, श्वेताम्वर मे खास अन्तर है। किसी भी प्राचीन दिगम्वर ग्रन्थ मे ८वे वलदेव 'राम' का नाम 'पद्म नही दिया गया है किन्तु रविषेण ने 'पद्म' नाम दिया है देखो पर्व २५, श्लोक २२ आदि, और उसी के अनुसार ग्रन्थ का नाम 'पद्मचरित' रखा है। दिगम्वर रविषेण ने इस श्वेताम्वर आम्नाय को क्यो अपनाया ? इसका कारण विमलसूरि का 'पउमचरिउ' है। अगर रविषेण पद्म नाम मे परिवर्तन करते तो उन्हे सारे ग्रन्थ मे काफी (आमूलचूल) परिवर्तन करना पडता अत विवश हो उन्हे श्वेताम्वर परम्परा को अपनाना पडा—ऐसा प्रतीत होता है और शायद इसी से उन्होने वलदेवो के ९ नाम दिये हैं।

इसी प्रसग मे मै पाठको को एक-दो वाते और वताना चाहता हूँ—

१—वैदिक सप्रदाय मे वाल्मीकि कृत एक प्राचीन रामायण ग्रन्थ है जिसको लेकर विमलसूरि ने अपना 'पउमचरिउ' वनाया है उस वाल्मीकि रामायण मे भी कही राम का नाम 'पद्म' नही पाया जाता, तुलसीदासजी

कृत रामचरितमानस मे भी राम का 'पद्म' नाम नही दिया है। वैदिक सप्रदाय मे व्यासमुनि कृत 'पद्मपुराण' नाम का भी एक प्राचीन ग्रन्थ है उसमे भी 'पद्म' नाम राम का नही दिया है किन्तु उत्थानिका मे पद्म-योनि = ब्रह्मा और पद्मनाभ = विष्णु के नाम पर उनका नाम 'पद्मपुराण' रखा प्रतीत होता है।

इस तरह वैदिको मे भी 'राम' का 'पद्म' नाम नही पाया जाता। जहाँ तक मेरा अनुमान है यह 'पद्म' नाम विमलसूरि के पउमचरिउ से प्रचलित हुआ है और श्वेताम्बर सम्मत है।

२—ज्ञानपीठ मे प्रकाशित रविषेणाचार्य कृत 'पद्मचरित' भाग १ मे ग्रन्थमाला के सपादको ने अपने 'सपादकीय' मे लिखा है—

"जैन परम्परा मे राम को त्रेसठशलाका पुरुषो मे वासुदेव के रूप मे गिना गया है।"

विद्वान् सपादको ने जो राम को जैन परम्परा मे वासुदेव (नारायण) बताया है वह गलत है, जैन परम्परा मे राम को ८वा वलदेव माना है वासुदेव (नारायण) नही, उन्हे वासुदेव तो वैदिक सप्रदाय मे माना है।



'पद्मचरित' में गंधर्व देवादि का मद्य पान

वि० स० २०१६ भाद्रपद के 'जैन-महिलादर्श' मे भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पद्मपुराण प्रथम खण्ड की समालोचना करते हुए लिखा है कि—"इसके पर्व १७ श्लोक २६८ मे सम्पादक महोदय ने 'मद्य पीतवान्, पाठ रखकर गधर्व देव को मद्यपायी वताया है—यह देवावर्णवाद है, इस कथन से जैन लोग भी जैनेतरो की तरह देवताओ को मद्य चढाने लगेगे। जव कि जैन शास्त्रो मे वताया है कि—देवता मद्य-पान नही करते। माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के सस्करण मे 'मद्य पीतवान्' की जगह 'सद्य प्रीतवान्' ठीक पाठ है वही होना चाहिए।"

जव हमने ग्रन्थ उठाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि--सम्पादक महोदय पर लगाया गया उक्त आरोप विल्कुल मिथ्या है, नीचे उसीका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

सम्पादकजी ने 'मद्य पीतवान्' पाठ अपना मन कल्पित नही रखा है, ऐसा पाठ प्रतियो मे मिलने से तथा यही पाठ प्रकरण सगत और शुद्ध होने से रखा है[1] आगे के सम्वद्ध श्लोक न० २७० मे साफ तौर से 'कादम्वरी[2] (मदिरा) का उल्लेख किया गया है। इसीको दृष्टि मे रखकर सम्पादकजी ने सदर्भानुकूल उक्त पाठ चुना है।

'मद्य प्रीतवान्' पाठ तो असगत ही नही निरर्थक भी है तथा सस्कृत रचना की दृष्टि से भी गलत है फिर भी सम्पादकजी ने उसे पाद टिप्पण मे प्रदर्शित कर दिया है। इस तरह सम्पादक महोदय का कार्य तो

---

१. प्रमोदवानसौ मद्य पीतवान् सुमहागुणम्।

२ उपदेशो (उपदशो) हि गातव्य कादम्बर्यामनुत्तमम्।

सावधानता पूर्ण और साधार है, ऐसी हालत मे वे तो आरोप से सर्वथा मुक्त हो जाते है और उक्त सिद्धान्त-विरुद्धता का आरोप स्वय ग्रन्थकार रविषेण आचार्य पर आ पडता है।

इस विषय मे पाठको की जानकारी के लिए थोडा सा प्रकाश और डाला जाता है। प० दौलतराम जी ने अपनी हिन्दी वचनिका मे गधर्व देव के मद्य पान के इस कथन को साफ छोड दिया है। पण्डित जी सा० ने मूल ग्रन्थ की और भी बहुत सी आपत्तिजनक बातो को इसी तरह छोडा है।

यह कथन क्षेपक भी नही है प्रकरण को देखने से मूलग्रथकार कृत ही ज्ञात होता है, किसी भी प्रति में इसका अभाव भी नही पाया जाता है।

'पद्मचरित' मे मद्य पान का एक और कथन पाया जाता है। देखो पर्व ११८ वहाँ बताया है कि—"शोकाकुल राम मृत लक्ष्मण को चषक (मदिरा पात्र) से उत्तम मदिरा पीने के लिए अनुरोध करने लगे[1]।" ऐसा ही विमलसूरि के प्राकृत 'पउम चरिय' पर्व ११३ गाथा १० मे बताया है[2]। इस कथन को आपत्ति जनक समझ कर प० दौलतराम जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार कर डाला कि—"हे लक्ष्मीधर यह नाना प्रकार की दुग्धादि पीवने योग्य वस्तु सो पीवो, ऐसा कह करि भाई कू दुग्धादि प्याया चाहे सो कहा पीवे।"

(मूल मे कही भी दुग्धवाची शब्द नही है फिर भी पण्डित जी ने ग्रथ पर कोई आपत्ति न आवे इसलिए ऐसा अर्थ कर दिया है।)

१ इय श्रीधर ते नित्य दयिता मदिरोत्तमा।
इमा तावत्पिब न्यस्ता चषके विकचोत्पले ॥१५॥

२ एसा य उत्तमरसा णियय कादम्वरी तुमं इट्ठा।
पियमु चसएसु लक्खण उप्पल सुरहिगधड्ढा।

यहाँ एक शका हो सकती है कि—जैसे पर्व ११८ मे 'मदिरा' का 'दुग्ध' अर्थ किया है वैसा ही पर्व १७ मे क्यो नही किया ? इसका उत्तर यह है कि सभी जाति के देव मद्य पान करना तो दूर रहा किसी प्रकार का भी कवलाहार नही करते, ऐसी जैनमान्यता है[1]। इसलिए पण्डित जी ने पर्व १७ से 'मद्य' का अर्थ 'दुग्ध' न करके उस कथन को ही छोड दिया है। इस सबसे स्पष्ट है कि प० दौलतराम जी को भी ये कथन सिद्धात-विरुद्ध प्रतीत हुए है।

"जो सुरा (मदिरा) पीते है उन्हे सुर (देव) कहते है[2]" ऐसी किसी लौकिक व्युत्पत्ति को लक्ष्य मे रख कर सभवत रविषेण आचार्य ने गधर्व देव को मद्यपायी वताया है। खैर, कुछ भी हो, है यह जैन सिद्धातविरुद्ध, देखो—तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सूत्र १३[3]।

इस पर विचार करते हुए २८ जनवरी ६० के जैन गजट मे 'प्रथमानुयोग' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है नीचे उस पर समीक्षात्मक रूपसे कुछ विचार किया जाता है।

जैन गजट के उक्त अक मे लिखा है—

'दर्शन' और 'समय' शब्द के अनेको अर्थ होते है किन्तु जहाँ जैसा प्रकरण हो वहाँ वैसा अर्थ जानना, इसी प्रकार 'मद्य' शब्द का यद्यपि रूढि अर्थ मदिरा (शराव) है किन्तु यौगिक अर्थ आनन्द व हर्ष भी है क्योकि 'मद्य' शब्द 'मद्' (मदि) धातु से बना है। 'मद्' का अर्थ आनन्द मनाना, या आनन्दित होना, भी है।

---

१ भाव सग्रह प्राकृत गाथा। ११२—
"देवेसु मणाहारो" (देवताओ के मानसिक अमृताहार होता है)

२ सुरा एपाभस्तीति वा यतोऽब्धिजा सुरा तै पीता इति सुरा — अमरकोप की क्षीरस्वामी कृत टीका।

३ सुरा मासोपसेवाद्याघोपण देवावर्णवाद ।

श्री रविषेण कृत संस्कृत पद्मपुराण पर्व १७ श्लोक २६८ मे 'मद्य' शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ पर प्रकरणानुसार मद्य का अर्थ शराब नही जानना चाहिये किन्तु 'आनन्द, ग्रहण करना चाहिये। गुफा मे स्थित अञ्जना पर आये हुए सिंह के उपद्रव को दूर कर गधर्व देव बडा हर्षित हुआ और महागुणकारी मद्य (आनन्द) का पान किया। यह मद्य (आनन्द) परोपकार से उत्पन्न हुआ था अत इसका विशेषण 'महा-गुणकारी' दिया गया है। प्रकरण अनुसार 'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' न कर किन्तु 'शराब' अर्थ करके आचार्यों की भूल दृष्टिगत होने लगती है क्योकि देव मदिरा—शराब का पान नही करते। अपनी भूल को आचार्यो के सिर पर थोपना अनुचित है।'

समीक्षा—एक शब्द के अनेक अर्थ होने का यह तात्पर्य नही है कि मनमाने अर्थ भी हो जाते हो। 'मद्य' का अर्थ किसी भी कोश मे 'आनन्द' नही दिया है—न किसी साहित्यिक ग्रन्थ मे 'मद्य' शब्द 'आनन्द' अर्थ मे प्रयुक्त पाया जाता है क्योकि ऐसा अर्थ व्याकरण से निष्पन्न नही होता। ऐसा अर्थ 'मद' शब्द का जरूर हो सकता है किन्तु 'मद' और 'मद्य' मे बहुत अन्तर है, 'मद्य' शब्द 'मद्' धातु से करण कारक अर्थ मे 'यत्' प्रत्यय होने पर सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है—'जिससे मस्ती हो ऐसा पदार्थ यानि शराब'।

थोडी देर के लिए किसी तरह 'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' मान भी लिया जाय तो निम्नाकित आपत्तियाँ खडी होती है—

(१) ऐसा अर्थ मानने पर अर्थ संगति नही बैठती क्योकि ग्रन्थकार ने गधर्वदेव के हर्षित होने के अर्थ मे तो पहले से ही 'प्रमोदवान्' पद का प्रयोग किया फिर आनन्द को पान करने की बेतुकी सी और पुनरुक्त बात वे कैसे लिख सकते है यह सोचने की बात है।

(२) ऐसा अर्थ सभव ही होता तो प० दौलतराम जी को इसका

अनुवाद नही छोडना पडता और न 'मद्य पीतवान्' की जगह 'सद्य. प्रीतवान्' पाठ भेद होने का ही अवसर आता ।

(३) 'आनन्द' वाची अनेको शब्द है उनका कोई अकाल नही पड गया था जो कवि महोदय उस अर्थ मे वेतुके और विचित्र इस 'मद्य' शब्द का प्रयोग करते ।

इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि—'मद्य' का अर्थ 'आनन्द' नही होता । इसके सिवा एक वात और है—श्लोक २६८ मे ही शराववाची 'मद्य' शब्द नही पाया जाता है वल्कि उसी प्रसग मे आगे ही श्लोक २७० मे शराववाची 'कादम्बरी' शब्द का और प्रयोग पाया जाता है । 'जैन गजट' के लेखक जी ने अपने लेख मे यह कही नही वताया है कि 'कादम्वरी' का आनन्द अर्थ कैसे होगा ?

इस तरह साफ मदिरा पान की वात के रहते हुए भी उससे किनारा-कसी करके समाधान का प्रपच करना ठीक नही ।

('पद्मचरित' मे एक और प्रकरण है जिससे भी यक्ष राक्षसादिको के कवलाहार की अभिव्यक्ति होती है देखो पर्व १४ श्लो० २७१—

डाकिनी प्रेत भूतादि कुत्सित प्राणिभि सम । भुक्त तेन भवेद्येन न क्रियते रात्रिभोजनम् ॥ (जो रात्रि मे भोजन करता है वह डाकिनी प्रेत भूतादि नीच प्राणियो के साथ भोजन करता है)

इन्ही के अनुसर्त्ता मेधावी ने अपने 'धर्म सग्रह श्रावकाचार' अध्याय ६ श्लोक २१ मे और यश कीर्ति ने 'प्रबोधसार' अ० २ श्लोक ५१ मे ऐसा ही लिखा है ।

(स्वयभूने अपने 'पउम चरिउ' (ज्ञानपीठ से प्रकाशित हिन्दी अनुवा-दात्मक भाग २ पृष्ठ २२८-२२९) मे रात्रि भोजन[1] त्याग का वर्णन करते हुए लिखा है —

---

१ हिन्दी अनुवादक ने पृ० २२१, २२९ में अणत्थमिए (अनस्तमित)

"गधर्वदेव दिन के पूर्व मे" सभी देव दिन के मध्य मे, पिता पितामह दिन के अत मे तथा राक्षस भूत पिशाच और ग्रह रात्रिमे खाते है।")

ऐसा ही मेधावी कृत धर्म सग्रह श्रावकाचार अ० ६ श्लोक ३१-३२ मे लिखा है।

('पद्मचरित' मे कुछ और सिद्धान्त व दि० आम्नाय विरुद्ध कथन पाये जाते है —

(१) देखो पर्व १२३, इसमे बताया है कि—१६वें स्वर्ग का प्रतीन्द्र (सीता का जीव) रावणादि को सबोधने के लिए तीसरे नरक मे गया। जब कि धवला पुस्तक ४ पृष्ठ २३८-२३९ मे बताया है कि— १२ वें से १६ वे स्वर्ग के देव नीचे प्रथम नरक के चित्रा भाग से आगे नही जाते। राजवार्तिक अ० सूत्र २२ मे भी उक्त देवो का इतना ही क्षेत्रस्पर्श बताया है—इनसे 'पद्मचरित' का कथन धवलादि से विरुद्ध परिलक्षित होता है।

(२) 'पद्मचरित' मे ८ वें बलभद्र रामचन्द्रजी का नाम 'पद्म' दिया है किन्तु प्राचीन समस्त दि० ग्रन्थो मे 'पद्म' नाम ९ वें बलभद्र का दिया है ८ वें का 'राम' दिया है। देखो तिलोयपण्णत्ती, तिलोयसार, हरिवश-पुराण, वरागचरित, उत्तरपुराण आदि ग्रथो मे नव बलदेवो के नाम। अत रविषेण ने 'पद्म' नाम पर से ही जो ग्रन्थ का नाम 'पद्म-चरित' दिया है वह सब दि० आम्नाय विरुद्ध प्रतीत होता है।—राम का 'पद्म' नाम श्वेताम्बरो मे ही माना गया है दिगम्बरो मे नही। (इस प्रकार पद्म-चरित मे जो ये दो विपरीत कथन पाये जाते है इनका कारण विमल-सूरि कृत 'पउम-चरिय' (श्वे०) ग्रथ का अनुकरण है।

'पद्मचरित' मे मद्यपान का वर्णन अनेक स्थलो पर पाया जाता है

शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात न होने से उसे 'अनर्थदंडव्रत' का कथन बता दिया है जो गलत है वहाँ 'अनस्तमित' का अर्थ 'रात्रि भोजन त्याग' है।

जो पण्डित दौलतरामजी को बहुत खटका है इसका कारण यह प्रतीत होता है कि—सुरा, सुन्दरी और सगीत इन ३ सकारो का परस्पर सबन्ध है किन्तु सुन्दरी और सगीत तो अति होने पर ही दोपास्पद होते है जबकि सुरा तो एक बार भी अशमात्र सेव्य नही है। अत पण्डितजी ने अपनी वचनिका मे ऐसे प्रकरणो का या तो अर्थ ही नही किया है या कही अर्थ किया है तो बदलकर मूल से विपरीत कर दिया है। देखिये —

(१) पर्व २, श्लोक ३८ मदिरामत्तवनिताभूपणस्वानमभृत (वह राजगृह नगर शराब के नशे से मस्त स्त्रियो के नूपुरो से सदा झकृत रहता था)—वचनिका मे इसे छोड दिया गया है।

(२) पर्व १०२, श्लोक १०५ मधु शीधु घृत वारि नानान्न रस-वत्परम्। परमादरमपन्न प्रयच्छति समन्तत ॥ इसमे के मदिरावाची 'मधु' 'शीधु' शब्दो को छोडकर वचनिका मे इस प्रकार अर्थ किया गया है —नाना प्रकार के अन्न, जल, मिष्टान्न, लवण, घृत, दुग्ध, दही अनेक रस भाति-भाति खाने की वस्तु आदर से देवे है।

(३) पर्व ७३, श्लोक १३५ से १५५ '—

पिबन्तो मदिरामन्ये, रमते दयितान्विता ॥१३६॥
काचित्स्ववदन दृष्ट्वा चषके प्रतिबिंबितम्।
ईर्ष्ययेन्दीवरेणेश प्राप्ता मदमताडयत् ॥१३७॥
लोचनेपु निजो रागस्तासा मदिरया कृत ॥१३८॥
मदिरापतिना काचिदात्मीया लोचनद्युतिम्।
गृह्णन्तीन्दीवरप्रीत्या, कान्तेन हसिता चिरम् ॥१४०॥
लज्जासखीमपाकृत्य तासामत्यन्तमीक्षितम्।
कृत कादम्बरीसख्याप्रियेपु क्रीडित परम् ॥१४२॥

(कोई अपनी स्त्रियो के साथ शराब पीकर रमण करने लगे और कोई स्त्री मदोन्मत्त हुई मदिरा मे अपने प्रतिबिम्ब को देख (दूसरी स्त्री

का अनुमान कर) ईर्ष्या से अपने पति को कमल के द्वारा ताडने लगी। शराब ने अपना लाल रंग उन स्त्रियों की आँखो मे उतार दिया। कोई स्त्री मदिरा मे प्रतिबिंबित अपने नेत्रो को कमल समझ कर ग्रहण करने लगी, इस पर उसके पति उसकी हँसी उडाने लगे। लज्जा रूपी सखी को दूर हटा कर और मदिरा रूपी सखी मे संबंध जोड कर उन स्त्रियो ने अपने पतियो के साथ इच्छित क्रीडा की)

वचनिका मे इसकी जगह इस प्रकार लिखा है —

अर कैयक नारी अपने वदन को प्रतिबिंब रत्नानि की भीति विषै देख कर जानती भई कि कोई दूजी स्त्री मन्दिर मे आई है सो ईर्ष्या कर नीलकमल से पति कूँ ताडना करती भई। अर बर्फ के योग कर नारिनि के नेत्र लाल होय गए। अर कोई नवोढा हुती, प्रीतम ने अमल खवाय उन्मत्त करी सो मन्मथ कर्म विषै प्रवीण प्रौढा के भाव कूँ प्राप्त भई।

ऐसा ही तो इनका यौवन ऐसे ही सुन्दर मन्दिर अर ऐसे ही अमल का जोर सूँ सब ही उन्मत्त चेष्टा का कारण आय प्राप्त भया।

मूल मे साफ 'शराबवाची मदिरा, चषक, सुरा, कादम्बरी और मधु शब्दो के रहते हुए भी वचनिका मे उनका अमल (अफीम) और बर्फ अर्थ किया गया है, किन्तु श्लोक १३७ और १४० मे जो मदिरा की तरलता मे प्रतिबिंब दिखाई देने का वर्णन है वह अमल (अफीम) मे घटित नही हो सकता इस बाधा को देख कर वचनिका मे 'रत्ननी की भीति' लिख दिया है जब कि मूल मे इसका वाचक कोई शब्द नही है।

इस तरह वचनिकाकार ने पाठको को मूल की कई बातो से अपरिचित रखा है।

कोशो मे शराब के नामो मे एक नाम हलिप्रिय (सुरा हलिप्रिया हाला इत्यमर) दिया है, जिसका अर्थ होता है 'बलदेव की प्यारी। इसी तरह बलदेव के नामो मे एक नाम 'प्रियमधु' दिया है जिसका अर्थ

है जिनको शराब प्रिय है देखो हेमचन्द्राचार्यकृत अभिधानचिंतामणि कोष।

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीन काल मे शराब का बहुत दौर-दौरा था। और इसलिए काव्यो मे मद्यपानादि का वर्णन करना कवि-परपरा थी। जब तक काव्य मे सुरा सुन्दरी और सगीत का वर्णन न हो तब तक वह काव्य ही नही, बिना इनके कोई सरसता ही नही ऐसा कवि सम्प्रदाय था इसलिए रविषेण ने भी पद्मचरित मे इन सबका उपयोग किया प्रतीत होता है अब इसमे कोई जैनाचार ढूँढे तो वह कहाँ से मिले। फिर भी पद्मचरित मे जो गधर्व देव के मद्यपान का कथन है वह जैन सिद्धान्त की दृष्टि से ठीक प्रतीत नही होता विद्वान् विचार करे।

'तिलोयपरग्णत्ति और दिगम्बर पुराण' पर विचार

दिनाक ५-४-५६ के 'जैन-सन्देश' मे श्री ब्रह्मचारी चुन्नीलालजी देशाई, राजकोट वालो का—"तिलोयपण्णत्ति और दिगम्बर जैन पुराण" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिस मुख्य विषय को लेकर वह लिखा गया है नीचे उसकी समीक्षा की जाती है

श्री ब्रह्मचारी जी लिखते है —दिगम्बर ग्रन्थो मे जो यह वर्णन आता है कि—"नेमिकुमार के विवाह मे आये म्लेच्छ राजाओ के भोजन के लिए श्री कृष्ण द्वारा पशुसमूह इकट्ठा किया गया, सो निरामिषभोजी महान् पवित्र कुल मे जन्म लेनेवाले श्रीकृष्ण की ऐसी भावना कैसे हुई ? यह बात खटकने योग्य है, इस वर्णन को कोई भी समझदार दिगम्बर जैन भाई मानने को तैयार नही हो सकता।"

समीक्षा—इसमे खटकने जैसी कोई बात नही है, श्रीकृष्णजीने राज्यकी आशकासे यह सोचकर कि इससे भ० नेमिनाथजीको तत्काल वैराग्य हो जायगा पशुबधनका प्रबन्ध करवाया था और कोई हेतु नही था देखो भगवद् गुणभद्र कृत उत्तरपुराण पर्व ७१ श्लोक १५२ से १५४।

आगे आप लिखते है—पुराणो के रचयिता आचार्यो ने लिखा है कि 'मै पूर्वाचार्यो के अनुसार अथवा जैसा सुना है वैसा ही अपनी अल्पबुद्धि के माफिक लिखूँगा, अत. यही मानना पडेगा कि यह कथन श्वेताम्बराम्नायानुसार ही दिगम्बर आचार्यो ने अपनाया है।"

समीक्षा—यह लिखना भी आपका अति साहसपूर्ण प्रतीत होता है क्या दिगम्बराचार्य हिंसा व अहिंसा के भेद व मर्म को नही समझते थे ? एक नही समझे, दो नही समझे, क्या सब ही एक साथ इतने नासमझ थे, जो आपके लिखे अनुसार उन्होने इस तरह की भद्दी भूल कर डाली ?

क्या उनके पास अपना निजी परम्परागत प्रथमानुयोग साहित्य नही था ? या उनमे रचना की योग्यता नही थी ? जो उन्हे इस तरह श्वेताम्बर शास्त्रो की आपके लिखे अनुसार नकल करने के लिए वाध्य होना पडा, अगर ऐसा कुछ नही है तो आपने जो फलितार्थ निकाला है उसमे क्या अद्भुत रहस्य है, उसे आप ही जाने। हमने तो उपर्युक्त का सीधासाधा यह अर्थ समझा है कि—पूर्वाचार्योके अनुसार अर्थात् अपनी आम्नाय व गुरु परम्परा के अनुसार न कि श्वेताम्बर या अन्य सम्प्रदायानुसार। जैसा सुना है वैसा ही अर्थात् साक्षात् अपने गुरुओ के मुख से सुनकर न कि किंवदन्तियो, जनश्रुतियो के आधार से, इधर-उधर से लेकर। इसी तरह अल्प वुद्धि के मुआफिक = अर्थात्—जैसा कुछ समझा है अनुभव किया है, ठीक उसी तरह विना किसी छल कपट के। (वास्तव मे वे अल्प वुद्धि और श्वेताम्बरोपजीवी न होकर महान् ज्ञानवान् थे, उनका ऐसा लिखना तो उनकी शिष्टता-गुरुता और ज्ञानमदविहीनता का परिचायक है)।

अन्त में ब्रह्मचारीजी लिखते है कि—"आगम इस वारेमे क्या कहता है, तिलोयपण्णत्ति अधिकार ४ गाथा ६०७ मे वाताया गया है कि—'दस तीर्थंकर (शान्ति, कुन्थु, वासुपूज्य, सुमति, पद्म, सुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर) अपने पिछले जन्मोके स्मरण से वैराग्य को प्राप्त हुए, इन आगम वाक्यो से मेरी शका दूर हुई व मुझे वडी शान्ति मिली है।" विद्वान् इस लेख को पढकर विचार करें और हमारी सम्प्रदाय मे से ऐसी अनुचित वात को दूर करने का प्रयत्न करे, क्योकि उनके दिल मे भी यह वात अवश्य खटकती होगी (लकीर के फकीर जीवो के लिए नही)।

समीक्षा—जहाँ तक आपको शान्ति मिलने का प्रश्न है, वहाँ तक तो हमारी भी आपके साथ पूर्ण सहानुभूति है, पर जहाँ आर्ष वाक्यो की सगति न वैठाकर जो एकांगी शका का एकागी समाधान समझा गया है उसकी हाँ मे हाँ मिलाने को हम तैयार नही और न 'पशु-वन्धन' वाले कथन को ही अनुचित मानकर आपके लिखे अनुसार दूर करने के प्रयत्न

में हम योग देने वाले हैं। गम्भीरता और दूरदर्शिता से विचार करने पर इसमे दिल को खटकने जैसी कोई बात नही है। फिर चाहे इसे आप लकीर का फकीर होना समझें या और कुछ। हमारी तो नीति यह है कि—"आर्ष सदधीत न तु विघटयेत्" अर्थात्—'आर्ष वाक्यो की सगति बिठाना चाहिए न कि उनके खडन मे प्रवृत्त होना चाहिए' इसीको लक्ष्य मे रखकर अब आपकी उक्त समस्या का समाधान करने की चेष्टा करता हूँ—

ब्रह्मचारी जी ने 'तिलोयपण्णत्ति' का उल्लेख करते हुए ऊपर जो यह बताया है कि नेमिनाथ स्वामी के वैराग्य का कारण जाति स्मरण है सो यह जाति स्मरण की बात तो 'तिलोयपण्णत्ति' मे ही नही, प्रत्युत उत्तरपुराण और हरिवशपुराणादि मे भी पाई जाती है, देखिए भदन्त गुणभद्र कृत उत्तरपुराण पर्व ७१ श्लोक १६६ से १६८।

इस वर्णन से सहज ही जाना जा सकता है कि भगवान् प्रथम पशु-बन्धन की घटना से उद्बुद्ध हुए फिर लौकान्तिक देवो ने, जिनका सभी तीर्थंकरो को प्रतिबुद्ध करने का नियोग होता है, नेमिनाथ को भी प्रतिबुद्ध किया फिर भगवान् ने अपने पूर्वभवो का स्मरण कर ससार से भयभीत हो दीक्षा धारण की, इस तरह यहाँ वैराग्य मे ३ कारण बताये गये है—१ भूमिका स्वरूप बाह्य घटना के रूप मे, २ नियमित रूप मे, ३ अन्तरग घटना के रूप मे। जिस तरह किसी एक कार्य की उत्पत्ति मे अनेक कारण कलापो की जरूरत होती है उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। किसी एक ही कारण को कार्योत्पत्ति मे साधक नही कहा जा सकता, यह अपनी-अपनी इच्छा है कि सहूलियत की दृष्टि से कोई किसी एक ही कारण का प्रमुख रूप से उल्लेख करे। इससे अन्य कारणो का निषेध नही होता है। तिलोयपण्णत्तिकार ने जो तीसरे कारण 'जातिस्मरण' को ही ग्रहण किया है उसका प्रधान हेतु यह है कि अन्य दो कारणो मे एक तो नियमित ही है और बाह्य घटना के रूप मे है जो दसो तीर्थंकरो मे

अलग-अलग रूप से पाया जाता है जब कि 'जातिस्मरण' की बात दसो तीर्थकरो मे समान रूप से पाई जाती है। अत सहूलियत की दृष्टि से तिलोयपण्णत्तिकार ने इस सक्षिप्त कथन को ही अपनाया है। तिलोय-पण्णत्ति की यह अपनी विशेपता है कि—उसमे इतिहास का सूत्र बीजात्मक रूप से सक्षिप्त स्थूल कथन है बाह्य घटना कथानकादि का वहाँ कोई विशेप उल्लेख नही है। पुराणादि ग्रन्थो मे अगर कही नेमिनाथ का 'जातिस्मरण' नही बताया जाता तो फिर श्री ब्रह्मचारी जी की बात किसी हद तक मानी जा सकती थी, पर हम देखते है कि—उत्तरपुराण मे ही नही, हरिवशपुराण मे भी इसका स्पष्ट सकेत पाया जाता है। देखो सर्ग ५५, श्लोक ९८।

(ब्रह्मचारी जी सा० ने तिलोयपण्णत्ति के कथन से जो एक मात्र जातिस्मरण को ही नेमिनाथ का वैराग्य कारण समझा है और 'पशु-बंधन' की घटना पर मास भक्षण का दोपारोप करते हुए उसे जो श्वेताम्बरो की नकल बताया है, इस पर उनसे हमारा सीधा-सा यह प्रश्न है कि—जब पुराणकारो ने 'जातिस्मरण' वाले अन्य ९ तीर्थकरो के साथ भी विविध बाह्य घटनाओ का जो प्रतिपादन किया है क्या वह भी श्वेताम्बरो की नकल है? और उसमे भी मास भक्षण जैसी कोई आपत्तिजनक बात है? अगर ऐसा कुछ भी नही है और जब एक नही सभी पुराणकारो ने 'पशु-बन्धन' वाली घटना का उल्लेख किया है तो उसे प्रामाणिक और निर्दोष मानना होगा तथा साथ मे 'तिलोयपण्णत्ति' के स्थूल सक्षिप्त और अपेक्षा प्रधान कथन को भी पुराणो का अविरोधक मानना होगा।)

अब मै पाठको की सुविधा के लिए उपरोक्त १० तीर्थकरो के वैराग्य कारण का उत्तरपुराण (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) के अनुसार सक्षेप मे उल्लेख करता हूँ —

पृष्ठ ३५ पद्मप्रभु=द्वार पर बँधे हाथी की दशा सुन उद्बुद्ध हो अपने पूर्वभवो का स्मरण कर वैराग्य को प्राप्त होना।

पृष्ठ २०८ शातिनाथ=शृगार करते समय दर्पण मे अपने दो प्रतिबिंब देख कर उद्बुद्ध हो जातिस्मरण से वैराग्योत्पादन।

पृष्ठ २१५ कुन्थुनाथ=घोर तप करते एक मुनि को वन में देख अपने मन्त्री को इसका कारण बताते हुए उद्बुद्ध हो पूर्व भव स्मरण से वैराग्य होना।

पृष्ठ २४६ मुनिसुव्रत=अपने यागहस्ति को उसके पूर्व भव बताते हुए उद्बुद्ध हो जातिस्मरण से वैराग्य।

पृष्ठ ३३४ नमिनाथ=दो देवताओ द्वारा अपराजित केवली के समाचार सुन उनके साथ अपने बीते भवो का स्मरण करके वैराग्य को प्राप्त होना।

पृष्ठ ३८६ नेमिनाथ=पशु-बन्धन से विरक्त हो जातिस्मरण पूर्वक वैराग्य होना।

पृष्ठ ४३७ पार्श्वनाथ=अयोध्या के दूत द्वारा वृत्तान्त सुन ऋषभदेव के साथ बीते अपने पूर्व भवो का स्मरण होना जिससे वैराग्य होना।

पृष्ठ ४६३ महावीर=मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से पूर्व भव स्मरण फिर वैराग्य।

सुमतिनाथ और वासुपूज्य=राज्य से अनिच्छा हो पूर्व भव स्मरण से वैराग्य।

इस तरह हम देखते है कि—उपर्युक्त वैराग्य कारणो मे जातिस्मरण के साथ-साथ किसी घटना का पूर्व रूप मे होना भी प्राय उल्लिखित है। तीर्थंकर जन्म से ही तीन ज्ञान के धारी होते है। अत उन्हे अपने पूर्व

भवो का ज्ञान तो पहले से रहता है, पर किसी वाह्य घटना के सयोग के विना वैराग्योत्पादन मे कारण नही होता। अत पुराणकारो ने जो साथ में वाह्य घटना रूप कथन किया है वह वास्तविक और अकल्पित ज्ञात होता है।

ब्रह्मचारी जी अगर एक उत्तरपुराण को ही ध्यान से पढ लेते तो उनकी सारी शकाओ का स्वत ही समाधान हो जाता पर उन्होने उत्तर-पुराण को ध्यान से अध्ययन करने का कष्ट नही किया, इसकी पुष्टि इस वात से भी होती है कि—अपने इसी लेख के प्रारम्भ मे एक जगह वे लिखते है कि—'तिलोयपण्णत्ति' मे जो अनेक महत्त्व की वाते पाई जाती है वे अन्य ग्रन्थो मे आज तक देखने मे नही आयी। "यथा—(६) आठवें नारायण लक्ष्मण का चौथे नरक मे वास वताना। पर यह वात तो उत्तर-पुराण मे भी पाई जाती है। देखो पर्व ६८, श्लोक ७०१–७०९। उत्तर-पुराण मे ही क्या पुष्पदन्त के महापुराण और त्रिलोकसार गाथा ८३२ मे भी यह कथन पाया जाता है।

(ब्रह्मचारी जी प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि अव्रती विशेष ज्ञान रहित के उपदेश देने के अर्थ जो प्रवृत्त हुआ अधिकार अर्थात् अनुयोग है उसे प्रथमानुयोग कहते है (गो० जी० ३६१–३६२ टीका) तुच्छ वुद्धि जीवो को समझाने के लिए व पाप-पुण्य के फल का ज्ञान कराने के लिए यह अनुयोग है।)

समीक्षा—अगर इससे आपने प्रथमानुयोग को एकान्तत 'मिथ्यादृष्टि के अर्थ ही प्रवृत्त हुआ' समझा है तो गलत है, क्योकि प्राय सारे प्रथमा-नुयोग के ग्रन्थो की उत्थानिका मे श्रेणिक (क्षायिक सम्यग्दृष्टि) और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप मे ग्रन्थ का प्रवर्तन वताया है तव उसे केवल मिथ्यादृष्टि तुच्छ वुद्धि व अव्रती के लिए ही समझना स्पष्ट स्खलित

है। प्रथमानुयोग तुच्छ बुद्धि जीवो का ही उपकारक नही है बल्कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी भी इससे उद्बुद्ध होते है। प्रथमानुयोग मे केवल साधारण बातें ही नही है अनेक सैद्धान्तिक गम्भीर तत्त्व व आचार विधियाँ भी गर्भित है। स्वामी समन्तभद्र ने इसीलिए प्रथमानुयोग को "बोधिसमाधि निधान" (ज्ञान और योग का कोष) कहा है तथा साथ ही "अर्थाख्यान" (निरर्थक न होकर सोद्देश्य कथानक से पूर्ण) भी प्रकट किया है। यह जिन-प्रासाद (मोक्ष महल) का प्रवेशद्वार है। (दूध की तरह यह शिशु (अज्ञानी) से लेकर वृद्ध (महाज्ञानी) तक के लिए समान रूप से पाचक-उपयोगी है। यह वह लोक-सगीत है जो सभी का मनोरजन करता है, शास्त्रीय सगीत (क्लाजिकल म्यूजिक) नही जो कुछ सगीत विशारदो के ही उपयोग की चीज हो, इसीलिए इसे अनुयोगो मे प्रथम स्थान दिया है। इसमे प्राय थोडा-बहुत अन्य अनुयोगो का भी समावेश रहता है अत इसे हम चारो अनुयोगो की 'ज्ञानपूर्णा' कहे तो कोई अत्युक्ति नही जहाँ हर श्रेणी का बुद्धिधारी मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी ज्ञानबुभुक्षा शान्त कर सकता है। कुछ लोगो का जिसमे आप भी है शायद यह खयाल हो कि—प्रथमानुयोग आधुनिक है पर तथ्य इससे विपरीत है, (द्वादशाग का छठा अग ज्ञातृधर्मकथाग और चौदह पूर्वाङ्ग का ग्यारहवाँ कल्याणवाद प्रथमानुयोग का मूल है। भगवती आराधना और रत्नकरण्डश्रावकाचार मे जो कथाओ के उदाहरण पाये जाते है उनसे भी प्रथमानुयोग की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'पुराण' शब्द से भी यह जाहिर होता है कि इनकी परम्परा बहुत प्राचीन रही है।)

मेरे इस समीक्षात्मक लेख के उत्तर मे ब्रह्मचारी जी सा० ने एक लेख 'अँधेरे मे उजाला' दिनाक १८-१२-५६ के 'वीर वाणी' पाक्षिक पत्र मे प्रकाशित कराया है नीचे उसका प्रत्युत्तर और नई शकाओ का समाधान दिया जाता है —

१ ब्रह्मचारी जी—"श्री नेमिनाथ जैसे महापुरुष डर के मारे भयभीत होकर शौरीपुर छोडकर भाग गए" ऐसा तो मात्र प० रतनलाल जी ही लिख सकते है, मैं तो ऐसा लिखने मे असमर्थ हूँ। हरिवशपुराण पृ० ४१६ मे निम्न प्रकार लिखा है—यद्यपि वलदेव वासुदेव के मन मे यह विचार आया जो जरासध से अव ही लड लें किन्तु वडो की आज्ञा से प्रयाण ही करते भए। उन्होने (वडो ने) कही, इस समय तुम्हारी अवस्था नही, ये वडो के आज्ञाकारी सो उनके कहने से प्रयाण ही किया।

प्रत्युत्तर—मैने अपने लेख मे कही भी ऐसे वाक्य नही लिखे है, फिर भी दूसरो के नाम से गलत और असत्य उद्धरण प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित है? पाठक सोचे। मेरे असली वाक्य तो ये है—"यदुवशी जरासध के भय से शौरीपुर को छोड कर भाग खडे हुए और द्वारका मे आकर वसे।" पाठक इससे निश्चय कर सकते है कि—ब्रह्मचारी जी का लिखना सत्य है क्या?

भगवान् नेमिनाथ तो उस समय वहुत छोटे शिशु थे अत उनका जरासध से डरना और शौरीपुर छोड कर भागना किसी तरह सभव नही, यदुवशियो ने भी युद्ध के विषय मे जो मत्रणा की थी वह वलदेव वासुदेव से ही की थी, नेमिनाथ से नही, जैसा कि आपके ऊपर उद्धृत वाक्यो से स्पष्ट है। उनसे यह भी स्पष्ट है कि—वलदेव-श्रीकृष्ण, जरासध उस समय लडने मे समर्थ नही थे। उत्तरपुराणादि के अनुसार तो भगवान् का जन्म ही द्वारका मे हुआ था अत उनके डर कर भागने की कोई वात ही नही उठती। रही यदुवंशियो के भयभीत होने की वात सो इसमे कर्मसिद्धातादि किसी से कोई वाधा नही आती। अव मै कुछ ग्रन्थो से ऐसे उद्धरण पेश करता हूँ जिनमे ठीक मेरे जैसे ही वाक्यो का प्रयोग किया गया है—

१—पाडवपुराण पृ० २०४ (सम्पादक श्रीनिवासजी शास्त्री) :—जरासध स्वय युद्ध करने गया, यादव यह समाचार पाकर वहुत भयभीत हुए और अपने नगर को छोडकर भाग गए ।

२—"जैनधर्म" पृ० १८ प० कैलाशचन्द्रजी—जरासध के भय से यादवगण शौरीपुर छोडकर द्वारका नगरी मे जाकर रहने लगे ।

३—पाडवपुराण भाषा छदोवद्ध वुलाकीदास जी कृत (स० १७५४) पृ० १७७ ।

तव चक्री अति रोपित होय, काल जवन सुत भेजो सोय ।
ताके डरते पुर को छोड, भागे यादव पश्चिम ओड ॥५०॥

४—"हरिवंश पुराण" अनुवादक प० गजाधरलाल जी सर्ग ४०

आत्मापराधवाहुल्यात्सशल्यहृदयास्तत ।
यादवा. क्वापि सत्रस्ता प्रयान्ता प्रियजीविता ॥३७॥

(अनुवाद—यादवो से जरासध का कुछ अपराध वन गया जिससे कि उन्हे परम दु ख हुआ और जरासध के कोप से त्रस्त हो ये अपने जीवन की आशा से नगर से निकल भागे),

५—पाडवपुराण पृ० १७५, सम्पादक नदलालजी जैन—जरासध के वल को यादव लोग जानते थे । इसलिए उसके आने का समाचार सुनकर सव भयभीत हुए और युद्धस्थल छोड भाग गए ।

इस पर कोई कहे कि—'यदुवंशी तो वीरता के साथ नगर छोडकर गए थे' यह कहना उसी तरह हास्यास्पद है जिस तरह युद्ध काल मे अग्रेज कहते थे कि—"हमारी सेना वडी वहादुरी से पीछे हटी" (जैसे कि पीछे हटने मे भी कोई वहादुरी हो !)

इसके सिवा ब्रह्मचारी जी ने मेरे नाम से जो गलत उद्धरण पेश किया है उसमे एक भद्दी भापात्मक गलती भी है–"डर के मारे भयभीत होकर" डर और भय शब्द एकार्थवाची है, दोनो मे से किसी एक से ही वखूबी काम निकल सकता था फिर पुनरुक्ति करने से क्या फायदा ?

२—ब्रह्मचारीजी—प० रतनलाल जी ने लिखा है कि—"इतने दिन जिन्होने पशुओ के वारे मे माना और अव भी मान रहे है क्या वे सव नासमझदार है ?" इसका तो केवल इतना ही जवाव हो सकता है कि जव तक हमे अन्य कोई प्राचीन प्रवल प्रमाण न मिले तव तक ऐसा मानना दोपयुक्त नही है, किन्तु अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक वैठनेवाला प्रवल ठोस प्रमाण मिल जाये तो पहिले की धारणा को छोड देना चाहिए हठ न करना चाहिए, इसी मे स्वकल्याण है।

प्रत्युत्तर—जो मान्यता आज तक दोपयुक्त न थी वह अव ही अव दोपयुक्त कैसे हो सकती है ? आपको जो प्रमाण मिला है क्या वह अज्ञात पूर्व है ? क्या इसका पूर्वाचार्यो को ज्ञान तक न था, आज तक वे सव अधकार मे थे, आपने ही यह नई खोज की है ?

आपकी इस नवीन खोज की क्या गारटी है कि—वह ही प्राचीन और प्रवल है एव अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक वैठनेवाली है, अन्य सव अर्वाचीन और निर्वल है एव अनुमानादि पूर्वक युक्ति से ठीक वैठनेवाली नही है। जिसे आप प्राचीन और प्रवल समझ रहे है क्या यह सभव नही कि—वह विवक्षाभेद और दृष्टिकोण का अन्तर ही हो, वस्तुत उसमे कोई विरुद्धता न हो, जैसा कि मैने अपने पूर्व लेख मे स्पष्टतया सिद्ध किया है।

विना इन सव वातो का ठीक उत्तर दिए किसी पर दुराग्रह का आरोप लगाना और उससे आर्पमान्यताओ के छोडने का एव स्वकल्याण का अनुरोध करना "परोपदेशे पाडित्य" ही है, इसके सिवा उसमे और कोई तथ्य नही।

आपने जो प्राचीनता की दुहाई दी है सिर्फ वह भी कार्यकारी नही है। प्राचीन तो मिथ्यात्व भी है पर क्या कोई उसे ग्रहण करेगा ? और आपकी इस प्राचीनता की भी कोई स्थिरता नही, तिलोयपण्णत्ति मे प्राचीन किसी अन्य ग्रन्थ मे कोई दूसरा ही कथन निकल आये (जो हो तो वास्तव मे विवक्षाभेद) तो आप उसे भी धता बता दे क्योकि जिनको प्राचीनता से ही विचित्र मोह होता है वे समीचीनता को ग्रहण क्यो करने लगे। प्राचीनतावादियो की आचार्य सिद्धसेन ने अपनी प्रसिद्ध द्वात्रिंशतिका मे तीक्ष्ण भर्त्सना की है जरा उसे पढने का कष्ट कीजिए, सारा भ्रम विलीन हो जायगा। और भी देखिए कवि कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्र' मे क्या कहते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि नून नवमित्यवद्यम् ।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजते, मूढ परप्रत्ययनेयवुद्धि ॥

(प्राचीन है इस लिए सव निर्दोप नही है और नवीन है इसलिए सव सदोप नही है, समझदार तो परीक्षा करके समीचीन को ही ग्रहण करते है, मूढ है जो अपनी अक्ल से काम नही लेकर दूसरो के हाथ को कठपुतली वनते है।

स्वामी समन्तभद्र ने भी प्राचीन और नवीन की वजाय समीचीन को ही महत्त्व दिया है, देखिये—देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम्—(रत्नकरण्ड)। इसके सिवा उन्होने शास्त्र के लक्षण मे भी कही प्राचीन विशेपण नही दिया है, यह भी ध्यान देने योग्य है।

३—ब्रह्मचारी जो—"उत्तरपुराण पर्व ७१, श्लोक न० १६६–१६८ मे एव 'हरिवशपुराण' सर्ग ५५ श्लो० न० ९८ मे स्पष्ट लिखा है कि—श्री नेमिनाथ के वैराग्य का कारण जातिस्मरण ही है।" ऐसा प० रतनलाल जी ने लिखा है किन्तु हमारे देखने मे उस गाथा मे ऐसा कोई कथन नही पाया जाता और न भाषाकार ने भी ऐसी व्याख्या की है व सस्कृत श्लोक मे भी ऐसा नही लिखा है।

प्रत्युत्तर—आपने जो मेरे नाम से वाक्य उद्धृत किए है वे ठीक उसी रूप मे मेरे नही है, उनमे के "स्पष्ट लिखा है" एव "जातिस्मरण ही है" ये दो वाक्य तो मेरे लेख मे कही नही है। मेरे वाक्य ठीक इस प्रकार है—"पुराणादि ग्रन्थो मे अगर कही नेमिनाथ का 'जातिस्मरण' नही बताया जाता तो फिर भी श्री ब्रह्मचारी जी की बात किसी हद तक मानी जा सकती थी, पर हम देखते है कि उत्तरपुराण मे ही नही हरिवश-पुराण मे भी इसका स्पष्ट सकेत मिलता है, देखो सर्ग ५५ श्लोक ९८। इससे पाठक सोच सकते है कि ब्रह्मचारी जी ने तथ्यो को तोडमरोडकर पेश किया है। आपने लिखा कि—"सस्कृत श्लोक मे ऐसा नही लिखा है, भाषाकार ने भी ऐसी व्याख्या नही की है" आपका यह सब लिखना मिथ्या है। शायद आपका यह खयाल हो कि—'जातिस्मरण के लिए 'वैराग्य कारण' शब्द नही दिया है सो यह आशय और कथन को न समझने का परिणाम है। सस्कृत श्लोक मे नेमिनाथ को जातिस्मरण होने की बात स्पष्ट कही गई है, (बोधित समतीतात्मभवानुस्मृतिवेपित) इसे कारण न मानोगे तो क्या कार्य मानोगे या अकारण मानोगे? पर न तो यह कार्य है और न अकारण किन्तु कारणशृखला की एक कडी है। अगर यह कारण न होता और पशुवधन ही कारण होता तो आचार्य लिख देते कि—"भगवान् ने पशुबधन से विरक्त हो सीधे वन मे जा दीक्षा ले ली" परन्तु उन्होने तो—पशुबधन से विरक्ति के बाद लौकातिक देवो से प्रतिबुद्ध होना तथा जातिस्मरण से सबुद्ध होना फिर गृहत्याग करना लिखा है, इससे स्पष्ट है कि—ये सब कारण ही है—पशुबधन बाह्यकारण है और मुख्य है तथा जातिस्मरण अतरग कारण है, और गौण है। यह ही सब बात अन्य ९ तीर्थकरो के विषय मे भी है जिनका वैराग्यकारण तिलोयपण्णत्ति मे जातिस्मरण बताया है पर पुराणो मे जातिस्मरण के साथ घटनास्वरूप बाह्यकारण भी दिया है जिस सब का विस्तृत विशद विवेचन मैने अपने पूर्व लेख मे किया है। उसको ध्यान से पढने पर कोई शका ही

नही रहती। मै और भी २-३ प्रमाण दे देता हूँ जिनमे पशुवंधन से विरक्ति के साथ साथ जातिस्मरण का भी उल्लेख है—

१—आशाधर कृत 'त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र' पृ० १३०—ज्ञात्वा तच्छद्म निर्विद्य सस्मृत्य स्वपुराभवान् ॥६०॥ (नेमिनाथ, श्रीकृष्ण के छल को जान कर और अपने पूर्वभवो का स्मरण कर विरक्त हुए)।

२—पृ० १७० नेमिपुराण (उदयलाल जी कृत हिन्दी) नेमिजिन ने अपने पूर्वभव का भी हाल जान लिया।

३—वाग्भट कृत 'नेमिनिर्वाणकाव्य' पृ० ७९ सर्ग १३।

श्रुत्वा वचस्तस्य स वन्ध्यवृत्ति,
स्फुरत्कृपान्त करण कुमार।
निवारयामास विवाहकर्मण्य-
धर्मभीरु स्मृतपूर्वजन्मा ॥५॥

सारथी के वचन सुनकर भगवान् नेमिनाथ के हृदय मे करुणा उत्पन्न हो गई तथा उन्हे अपने पूर्वभवो का स्मरण हो आया—वे विवाहकर्म से विमुख हो गए।

एक ओर हम व हमारे पत्र 'भगवान् बुद्ध' पुस्तक का इसलिए घोर विरोध कर रहे है कि—उसमे अहिंसा के अवतार भगवान् महावीर व जैनश्रमणो को मासाहारी सिद्ध करने का झूठा और जघन्य प्रयत्न किया गया है तो दूसरी ओर हमारे ही ब्रह्मचारी जी यह सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न कर रहे है कि—"हमारे मान्य और प्राचीन ग्रन्थो मे ऐसे उल्लेख पाये जाते है जिनसे तीर्थकर कुल मे भी मासभक्षण सिद्ध होता है" यह प्रवृत्ति ठीक नही। इसके सिवा पशुवधन की घटनावाले स्थलो को ग्रन्थो से निकालने की प्रेरणा करना तो सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। श्वेताम्बरो से अनेक दिगम्बर कथन मिलते है इसीलिए उन्हे श्वेताम्बर ही माना जाये यह विचित्र खोज है।

४—ब्रह्मचारी जी—"श्री नेमिनाथ का जन्म शौर्यपुर मे भया पीछे द्वारका गए" ऐसा श्री हरिवशपुराण के सर्ग ४०, पत्र ४१७ मे लिखा है। इतना ही नही किन्तु वर्तमान मे भी एक भी दिगम्बर जैन भाई द्वारिका को दिगम्बर जैनतीर्थ मानकर वहाँ जाता हो ऐसा न तो सुना है और न देखा ही है। परन्तु शौर्यपुर मे दो कल्याणक माने जाते है इसीलिए वहाँ पर दिगम्बर जैन भाई दर्शनार्थ भी जाते है व वह एक पवित्र तीर्थक्षेत्र भी माना जाता है।

उत्तर—हरिवशपुराणादि मे नेमिप्रभु का जन्म स्थान शौरीपुरी वताया है पर आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण, हरिषेण के कथाकोश, आशाधर के त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, शुभचन्द्र के पाण्डव पुराण, ब्र० नेमिदत्त के आराधना-कथाकोश व नेमि पुराण, वाग्भट के नेमिनिर्वाण काव्य, विजयकीर्ति के कर्णामृतपुराण, प० वुलाकीदास के पाण्डवपुराण तथा प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के जैनदर्शन (पृ० ६) आदि प्राचीन व अर्वाचीन ग्रन्थो मे एव मूलसघी आम्नाय मे तथा सम्पूर्ण वैदिक पुराणो मे प्राय सर्वत्र द्वारिका को ही नेमिनाथ का जन्मस्थान माना है। इससे जाना जा सकता है कि पूर्वकाल से आज तक वरावर द्वारिका जैनो को मान्य रही है और आज भी कोई भाई ग्रन्थो के इस कथन को अमान्य नही करते, दोनो कथन मान्य करते है। प० टोडरमल जी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ४४५ मे नेमिनाथ की जन्मभूमि के विषय मे द्विविध मान्यता का उल्लेख किया है पर उन्होने भी किसी एक मान्यता को उचित या अनुचित नही वताया है, फिर भी यह जरूर है कि सत्य इनमे से एक ही है किन्तु निश्चित प्रमाणाभाव मे हमे कोई अधिकार नही है कि हम ऐसी द्विविध मान्यताओ के सवध मे जो युक्ति, प्रत्यक्ष व अनुमानादि से अवाधित हो अपना कोई एक मत स्थापित करे।

शोरीपुर मे जाने से और उसे तीर्थ मानने से द्वारिका का निषेध नही होता। हो सकता है कि किसी समय साम्प्रदायिक विद्वेष व सघर्षवश वहाँ

के विशेष प्राचीन मदिरादि नष्ट-भ्रष्ट व रूपान्तरित कर दिए गए हो जिससे धीरे-धीरे आवागमन अवरुद्ध-सा हो गया हो और फिर समुद्री मार्ग की कठिनाइयो ने इसे और भी बढावा दिया हो। ख़ैर, कुछ भी हो आज भी लोग द्वारिका जाते है, वहाँ अपना दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमे भगवान् नेमिनाथ की मूर्ति व चरणपादुका विराजमान है। इसके लिए देखो—ब्रह्मचारी गेवीलालजी कृत 'तीर्थयात्रादर्शक पृ० २२८ इसमे लिखा है कि—द्वारिका नेमिप्रभु का जन्मस्थान है, किसी-किसी ग्रन्थ मे शौरीपुर भी जन्म-स्थान लिखा है पर दोनो प्रमाण है, दोनो तीर्थवदना के योग्य है यथार्थ बात का निश्चय तो सिवा केवली के अन्य को नही हो सकता।

(इस विषय मे एक बात यह भी जानने योग्य है कि निम्न ग्रन्थो के अन्दर द्वारिका मे शौरीपुर की भी कल्पना की गई है, देखो वाग्भट कृत नेमिनिर्वाण काव्य—

भविष्यतस्तीर्थकरस्य नेमेर्निमित्तमत्यन्तमनोहरश्री ।
कृति सुराणा ससुरेश्वराणा या प्राप शौरीति तत प्रसिद्धिम् ॥५८॥
सर्ग १)

(कुबेर निर्मित वह द्वारिका नगरी शौरीपुर नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुई) यही बात जिनसेन कृत हरिवश पुराण सर्ग ४, श्लोक ४४ मे बताई गई है।

शका—ब्रह्मचारी जी—श्वेताम्बर आम्नाय मे लिखा है कि—सामान्य केवली के गणधर होते है, किन्तु दिगम्बर आम्नाय मे ऐसा नही माना जाता है तो भी 'सुदर्शन चरित्र' के परिच्छेद ८, गाथा ७७ मे सामान्य केवली के गणधर होना लिखा है।

समाधान—सस्कृत मे दो सुदर्शनचरित पाये जाते है एक मुमुक्षु विद्यानन्दि कृत और दूसरा भट्टारक सकलकीर्ति कृत, इनमे पहिले मे तो परिच्छेद ८ पर ऐसा कोई विषय ही नही है, दूसरे मे जरूर है पर वहाँ सामान्य केवली के गणधर होने की कोई बात ही नही लिखी है, वहाँ तो

इस प्रकार लिखा है—इत्यभिष्टुत्य देवेशा केवलज्ञानलोचनम्, धर्मश्रवणसिद्धयर्थं परितस्तमुपाविशन् ॥७६॥ दिव्येन ध्वनिना देवस्तदा सन्मार्गवृत्तये, धर्मतत्त्वादि विश्वार्थानुवाचेति गणान्प्रति ॥७७॥ भो भव्या ! क्रियते धर्म स्वर्मुक्तिश्रीवशीकर, तात्पर्येण स्वसिद्धयर्थं हत्वा पापाक्षतस्करान् ॥७८॥ इति केवलिवक्त्रेन्दूद्भव धर्मामृत महत्, पीत्वा सुरा नरा यक्षा ययु सन्तोपमूर्जितम् ॥१०९॥

(श्लोक ७७ मे 'गणान' शब्द है जिसका 'गणधर' अर्थ समझ लिया गया है। पर 'गण' शब्द का अर्थ 'समूह' होता है और वही यहाँ प्रकरण सगत है। श्लोक ७६ मे वताया है कि—"स्तुति करने के बाद देवेन्द्रगण उन सुदर्शन केवली के चारो ओर धर्मश्रवण की इच्छा से वैठ गये।" इसके वाद आगे श्लोक ७७ मे वताया है कि—तव उन देवसमूह को (गणान्) केवली ने अपनी दिव्य ध्वनि मे इस प्रकार तत्त्वोपदेश दिया—हे—भव्यो ! (यह सव उपदेश श्लोक ७८ से १०८ तक मे है) फिर श्लोक १०९ मे वताया है कि—केवली मुख से निर्गत धर्मामृत को देव और मनुष्यादिक ने पान कर आत्मसतोप प्राप्त किया।) इस सव प्रकरण से दिनकर की तरह स्पष्ट है कि—विना किसी गणधर के माध्यम से स्वय सुदर्शन केवली ने देवादि समूह को धर्मोपदेश दिया था। ऐसी हालत मे ब्रह्मचारी जी ने जो सामान्य केवली के गणधर होने की वात लिखी है वह मिथ्या है।

शका—ब्रह्मचारी जी— आज तक लब्धिसार मे लिखे अनुसार ४६ प्रकृति की वधव्युच्छित्ति भव्य व अभव्य दोनो के होती है, ऐसा माना जाता था, परन्तु अव 'कपायपाहुड सुत्त' पृ० ६१८ मे ४६ प्रकृति की वन्धव्युच्छित्ति मात्र भव्य के ही होती है, अभव्य के नही, ऐसा लिखा होने से मान्यता ऐसी हो गई हे, क्योकि यह प्रवल प्राचीन व ठोस प्रमाण हे।

समाधान—'कपायपाहुड सुत्त' मूल मे ऐसी कोई वात ही नही हे,

चूर्णि मे भी सिर्फ उन प्रकृतियो के नाम भर दिये है, जो उपशम से पहिले बन्धव्युच्छिन्न हो जाती है और हिन्दी विशेषार्थ से भी यह स्पष्ट नही होता कि अभव्य के उन प्रकृतियो की बन्धव्युच्छित्ति प्रायोग्यलब्धि मे नही होती है। श्री वीरसेन स्वामी ने इस विषय मे धवलाटीका में स्पष्ट लिखा है—एदाओ चत्तारि विलद्धीओ भवियाभविय मिच्छाइट्ठीण साहारणाओ, दो सु वि एदाणं सभवा दो—ये प्रारम्भ की चारो ही लब्धियां भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीवो के साधारण है क्यो कि दोनो ही प्रकार के जीवो मे इन चारो लब्धियो का होना सम्भव है। देखो षट्खण्डागम पुस्तक ६ पृ० २०५–२०६। यह ही बात और भी विशदता के साथ 'लब्धिसार' की गाथा १ से १५ तक मे कही गई है, ये गाथायें भी प्राचीन है जिनको नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने सकलित किया है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यो का मत स्पष्ट है कि—इन प्रकृतियो की व्युच्छित्ति भव्य व अभव्य दोनो के होती है। यदि इन आचार्य मत के विरुद्ध प० हीरालाल जी सा० ने कुछ लिख भी दिया हो तो वह कैसे प्रमाण हो सकता है? 'कषायपाहुड' पर जयधवलाटीका भी है, अभी तक इस विषय मे सबधित भाग मुद्रित नही हुआ है, हस्तलिखित प्रतियो को देखिये इस विषय मे और भी स्पष्ट समाधान हो जायेगा इसमे कोई सन्देह नही।

शका—ब्रह्मचारी जी—'आदि पुराण' पर्व ४१ के सूत्र न० २८ मे लिखा है कि—"भगवान के चरण कमलो की भक्ति कर परिणामन की विशुद्धता करि चक्रेश्वर भरत को अवधिज्ञान प्रगट भया" किन्तु भरत महाराज सर्वार्थसिद्धि विमान से आये है ऐसा आदिपुराण पर्व ४७ मे लिखा है, अब विचार करना चाहिए कि—सर्वार्थसिद्धि से जो जीव मनुष्य पर्याय धारण करते है वे निश्चय से तीन ज्ञान सहित ही माता के गर्भ मे आते है। तब भरत महाराज को समवशरण मे भगवान की भक्ति करने से अवधि ज्ञान कैसे हुआ? देखो धवलग्रन्थ ६ सूत्र २४३ पृ० ५००॥

समाधान—भरत को अवधिज्ञान प्रकट होने की जो बात लिखी है

वह भाषा टीकाकार की है मूलग्रन्थकार की नही है। भाषा टीकाकार के वक्त धवलादि ग्रन्थ प्रकाश व प्रचार मे नही आये थे अत उनसे अनुवाद मे भूल होना किसी तरह क्षतव्य है पर आपने तो सिद्धान्त का परिचय हो जाने पर भी आदिपुराण के मूल शब्दो पर गौर करने की कोई आवश्यकता नही समझी। महान् सिद्धातज्ञ वीरसेन के अग्रशिष्य आचार्य जिनसेन जिन्होने स्वयं भी जयधवला सिद्धान्त के बहुभाग की रचना की है, आदिपुराण मे सिद्धान्त विरुद्ध कथन कैसे कर देते ? जरा यह तो सोचना चाहिए।

आदिपुराण के वे मूलवाक्य इस प्रकार है —

भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे।
विशुद्धिपरिणामागमवधिज्ञानमुद्वभौ ॥

इसमे 'उद्वभौ' क्रिया का अर्थ 'प्रकट हुआ' समझा गया है पर यहाँ उत् तो उपसर्ग है 'भा' (दीप्तौ, प्रकाशने) धातु है जिससे भूतकाल मे 'उद्वभौ'' रूप बनता है जिसका अर्थ होता है ''उद्दीप्त हुआ, और भी विशेष प्रकाशमान हुआ।'' हरिवशपुराण पर्व ३८ श्लो० १९ तथा आदिपुराण पर्व १५ श्लो० ४५, १९१। देखो वहाँ 'वभौ'का 'अर्थ' सुशोभित-प्रकाशमान हुआ, ही किया है। ''ऐसी हालत मे 'उद्वभौ' का अर्थ 'प्रकट हुआ' करना नितात गलत है। अगर 'उद्वभूव' (उद् + भू–सत्तायाम् + लिट्) क्रिया होती तो 'प्रकट हुआ' अर्थ करना ठीक हो सकता था पर यहाँ 'भू' धातु न होकर 'भा' धातु है।

सर्वार्थसिद्धि से चयकर जो जीव आते है उनका अवधिज्ञान 'हीयमान' नही होता 'वर्धमान' ही होता हे देखो धवला पुस्तक ६ पृ० ५००—

ओहिणाण णियमा अत्थि त्ति कध ? ण तेसिं अणणुगामी हीयमाण पडिवादि ओहिणाणमभावादो।

अर्थ—शका —उनके अवधिज्ञान नियम से होता है सो कैसे ?

समाधान—उनके अननुगामी हीयमान और प्रतिपाती ये तीन अवधिज्ञान नही होते बल्कि देशावधि के ५ भेद उनके होते हैं। इसमे भरत का अवधिज्ञान विशेष वर्धमान हुआ यह ही बात आचार्य जिनसेन ने विशुद्धि परिणाम को कारण बताते हुए 'उद्बभौ' वाक्य से सूचित की है।

जैनधर्म लह मद बढै, वेद न मिलि है कोई।
अमृत पान विष परिणवे, ताहि न औषधि होई॥
जो चरचा चित मे नही चढे, सो सब जैन सूत्र सौ कढे।
अथवा जे श्रुत मरमी लोग, तिन्हे पूछ लीजे कह जोग॥
इतने पर सशय रह जाय सो सब केवलज्ञान समाय।
यों निश्चय कीजे निज भाव, चरचा मे हट को नही दाव॥
दिवस दिवाकर ऊगवे सबही को भ्रम जाय।
अधिक अँधेरो घूक के ताको कौन उपाय॥

—भूधर जी



रात्रि भोजन त्याग : छठा अणुव्रत

एक साहित्यिक रहस्योद्घाटन—

उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' अध्याय ७ सूत्र १ की निम्नाकित टीकाओ मे रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय मे इस प्रकार लिखा है —

१—पूज्यपाद कृत—'सर्वार्थसिद्धि' —

ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमण तदिहोपसख्यातव्यम्, न, भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते तत्र आलोकितपान-भोजनभावना कार्येति ।

२—अकलक देव कृत 'राजवार्तिक'—

स्यान्मतमिह रात्रिभोजनविरत्युपसख्यान कर्तव्य तदपि षष्ठमणुव्रतमिति तन्न, कि कारण, भावनान्तर्भावात् ।

३—भास्करनदि कृत 'सुखबोधवृत्ति'—

रात्रिभोजनवर्जनाख्य तु षष्ठमणुव्रतमालोकितपानभोजनभावनारूप-मग्रे वक्ष्यते ।

४—श्रुतसागर कृत 'तत्त्वार्थवृत्ति'—

ननु रात्रिभोजनविरमण षष्ठमणुव्रत वर्तते (सर्वार्थसिद्धिवत्)

इन सब टीकाग्रन्थो मे बताया है कि—

"रात्रि भोजन त्याग नामक छठा अणुव्रत है उसकी यहाँ परिगणना होनी चाहिए । नही, क्योकि आगे अहिसा व्रत की आलोकित पान-भोजन भावना मे उसका अन्तर्भाव हो जाता है ।"

भास्करनदि ने—'रात्रि भोजन-त्याग' को 'आलोकित पान भोजन'

का पर्यायवाची ही बताया है। ऐसा ही आचार्य विद्यानद ने—'श्लोक-वार्तिक' मे बताया है। देखो—

आलोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजनविरतिरेवेति नासावुपसख्येया।

अर्थात्—आलोकित पान भोजन नाम की भावना रात्रि भोजन त्याग ही है अत उसकी अलग गणना करने की जरूरत नही होती।

(छठे अणुव्रत का यह सब कथन सामान्य है अत मुनि और श्रावक दोनो की अपेक्षा से कहा गया है। इसके सिवा आलोकितपानभोजन को लेकर जो विवेचन है वह तो खास तौर से मुनियो की अपेक्षा से ही है ऐसी हालत मे यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि—'रात्रि भोजन त्याग को फिर 'अणुव्रत' सज्ञा क्यो दी गई है? उसे 'व्रत' सामान्य से ही अभिहित करना चाहिये था 'अणु' कहने से वह सिर्फ श्रावको के लिए ही जाना जाता है।" इस प्रश्न का समाधान तत्त्वार्थ की किसी भी टीका मे कही भी नही पाया जाता है।)

इसी तरह—

५—मुनियो के 'दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण' और 'पाक्षिक प्रतिक्रमण' मे पच महाव्रतो के बाद ही रात्रि भोजन विरमण नामक छठा अणुव्रत बताया है। देखो —

"छट्ठ अणुव्वद राइभोयणादो वेरमण" (पष्ठमणुव्रत रात्रि-भोजनाद्विरमण)

—"क्रिया कलाप,, पृ० ५२, ८७, ८०, १०२-१०३

६—आशाधर कृत 'नित्य महोद्योत' (श्लोक १६) की श्रुतसागर कृत टीका मे लिखा है —

"पचमहाव्रतानि रात्रिभोजनवर्जनाभिधानाणुव्रतपष्ठानि प्रतिपादितानि भवन्तीति अर्थात्—५ महाव्रत और रात्रिभोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत मुनियो के होता है। देखो—'अभिषेक पाठ सग्रह, पृ० १२६।

७—वीरनदि कृत 'आचारसार' (मुनियो का आचार ग्रन्थ) पृष्ठ ३५ मे पच महाव्रतो के बाद लिखा है —

व्रतत्राणाय कर्तव्य रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्त षष्ठमणुव्रतम् ॥७०॥

अधिकार ५

अर्थ —(मुनियो को) व्रतो की रक्षा के लिए रात्रि मे सब प्रकार से भोजन का त्याग करना चाहिये इसे रात्रि भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत कहा है ।

इन सब प्रमाणो मे खास तौर से मुनियो के भी छठा अणुव्रत बताया है किन्तु मुनियो के साथ अणुव्रत शब्द की सगति किसी तरह बैठती नही इस पर मैंने एक शका 'जैन सदेश' साप्ताहिक मे समाधानार्थ भेजी थी जिसका समाधान भाग २१ अक १६ पृ० ६ पर प्रकाशित हुआ है किन्तु उसमे शका का कुछ भी समाधान नही हुआ ।—अस्तु

दूसरे भी कुछ विद्वानो के साथ मैंने इस पर ऊहापोह किया परन्तु किसी से कुछ भी समाधान प्राप्त नही हुआ । एक रोज मै आशाधर कृत सटीक अनगार धर्मामृत देख रहा था यकायक उसमे मुझे इसका सुन्दर और युक्ति-युक्त समाधान मिल गया आज उसे विज्ञ पाठको के लिए नीचे प्रकट किया जाता है —

अनगार धर्मामृत (पृष्ठ ३०३) अध्याय ४ श्लोक १५० मे—रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत को पच महाव्रत का प्रधान बताते हुए 'नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि' पद की टीका मे लिखा है —

"नक्त रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झा वर्जनम् । सैवाणुव्रत तस्याश्चाणुव्रतत्व रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकाल तत्प्रवृत्तिसभवात् ।"

अर्थात्—"रात्रि मे चारो प्रकार के आहार का त्याग करना (छठा) अणुव्रत है । उसे अणुव्रत इसलिए कहा है कि रात्रि मे ही भोजन का त्याग बताया है दिन मे तो यथा समय भोजन करने की छूट है" । अत आहार

का त्याग सिर्फ रात्रि मे ही होने से यह काल की अपक्षा अणु = लघुव्रत है। अगर मदा के लिए रात और दिन के आहार का त्याग वता दिया जाता तो यह व्रत भी अन्य ५ व्रतो की तरह व्यापक हो जाता 'अणु' नही रहता किंतु धर्म के साधनभूत इस शरीर को चलाने के लिए भोजन की जरूरत होती है उसका सर्वथा त्याग शक्य नही और भोजन दिन मे ही निरवद्य सभव है रात्रि मे नही अत दिन की छूट दी गई है और रात्रि का मर्वथा त्याग कराया गया हे। इस तरह 'रात्रि भोजन त्याग' मे रात्रि शव्द इसके काल कृत अणुत्व को सूचित करता हे। यह अणु = लघु व्रत गृहस्थो के एकदेश त्याग रूप से और मुनियो के सर्वदेश त्याग रूप से होता है। दोनो के लिए इसका उल्लेख ग्रन्थो मे 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है।

प० आशाधर ने भगवती आराधना की अपनी मूलाराधना दर्पण नाम को टीका मे भी इस छठे अणुव्रत पर इस प्रकार प्रकाश डाला है —देखो—आश्वास ६ गाथा ११८५—८६ पृष्ठ ११७६

"ततो महाव्रतसपूर्णतामिच्छन्रात्रिभोजनविरमण पष्ठमणुव्रतमनुतिष्ठेदेव। अणुव्रतत्व चास्य दिवाभोजनस्यापि करणात्। यदाहु —छठे अणुव्वदे राइभोयणादो वेरमणमिति।,,

अर्थ —महाव्रतो की सम्पूर्णता चाहनेवाले (मुनियो) को रात्रि-भोजन त्याग नाम का छठा अणुव्रत पालन करना ही चाहिए। इस व्रत की 'अणु' सज्ञा दिन मे भोजन करने की अपेक्षा से है। और त्याग सिर्फ रात्रि भोजन का ही है इस कालिक अपूर्णता की दृष्टि से यह अणु = लघु व्रत है।

यह छठे अणुव्रत का रहस्य है। इस रहस्य को नही समझने से अच्छे-अच्छे पडितो ने इस विपय मे अनेक गलत असगत और भ्रात कथन किए है जिनके कुछ उदाहरण मय समीक्षा के नीचे प्रस्तुत किए जाते है —

१—प० लालारामजी ने वीर सवत् २४६२ मे 'आचार सार' की

हिन्दी टीका मे उसके निम्नाकित श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है —

व्रतत्राणाय कर्त्तव्य रात्रिभोजनवर्जनम् ।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत्प्रोक्त षष्ठमणुव्रतम् ॥

अ० ५—७०

अर्थ —"इन व्रतो की रक्षा के लिए रात्रिभोजन त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए। रात्रिभोजन का त्याग करने से व्रतो की रक्षा होती है इसीलिए रात्रि मे अन्न का सर्वथा त्याग करने को गृहस्थो के लिए छठा अणुव्रत कहा है।"

समीक्षा —यह मुनियो का आचार ग्रंथ है इसमे गृहस्थो का अणुव्रत बताना साफ गलत है इसके सिवा उक्त श्लोक के पहिले, ग्रंथ मे पच समितियो का कथन है फिर बीच मे ही गृहस्थो के छठे अणुव्रत का कथन बताना भी स्पष्ट असगत है। इसीतरह चार प्रकार के आहारो मे से सिर्फ 'अन्न' आहार का त्याग बताना भी भ्रात है यहाँ 'अन्न' का अर्थ भोजन (आहार) सामान्य से है और 'सर्वथा' शब्द मुनियो के लिए नव कोटि से त्याग करने के अर्थ मे दिया गया है अर्थात् यह सारा कथन मुनियो के लिए बताया है गृहस्थो का यहाँ कोई प्रसग ही नही है। इसके लिए ऊपर प्रमाण न० ७ देखिए।

२—विक्रम स० १९८५ मे प० जुगलकिशोरजी मुख्तार कृत 'जैनाचार्यो का शासन भेद' नाम का एक महत्त्वपूर्ण ट्रेक्ट प्रकाशित हुआ है उसमे पृष्ठ २१ से ४१ तक रात्रि भोजन त्याग नाम के छठे अणुव्रत के विषय मे काफी ऊहापोह किया है[१] परन्तु इस व्रत के 'अणु' शब्द को मात्र गृहस्थो का समझ लेने से सारा विवेचन अनेक भूल-भ्रातियो व आपत्तियो से भरा हुआ है और कुछ मान्य ग्रन्थकारो पर अन्यथा—दोषारो-

१ इसके बाद वि० स० १९८७ मे 'अनेकात, वर्ष १ पृ० ३२७-३२८ मे परिशिष्ट रूप से इस पर कुछ थोडा और विचार किया है।

पण को लिये हुए है। मूल मे ही भूल होने से यह सारा प्रकरण आमूल-चूल सदोष है जिसकी नीचे सक्षेप मे कुछ समीक्षा की जाती है।

मुख्तार सा०—"गृहस्थो का व्रत एक देशत्याग से अणुव्रत और मुनियो का व्रत सर्व देशत्याग से महाव्रत कहलाता है। गृहस्थो के पाँच अणुव्रत होते है। किन्तु कुछ आचार्यों ने रात्रिभोजन विरति नाम का छठा अणुव्रत भी उनके बताया है जैसा कि निम्नाकित प्रमाणो से प्रकट है —

(ख)—व्रतत्राणाय कर्त्तव्य रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तेस्तत्प्रोक्त षष्ठमणुव्रतम्॥
५—७० ॥ 'आचारसार'

(यह विक्रम की १२वी शती के आचार्य वीरनदि के वाक्य है इसमे कहा गया है कि (मुनि को) अहिंसादिक व्रतो की रक्षा के लिए सर्वथा रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और अन्न की निवृत्ति से वह रात्रि-भोजन का त्याग छठा अणुव्रत कहा जाता है, ।)

(चारित्रसार मे चामुडराय ने श्रावक के रात्रिभोजनत्याग मे चारो प्रकार के आहार का त्याग माना है उसी तरह अगर यहाँ 'अन्न' पद को उपलक्षण मानकर उससे चारो प्रकार के आहार का त्याग लिया जाय तो इस विषय मे फिर व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियो के त्याग मे कोई अन्तर नही रहेगा। दोनो का त्याग एक ही कोटि का हो जायगा यह खटकने की बात है।)

समीक्षा—विक्रम स० १९७४ मे माणिकचन्द्र ग्रथमाला, वम्बई से प्रकाशित आचारसार के पृ० ३५ पर तथा वीर स० २४६२ मे लालाराम-जी कृत हिन्दी टीकावाले आचारसार पृ० १२१ पर उक्त श्लोक न ७० मे 'निवृत्ति' पाठ दिया हुआ है किन्तु मुख्तार सा० ने उसकी जगह मन कल्पित 'निवृत्ते' पाठ बनाकर उक्त श्लोक का अर्थ मुनि और श्रावक

दोनो के लिए अलग-अलग विभक्त कर दिया है—यह ठीक नही।[1] वीरनदि आचारसार एकमात्र मुनियो का आचार ग्रथ है उसमे कही भी श्रावको के आचार का व्याख्यान नही है। जब श्रावको के ५ अणुव्रतो का कोई नामोल्लेख तक वहाँ नही है तब श्रावको के छठे अणुव्रत का कथन उसमे कैसे हो सकता है? यह सोचने की वात है। अणुव्रत शब्द से उसे श्रावको का ही व्रत समझ लिया गया है जो सबसे बडी भूल है जिसका विशेष स्पष्टीकरण पूर्व मे कर आये है उससे पाठक वास्तविक तथ्य को भलीभाँति हृदयगम कर सकते है।

(व्रती श्रावक के रात्रि में चारो प्रकार के आहार का त्याग आशाधर ने भी सागारधर्मामृत मे बताया है। आशाधर ने वह त्याग मन वचन काय इन तीन कोटि से ही[2] बताया है जब कि मुनियो के वह नव-कोटि से होता है। यह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक और मुनियो के रात्रिभोजन-त्याग मे खास अन्तर है अत इस विषय मे दोनो एक कोटि मे नही आ सकते। श्रावको के नवकोटि त्याग होने मे अनेक आपत्तियाँ है जिसका एक उदाहरण यह है कि—फिर व्रती स्त्रियाँ रात्रि मे शिशु को स्तनपान नही करा सकती इसलिए आशाधरादि ने उसे गृहस्थो के लिए तीन कोटि से ही विहित किया है। इस तरह व्रती श्रावको के रात्रिभोजन त्याग बताने में कोई खटकने जैसी वात नही है वह समुचित ही है।

(इसके सिवा अगर (गृह विरत या छठी प्रतिमाधारी) श्रावक और मुनि का रात्रिभोजनत्याग एक कोटि का भी मान लिया जाय तो कोई आपत्ति या बाधा जैसी बात नही है, क्योकि जब साधारण श्रावक

---

१ इस परिशिष्टाश पृष्ट ३२८ मे पाद टिप्पण मे भी "सर्वधान्ननिवृत्ते-स्तत्" पाठ रखा है यहाँ एक विशेषता और रख दी है 'सवर्थान्नान्' की जगह 'सर्वथान्न' समासपद रखा है।

२ अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्त भुक्ति चतुर्धापि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥४-२४॥

तक का सम्यग्दर्शन और सातवी प्रतिमा वाले गृह विरत श्रावक का ब्रह्मचर्य मुनि के सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य के समकक्ष हो सकता है तो रात्रिभोजनत्याग के एक कोटि का होने मे क्या बाधा है ? अगर यह कहा जाय कि—सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य एक कोटि का होते भी मुनि के सयम की प्रकर्षता से उसमे तरतम भेद है तो यही बात रात्रिभोजन-त्याग के साथ भी लागू हो जायगी। इस तरह श्रावक और मुनि दोनो के लिए रात्रि में चारो प्रकार के आहार का त्याग बताने मे कोई खटकने जैसी बात नही है और न इससे दोनो का अन्तर बाधित होता है।)

मुख्तार सा०—

"पूज्यपाद और अकलक देवादि ने तत्त्वार्थ की अपनी-अपनी टीका मे रात्रिभोजन विरमण नाम के इस छट्ठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) का उल्लेख किया है और उसे अहिंसा व्रत को आलोकित पान भोजन भावना मे अन्तर्भूत बताया है किन्तु रात्रिभोजन मे सकल्पी हिंसा नही होने से अहिंसाणुव्रत की प्रतिज्ञा मे रात्रिभोजन का त्याग नही आता तब उसकी भावना मे ही उसका समावेश कैसे हो सकता है ? अत. यह एक पृथक् व्रत जान पडता है और उक्त आलोकित पान भोजन नाम की भावना मे इसका अन्तर्भाव नही होता। हा महाव्रतियो की दृष्टि से आलोकित पान भोजन नाम की भावना मे रात्रि भोजनत्याग का समावेश जरूर हो सकता है इसी दृष्टि से पूज्यपाद, अकलक देव ने उसका समावेश किया है किन्तु ऐसा करते हुए उनकी दृष्टि अहिंसाणुव्रत के स्वरूप पर नही पहुँची। उनके सामने अहिंसा महाव्रत और मुनियो का चरित्र ही रहा है इसी से आलोकित पान भोजन के विषय मे जो राजवार्त्तिक मे विशेष विकल्प उठाये है वे सब मुनियो से ही सम्बन्ध रखते है जिन सब से यह स्पष्ट हो जाता है कि—मुनिधर्म को लक्ष्य करके ही रात्रिभोजन विरमण का आलोकितपान भोजन नाम

की भावना मे अन्तर्भाव किया गया है श्रावक धर्म अथवा उक्त छठे अणुव्रत को लक्ष्य करके नही ।

यहाँ मै अपने पाठको पर इतना और प्रकट किये देता हूँ—श्री विद्यानन्द आचार्य ने श्लोकवार्तिक मे इस रात्रिभोजन-त्याग को 'छठा अणुव्रत' नही कहा है किन्तु रात्रिभोजनविरति इस नाम से ही प्रतिपादन किया है और उसे उन्ही विकल्पो के साथ आलोकितपान भोजन भावना मे अन्तर्भूत किया है इसमे मालूम होता है कि—विद्यानन्द आचार्य की दृष्टि श्री पूज्यपाद और अकलक देव की उस सदोप उक्ति पर पहुँची है जिसके द्वारा उन्ही उक्त छठे अणुव्रत (श्रावक व्रत) को आलोकितपानभोजन भावना मे अन्तर्भूत किया था और इसलिए विद्यानन्द ने उसका उपर्युक्त प्रकार से सशोधन करके ('अणुव्रत' नाम न दे करके) कथन के पूर्वापर सम्बन्ध को एक प्रकार से ठीक किया है वास्तव मे वार्तिककारो का काम भी प्राय यही है। वे अपनी समझ और शक्ति के अनुसार दुरुक्तार्थो का सशोधन करते है ।

समीक्षा —पूज्यपाद और अकलकदेव ने किसी दुरुक्तार्थ का प्रतिपादन नही किया है न विद्यानन्द ने ही वैसे किसी दुरुक्तार्थ का सशोधन किया है। 'अणु' शब्द प्रयोग के रहस्य को नही समझने से मुख्तार सा० स्वय उलझ गये है और मान्य आचार्यो पर दोपारोपण कर बैठे है ।

जिस तरह कोई लक्ष्मण को राम का छोटा भाई कहे और कोई राम का भाई ही कहे दोनो ठीक है उसी तरह पूज्यपाद और अकलक देव ने रात्रिभोजनविरमण को छठा अणुव्रत कहा है और विद्यानन्द ने उसे व्रत (विरति) ही कहा है। पहला कथन विशेपात्मक है और दूसरा सामान्यात्मक। पहले कथन मे कोई दुरुक्तार्थता नही है अगर होती तो विद्यानन्द स्वय उसे प्रकट करते, परन्तु विद्यानन्द ने ऐसा कुछ नही किया है अत दोनो कथनो मे कोई अन्तर नही है विवक्षामात्र है ।

'अणु' शब्द से मुख्तार सा० ने उसे मात्र गृहस्थो का व्रत समझ

लिया है किन्तु अणु शब्द वहाँ कालकृत अल्पता से लघु—छोटे के अर्थ मे प्रयुक्त है वह एक देशत्याग से श्रावको और सर्व देशत्याग से मुनियो दोनो के होता है दोनो के लिए उसका उल्लेख 'अणुव्रत' इस सामान्य नाम से ही किया गया है। इसी सामान्य दृष्टि से पूज्यपाद, अकलंक देवादि ने उसे आलोकितपानभोजन भावना मे अन्तर्भूत बताया है लेकिन आलोकितपान-भोजन का कथन अन्य व्रत भावनाओ की ही तरह मुनियो की प्रधानता से किया है किन्तु इससे श्रावक विवक्षा का निषेध नही किया है और इसी-लिए आलोकित पान भोजन भावना को अहिंसा व्रत की ही भावना बताई है अहिंसा महाव्रत की नही। इस तरह आलोकित पान भोजन भावना श्रावको के अहिंसाणुव्रत की भी भावना है और उसे श्रावको के रात्रि-भोजनविरति रूप मे मानने मे कोई बाधा नही है।

आशाधर ने सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक २४ तथा सोमदेव ने यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृ० ३३४ मे रात्रिभोजन त्याग को अहिंसाणुव्रत का रक्षक और मूलगुणो का विशुद्धक बताया है ऐसा ही यश कीर्ति कृत प्रबोधसार अ० २ श्लोक ५१ मे लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि रात्रि-भोजन का त्याग किये बिना न तो अहिंसाणुव्रत बन सकता है और न मूलगुण ही, इसीलिए रात्रिभोजन को २२ अभक्ष्यो मे माना है और आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रथ मे श्रावक की ५३ क्रियाओ मे अनस्त-मित दिवाभोजन—'रात्रिभोजनत्याग' बताया है।

इसके सिवा उत्तरगुण—मूलगुणो के रक्षक होते है और आशाधर ने उत्तरगुणो मे अहिंसादि १२ व्रतो को और मूलगुणो मे रात्रिभोजनत्याग बताया है इस दृष्टि से अहिंसाणुव्रत उल्टा रात्रिभोजनत्याग का रक्षक हो जाता है यह सब कथन दोनो की एकात्मकता को सिद्ध करता है ऐसी हालत मे अहिंसाणुव्रत और उसकी भावना मे रात्रिभोजनत्याग के अन्त-र्भाव का निषेध करना कोई अर्थ नही रखता। अहिंसा से रात्रिभोजनत्याग ही क्या सभी व्रत नियम अन्तर्भूत हो जाते है। आचार्यो ने जो अलग-अलग

१२ व्रत, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, मद्य-मास-मधुत्याग आदि भेदो का उल्लेख किया है वह सव मदवुद्धियो के लिए सरलता की दृष्टि से किया है ।

ऐसी हालत मे मुख्तार सा० का यह लिखना कि—'मुनियो की दृष्टि से ही रात्रिभोजनविरमण का आलोकितपानभोजन मे अन्तर्भाव होता है श्रावको के वास्ते वह पृथक् व्रत बताया गया है, बिल्कुल बेजा है, रात्रिभोजनत्याग को पृथक् व्रत श्रावको के लिए ही नही वताया है वल्कि मुनियो के लिए भी वताया है। देखो 'क्रिया कलाप' पृ० ८०, १०२ "आहावरे छट्ठे अणुव्वदे राइ भोयणादो वेरमणम्" ।

इसके सिवा यह कहना कि—'अहिंसाणुव्रत मे सिर्फ सकल्पी हिंसा का ही त्याग होता है और रात्रिभोजन मे कोई सकल्पी हिंसा नही होती अत रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत मे नही आता, तो ऐसा कहना भी ठीक नही है वलिक भ्रान्त और सदोष है ।

सकल्पी हिंसा के त्यागी अहिंसाणुव्रती के—जीव मारने का परिणाम नही होता वह आरभादि हिंसा विना प्रयोजन नही करता, अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नही करता, जानबूझ कर हिंसा कर्म मे प्रवृत्त नही होता परन्तु रात्रिभोजी के यह सब होता है अत उसके स्पष्टत सकल्पी हिंसा का दोप आता है। रात्रिभोजन मे स्थावर और त्रसजीवो का प्रचुर घात और रागभाव की अधिकता होने से द्रव्य और भाव दोनो प्रकार की तीव्र हिंसा होती है इससे रात्रिभोजन महा हिंसा यज्ञ है इसका त्याग करना अहिंसाणुव्रत मे गर्भित नही होगा तो फिर क्या सत्य अचौर्याणुव्रतादि मे होगा ? यह सोचने की वात है। रात्रिभोजन और हिंसा का

---

१ समन्तभद्रका अहिंसाणुव्रत का जो लक्षण श्लोक दिया है उसमे भी सकल्पी हिंसा का त्याग मन, वचन, काय कृतकारित अनुमोदना नवो भगो से बतायी है जिससे रात्रिभोजन स्पष्टत सकल्पी हिंसा मे गर्भित होता है ।

परस्पर अटूट सम्बन्ध है। रात्रिभोजन में महाहिंसा ही नही स्पष्टतया मांस भक्षण का दोष भी आता है और उससे मूलगुणो का ही विघात हो जाता है अत अहिंसाणुव्रती के वह किसी तरह नही बन सकता 'अहिंसाणुव्रती' सतोषी, सम्यग्दृष्टि, जाग्रतबुद्धि[1] होता है अत उसके रात्रिभोजन जैसी महा अयत्नाचार प्रवृत्ति और प्रचुर जीवो का होमकर्म कभी नही बन सकता। इसीलिए लिखा है —

अर्कालोकेन विना भुजान परिहरेत्कथ हिंसाम्।
अपि बोधितप्रदीपो भोज्यजुषा सूक्ष्मजीवानाम्॥

अर्थ —भोजन करने वाले के, विना सूर्य के प्रकाश के हिंसा का परिहार कैसे हो सकता है ? अर्थात् दीपक जला लेने पर भी रात्रिभोजी के सूक्ष्म जीवो की हिंसा का निराकरण नही बन सकता।

शायद 'महाहिंसा का त्याग महाव्रत मे और अल्पहिंसा का त्याग अणुव्रत मे होना'—समझकर अहिंसाणुव्रत मे रात्रिभोजन का त्याग असभव बताया जाता हो तो यह भी ठीक नही है। महाव्रत मे तो लघु से लघु हिंसा का त्याग होता है और अणुव्रत मे महाहिंसा का त्याग होता है अत रात्रिभोजनत्याग अहिंसाणुव्रत मे समाविष्ट हो जाता है अहिंसाणुव्रत मे उसका समावेश किसी तरह असभव नही है।

इस तरह यह सक्षिप्त समीक्षा है। इस लेख का सार यह है कि रात्रिभोजन त्याग के[2] विकालाशनवर्जन, अनस्तमित, दिवाभोजन, छट्ठा अणुव्रत, आलोकितपानभोजन आदि अनेक नामान्तर है वैदिको मे जो सूर्य दर्शन करके भोजन करने का व्रत है। वह भी इसी का एक प्रकार है। यह रात्रि भोजनत्याग छठा अणुव्रत मुनि और श्रावक दोनो के

---

१ सागारधर्मामृत अध्याय ४ श्लोक १४। अमितगतिश्रावकाचार अध्याय ६२ श्लोक १७।

२ आदिपुराण पर्व २० श्लोक १६०।

होता है इसे 'अणुव्रत सिर्फ रात्रि मे ही भोजन के त्याग की अपेक्षा से अर्थात् कालकृत लघुता की दृष्टि' से कहा है। इसका अन्तर्भाव अहिंसाणुव्रत—आलोकितपानभोजन भावना मे हो जाता है। यह मुनि और श्रावक दोनो ही के अलग भी बताया है।

मेरा पाठको से निवेदन है कि वे मुख्तार सा० के ट्रैक्ट के एतद् विषयक प्रकरण को आद्योपान्त पढे उन्हे मालूम हो जायगा कि—उक्त समीक्षा कितनी उपयोगी आवश्यक और समुचित है। इसी तरह की गलतियाँ इस विषय मे अनेक विद्वानो ने की है और करते जाते है। उनके प्रतीकार के लिए मैने आशाधर के इस रहस्योद्घाटन को प्रकट किया है किसी की व्यक्तिगत आलोचना या मानप्रतिष्ठा को गिराने की दृष्टि से नही।

मुख्तार सा० मेरे आदरणीय है। मै यह मानता हूँ कि उन जैसे युक्ति-युक्त और प्रामाणिक लिखने वाले जैन समाज मे वहुत कम है उन्होने वहुत-सा साहित्य प्रणयन कर हमारे युगो के अज्ञानाधकार और अन्धश्रद्धा को मेटा है उन जैसे साहित्य तपस्वी पर समाज को गर्व है किन्तु "को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे" अर्थात् शास्त्र समुद्र अथाह है उसमे कौन नही चूकता।



'दर्शन' का अर्थ 'मिलना'

संस्कृत में दर्शनार्थक जितनी भी धातुएँ है, उनका अर्थ 'मिलना' भी होता है। उदाहरण के लिए निम्नांकित पद्य पर दृष्टि दीजिए—

"रिक्तपाणिर्न पश्येत् राजानं देवतां गुरुम्"

यहाँ 'पश्येत्' क्रिया, जिसका अर्थ अगर 'देखे' किया जाय तो ठीक नही लगता और निर्दोष भी नही रहता है, उसकी जगह 'मिले' अर्थ किया जाय तो ज्यादा अच्छा लगता है और निर्दोष भी रहता है। उपर्युक्त पूरे पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—

"खाली हाथ राजा, देवता और गुरु से नही मिले"। कोशो मे भी दर्शनार्थक धातुओ और शब्दो का अर्थ—"मिलना, साक्षात्कार, मुलाकात" भी दिया है।

अंग्रेजी मे भी दर्शनार्थक 'See' धातु का प्रयोग Visit, Meet = मिलना, भेट करना के अर्थ मे भी पाया जाता है। यह तथ्य दृष्टि मे न होने से कुछ विद्वान् संपादको—अनुवादको ने इस विषय मे गलतियाँ की हैं, उदाहरण के तौर पर उनके २-३ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

१—षट्खंडागम धवला टीका पुस्तक १ पृष्ठ ७१ प्रस्तावना पृष्ठ १९, परिशिष्ट २७) मे लिखा है—

"जिणपालियं दट्ठूण पुप्फयंताइरियो वणवासविसयं गदो"—

अर्थ—जिनपालित को देखकर अथवा देखने के लिए पुष्पदंत आचार्य वनवास देश गए।

समीक्षा—यहाँ दट्ठूण' का अर्थ जो 'देखकर' या 'देखने के लिए' किया है वह ठीक नही है। इसकी जगह 'मिलकर' या 'मिलने के लिए' करना चाहिए।

'देखने के लिए' अर्थ मे यह भाव झलकता है कि—'जिनपालित' या तो कोई छोटे से शिशु थे या बीमार थे जिन्हे देखने के लिए पुष्पदताचार्य वनवास देश गए। किन्तु दोनो वातें नही थी। अगर दोनो वातें हो भी तो किसी मुनि के लिए ऐसा करना उचित नही है, यह उसकी पद-चर्या के विरुद्ध है। अत 'दट्ठूण' का अर्थ 'देखने के लिए' करना समुचित नही है, उसका अर्थ 'मिलने के लिए' करना चाहिए। यह अर्थ फवता हुआ है और इससे अभिव्यक्ति भी ठीक होती है।

पुष्पदताचार्य का जिनपालित से मिलने का उद्देश्य उन्हे दीक्षा देकर सिद्धातसूत्र पढाने का था, यह धवला टीका के उसी प्रकरण मे आगे बताया है।

२—उपर्युक्त प्रकरण इद्रनदि कृत श्रुतावतार मे इस प्रकार है—

वर्षाकाल कृत्वा विहरन्तौ दक्षिणाभिमुखम् ॥१३१॥
जग्मतुरथ करहाटे तयो स य पुष्पदतनाम मुनि ।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वासौ भागिनेय स्वम् ॥१३२॥
दत्वा दीक्षा तस्मै तेन सम देशमेत्य वनवासम् ।
तस्थौ च भूतवलिरपि मथुराया द्रविडदेशेऽस्थात् ॥१३३॥

(तत्त्वानुशासनादिसग्रह पृ० ८५)

'जैन सिद्धात भास्कर, भाग ३ किरण ४' मे पण्डितवर्य्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने धवलादि के आधार पर "श्रुतावतार कथा" लिखी है, उसके पृ० १३० पर मुख्तार सा० ने लिखा है—

"वर्षायोग को समाप्त करके तथा जिनपालित को देखकर पुष्पदता-

चार्य तो वनवास देश को चले गए और भूतवलि भी द्रविड देशको प्रस्थान कर गये।

इन्द्रनदिश्रुतावतार मे जिनपालित को पुष्पदत का भानजा लिखा है और दक्षिण की ओर विहार करते हुए दोनो मुनियो के करहाट पहुँचने पर उसके देखने का उल्लेख किया है।"

समीक्षा—मुख्तार साहव ने भी जो 'देखकर' और 'देखने का' शव्द प्रयोग किया है वह ठीक नही है, उसकी जगह 'जिनपालित से मिलकर' और उससे 'मिलने का' शव्द प्रयोग होना चाहिए।



चमर

विद्वज्जनवोधक प्रथम खड पृष्ठ ३७० पर लिखा है —

(प्रश्न—कोई पुरुप तो चमरी गौ के केशनि का चमर वनाते है और कहते है कि—आदिपुराण मे लिखा है और कोई पुरुप निपेध करते है सो कैसे है ?)

(उत्तर—वहाँ (आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ५८ मे) 'चमरुह' लिखा है तातें कहे है परन्तु इहाँ विचार करने का काम है कि वहाँ जो पदार्थ है सो सव स्वर्ग समुद्भव है ताते ये चमरी के केश वहाँ नही है जैसे नारायण के हस्त मे शख लिखे है सो शख के आकार देवोपनीत उत्तम द्रव्य है ये हाड द्रव्य नही है तथा नारायण का नाम शार्ङ्गी है परन्तु वो धनुप देवोपनीत द्रव्य है सीग का नही है तातै यहाँ चमरी के केश के समान आकृतिमान चमर करना योग्य नही है क्योकि केश तो अस्पृश्य द्रव्य है और इहा परम उत्तम द्रव्य का ग्रहण है।)

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से भलीभाँति समझा जा सकता है कि अहिंसा प्रधान वीतराग जिनधर्म मे चवरी के वालो का चमर किसी तरह ग्राह्य नही है—उसका देवाधिदेव अरहत प्रभु की वैयावृत्य मे उपयोग करना योग्य नही है।

तिस पर भी (विद्यावाचस्पति) प० वर्धमान जी शास्त्री ने उसका समर्थन और प्रचार करने का वीडा उठाया है और जैनदर्शन के ३-४ अको मे इस विपय को लेकर उदयपुर चतुर्मास करनेवाले मुनिराजो को कोसते हुए युक्ति और शास्त्र से विरुद्ध यद्वातद्वा अनेक वातें लिख डाली है जिनका वहुत कुछ खडन जैनगजट और जैनसदेश आदि पत्रो मे प्रका-

शित हो गया है। मै भी इस विषय मे समीक्षा पूर्वक अपने कुछ विचार नीचे प्रस्तुत करता हूँ —

१-अशोक वृक्ष, २-पुष्पवृष्टि, ३-दिव्यध्वनि, ४-चमर, ५-आसन, ६-भामडल, ७-दुन्दुभि, ८-छत्र ये आठ प्रातिहार्य होते हैं। प्रतिष्ठा शास्त्रो मे इनको प्रतिमाओ पर अकित करना वताया है। तदनुसार दक्षिण आदि की कुछ प्रतिमाओ पर ये ८ प्रातिहार्य अकित पाये जाते हैं। किन्ही पर थोडे वहुत कम भी पाये जाते है। इन प्रातिहार्यो मे से छत्र, भामडल, सिहासन और चमर आदि प्रातिहार्य वहुत सी जगह प्रतिमाओ के साथ अलग भी होते है पर वर्धमान जी शास्त्री को इस वात का अत्यताग्रह हैं कि ये प्रातिहार्य प्रतिमाओ के साथ पूरे आठ होने चाहिये और अलग से होने चाहिए तथा चमर खास चमरी गाय के वालो का होना चाहिए। गोटा किनारी आदि का वना चँमर 'चँमर' नही कहला सकता, परन्तु यह मव आग्रह उनका कदाग्रह मात्र है। जव भगवान् जिनेन्द्र की मूर्ति ही असल नही होती है वह ही प्रतिकृति नकलमात्र होती है तो अन्य चीजे कैसे वास्तविक हो सकती है? नकल भी जो की जाती हे वह निर्दोष और अहिसाप्रधान होती है तभी वह उपादेय और हितावह होती है, ऐसी हालत मे हिसाजन्य चमरी गाय के वाल धर्मपद्धति मे कभी ग्राह्य नही हो सकते अतः उसी के आकार के जो गोटा किनारी आदि के चमर वनाये जाते है वे समुचित है। उनकी चमर सज्ञा उसी तरह है जिस तरह पत्थर की मूर्ति जिनेन्द्र भगवान् 'कहलाती है और शतरज के मोहरे हाथी, घोडा, ऊँट, राजा, वजीर आदि कहलाते है अथवा सिंहो से उपलक्षित न होने पर भी सामान्य आसन 'सिहासन' कहलाते है। नृत्यगान करनेवाले आज के साधारण मनुष्य "गन्धर्व" कहे जाते है।

जिस तरह एक दो चामरो का सकेत ६४ चामरो का परिचायक हो जाता है। उसी तरह देशामर्शक न्यायानुसार एक दो प्रातिहार्यो के

होने पर भी मूर्त्ति अष्टप्रातिहार्य युक्त मानी जाने मे कोई वाधा नही है।

यह कोई जरूरी नही है कि अलग से पूरे आठो प्रातिहार्य और वे भी वास्तविक हो ही। अगर ऐसा माना जायगा तो फिर आदिपुराण पर्व २३ मे वर्णित १ योजन लबी शाखाओवाला विशाल असली अशोक वृक्ष भी होना चाहिए, ओष्ठ तालु आदि के व्यापार से रहित दिव्यध्वनि भी होनी चाहिये, जिसमे भव्यो को अपने सात भव दिख जाये ऐसा वास्तविक भामडल भी होना चाहिए, छत्र भी १-२ न होकर पूरे तीन होने चाहिए और फिर चँवर भी पूरे ६४ होने चाहिए एक भी कम नही। क्या इन सव के लिए पडितजी तैयार है? चमरी के वालो का आग्रह करने वाले पं० वर्धमान जी को शव्दो का गुलाम न वनकर अभिप्राय, सगति व निर्दोषता की ओर भी कुछ ध्यान देना चाहिये।[1]

चामर-चमर की जगह आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ४८-४६ व ५६ मे 'प्रकीर्णक' शव्द का प्रयोग पाया जाता है वहाँ प० वर्धमान जी चमरी गाय के वालो का अर्थ कैसे निकालेंगे?

सही वात तो यह है कि—ये प्रातिहार्य देवोपनीत होते है, यह सव देवकृत माया और विक्रिया होती है। 'प्रातिहार्य' शव्द का अर्थ भी 'माया' होता है। (आदिपुराण पर्व २३ श्लोक ४६,५० और ५२ मे चामरो को शुचि-पवित्र एव निर्मल वताया है ऐसी हालत मे इन दिव्य-अलौकिक पवित्र चामरो की सगति लौकिक और हिंसाजन्य चमरी गाय के अपवित्र वालो से करना कितना असमीचीन है यह विज्ञ पाठक स्वय सोच सकते है।)

([1] 'हरिवशपुराण, सर्ग ५ श्लोक ३६४ मे अष्ट मगल द्रव्यो के अन्तर्गत 'शख' भी वताया है तो क्या प० वर्धमान जी अष्ट मगल द्रव्यो मे द्वीन्द्रिय जीवो का हाड रूप 'शख' का उपयोग करेंगे? अगर नही तो फिर 'चमर' के साथ ही शव्दार्थ का आग्रह क्यो?)

(इसके सिवा प० वर्धमान जी सा० ने चर्माच्छादित अपवित्र नगाडो और तवले आदि को दुन्दुभि प्रातिहार्य माना है पर न तो देव दुन्दुभियो को शास्त्रो मे कही चर्माच्छादित वताया है और न चर्माच्छादित अपवित्र वस्तुऐं जिनेन्द्र देव के प्रातिहार्य के योग्य ही हो सकती है।)

समाज मे कुछ ऐसे पडितो का दल है जो गोवर जैसे अपवित्र पदार्थ को जिसमे सतत प्रचुर जीवो की उत्पत्ति होती रहती है जिनेन्द्रदेव की आरती मे ग्रहण करने का प्रतिपादन करता है परन्तु साथ मे रहस्य की वात यह है कि—यह दल स्वय आरती में गोवर को कभी ग्रहण नही करता। इसी वर्ग के एक सदस्य श्रीयुत प० वर्धमान जी शास्त्री है, आजकल वे चमरी गाय के वालो से निर्मित चमर का और चर्माच्छादित नगाडो का प्रचार व समर्थन करने पर तुले हुए है शायद आज के विचारक युग मे वे इन वातो से ही जिनशासन की प्रभावना और जिनवाणी का का अनुपम प्रचार समझते हे। पर यह निश्चित समझिये कि—वे स्वय कभी चमरो के वालो से निर्मित चमर का जिनेन्द्र देव के ऊपर ढोरने मे उपयोग करने वाले नही है। ऐसे लोगो का कार्य तो अपने अक्षरज्ञान से मनोरजन करता मात्र होता है। खैर अपनी-अपनी रुचि और अपना-अपना तरीका है किन्तु विशेष दु ख तो इस वात से होता है कि ये लोग अपनी मन कल्पित, प्रत्यक्ष सदोप दिखने वाली क्रियाओ को भी आगम-सम्मत वताते है और दूसरी तरफ सरल, सुलभ, पूर्वकाल से प्रचलित, प्रत्यक्ष ही निर्दोष दिखने वाली तथा निर्विवाद धार्मिक क्रियाओ—आचार पद्धतियो को भी आगम विरुद्ध वनाने का प्रयत्न करते है।

●

उत्तम त्याग धर्म

"उत्तमक्षमामार्दवार्जव शौचसत्यसयमतपत्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मा ।"

मोक्षशास्त्र के इस सूत्र मे दश धर्मो (लक्षणो) का कथन किया गया है। इससे हमारा पर्यूपण पर्व "दश लक्षण" पर्व कहलाया है। पर्यूपण के १० दिनो मे प्रत्येक मुमुक्षु भव्य यथाशक्ति इन दश धर्मों का आराधन करता है। ८वाँ धर्म 'त्याग' है, नीचे उस पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—पाठक मनन कर जीवन मे उतारने का प्रयत्न करे —

त्याग का अर्थ छोडना है, त्याग बुरी वस्तु का किया जाता है, बुरी वस्तु परिग्रह से बढकर और कोई नही है सारे पाप इसमे समाविष्ट है। धन परिग्रह के लिए ससारी प्राणी अनेक प्रकार की हिंसा करते है, झूठ बोलते है, चोरी करते है, कुशील का सेवन करते है, इस तरह सभी पाप इस एक परिग्रह से सपन्न होते है। तत्त्वार्थराजवार्त्तिककार के शब्दो मे परिग्रह 'सर्वदोपप्रसवयोनि'—सब दोपो का उत्पत्ति स्थान है और इसलिए महात्माओ ने कहा है कि—'अर्थमनर्थ भावय नित्य' अर्थात् प्रतिदिन अर्थ-धन की अनर्थता का चिंतन करो। शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव मे परिग्रह को "नि शेपानर्थमदिर" (सपूर्ण अनर्थो की जड) कहा है।

अमरकोपकार ने भी परिग्रह के सचय को राक्षसी वृत्ति सूचित किया है, यह वात राक्षस-नामो मे दिये हुए 'पुण्यजन' (धनवान्) शब्द से स्पष्ट जानी जाती है और इसीलिए उन्होने कुवेर को 'धनाधिप' के साथ-साथ 'यक्षराट्' और 'पुण्यजनेश्वर' (राक्षसेश्वर) आदि कहा है। कोशकारो ने 'कुवेर' का अर्थ कुवडा, कोढी किया है तथा उसे 'एक पिंग' (पीली आँख वाला) 'गुह्यकेश्वर' (जिसका मुख छिपा हुआ

है या गृह त्याग करने वाला) 'नरघातक' (मनुष्य से धन को नष्ट करा लेनेवाला) 'निष्करुण' (करुणा, किसी की न सुनने वाला) नाटक (चोरी) और 'पिशाच-कर्म' आदि बताया है, इससे परिग्रह-धारियों का जीवन का बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।)

पाप पाँच माने गए हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह. इनमें हिंसा करनेवाले को 'हिंसक', झूठ बोलनेवाले को 'झूठा', चोरी करनेवाले को 'चोर' और कुशील सेवन करनेवाले को 'व्यभिचारी' कहा जाता है। समाज भी इन्हें घृणा की दृष्टि से देखता है और शासन भी इन्हें यथा योग्य दण्ड देता है, पर हम देखते हैं कि 'परिग्रही' को न बुरा कहा जाता है, न समाज ही घृणा की दृष्टि से देखता है और न राज्य-शासन ही उसे दण्डित करता है उल्टा परिग्रही धनवान को भाग्यशाली और पुण्यात्मा कहा जाता है, "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा" (नीतिशास्त्र अ० ४ सूत्र ४१ का स्वरूपार्थ) जिनके पास धन होता है वे गुणहीन होने पर भी गुणी कहलाते हैं, ऐसी किंवदन्ती है। धन के मद ने बुद्धि को भी भ्रष्ट कर दिया है, पर इससे परिग्रह पाप की पंक्ति से नहीं निकल जाता है यह पाप ही नहीं वास्तव में महापाप है चाहे हम उसकी चकाचौंध में फँसकर उसकी बुराइयों से आँखें मूँद लें पर किंपाक फल की तरह आखिर उसका परिणाम बड़ा अनिष्टकारी ही होता है। हम जो संसार रूपी जेलखाने में बुरी तरह अनादिकाल से फँसे हुए हैं यह जेलखाना और कोई नहीं यह परिग्रह ही है अतः हम परिग्रह को ही संसार कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। इस परिग्रह-पिशाच के ही वशीभूत हो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पने का प्रयत्न करता है, महा विनाशकारी अस्त्रशस्त्रों का निर्माण किया जाता है। परिग्रह, संग्रह ही के कारण देश में भुखमरी, ब्लेकमार्केट, अनाचार और अशान्ति फैलती है। परिग्रह सब तरह से महान् दुःखकारी है उसके अर्जन में दुःख, रक्षण में दुःख और उसके गमन में दुःख फिर भी गहरे मोह और मिथ्यात्वकी वजहसे यह प्राणी उसके पीछे पागल हो रहा है।

शास्त्रकारो ने परिग्रह के तीन भेद किये है—चेतन, अचेतन और चेतना-चेतन (मिश्र)। कुटुम्ब, नौकर, पशु-पक्षी आदि चेतन परिग्रह है, धन धान्यादि उपभोग परिभोग सामग्री अचेतन परिग्रह है और उपवन कूप जलाशयादि मिश्र परिग्रह है, उपर्युक्त सब परिग्रहो को वाह्य परिग्रह भी कहते है। मिथ्यात्व-राग-द्वेप-क्रोध मान माया लोभादि—आभ्यतर परिग्रह है इनको मिश्र परिग्रह भी कहते है। मुमुक्षु को इन सबका यथाशक्ति परिमाण और त्याग करना चाहिए। जिस तरह भी बने इस पाप के बोझ को हलका करने की ओर पूरा प्रयत्न-शील रहना चाहिए और भदन्त गुणभद्र की इस बात को कभी नही भूलना चाहिए कि—परिग्रही व्यक्ति की निश्चय से नीच गति होती है जैसे तराजू का भारी पलडा सदैव नीचे की ओर ही झुकता है।

प्रश्न—जिनके पास धन नही ऐसे दरिद्री मनुष्य तो परिग्रह पाप से मुक्त समझे जाने चाहिए ?

उत्तर—वे तब तक मुक्त नही है जब तक उनकी लालसाये परिग्रह के सचय मे सलग्न है, यह दूसरी बात है कि उन्हे मेहनत करने पर भी प्राप्त नही होता या वे अभी तक अपनी मजिले मकसद को पहुँच नही पाये है पर है वे उसी पथ के पथिक। इसलिए वस्तुत परिग्रही है। वास्तविक परिग्रह आभ्यन्तर परिग्रह ही है इसीलिए सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण—"मूर्च्छा परिग्रह" दिया है, जब तक वाह्य पदार्थो मे हमारा ममत्वभाव है हम पूरे परिग्रही है। इससे सिद्ध हो जाता है कि—धन के दरिद्री जब तक ममत्त्व लालसा के दरिद्री नही है वास्तव मे वे परिग्रही ही है! विना आभ्यन्तर त्याग किये बाह्य त्याग कोई कार्यकारी नही, आभ्यन्तर त्याग होने पर बाह्यत्याग तो स्वत सिद्ध है अगर हम ऐसा नही मानेंगे तो मुक्ति कभी सम्भव ही नही क्योकि लोक के एक-एक प्रदेश मे वाह्य पदार्थ भरे हुए है।

त्याग का दूसरा नाम दान भी है। आचार्यो ने श्रावक के दैनिक षट्कर्मों में 'दान' भी एक नित्य कर्म बताया है। दान चार प्रकार का है—आहार, औषध, शास्त्र और अभय। प्रतिदिन हमें कुछ न कुछ दान करके अपने पापरूपी कर्ज और भार को हलका करना चाहिए।

मूर्खो न हि ददात्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया।
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया॥

मूर्ख आदमी दरिद्र हो जाने की शंका से दान नहीं करता किन्तु बुद्धिमान दरिद्र हो जाने की शंका से दान करता है। 'दरिद्र हो जाने का भय, दोनों को है पर दोनों की भावनाओं मे रात-दिन का अन्तर है—मूर्ख तो मूर्खतावश सोचता है कि—दान करूँगा तो निर्धन हो जाऊँगा, जब कि बुद्धिमान यह सोचता है कि—अभी तो धन है खूब दान कर लेना चाहिए न जाने कब दरिद्री हो जाऊँ फिर दान करना ही मुश्किल हो जायगा। दोनों की भावनाओं मे जो अन्तर है समझदारों को उसे अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए।[1]

हम लोगों ने कुछ ऐसी परम्परा स्वीकार कर ली है कि—न्याय या अन्याय जैसे भी बने वैसे पहले तो धन का खूब उपार्जन करना और फिर उसमें से कुछ दान कर दानी और धर्मात्मा कहलाना, पर यह कोई ठीक रीति नहीं है यह तो एक तरह का द्राविडी प्राणायाम है अगर हम न्याय नीति से आवश्यकता के अनुसार ही धनोपार्जन करें तो दान का सवाल ही उत्पन्न न हो—न तो फिर लेनेवाला ही मिले और न हमारे पास देने

---

१ तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ सूत्र अन्तिम—"विघ्नकरणमन्तरायस्य" की टीका राजवार्तिक मे लिखा है–द्रव्य का नहीं देना, और उसके नहीं देने का समर्थन करना दोनों ही अन्तराय कर्म के आश्रव है। श्लोकवार्तिक मे लिखा है–प्रभूत दान देने वाले को कम दान देने का (द्रव्यापरित्याग) उपदेशादि करना भी अन्तराय का आश्रव है।

जितना ही हो—स्वत ही साम्यवाद उपस्थित हो जाय और हमारा जीवन भी काफी निराकुल शान्तिपूर्ण बन जाय। इस विषय मे अन्य अगर कोई गलती करे तो उसकी गलती मानी जा सकती है पर निर्ग्रंथ महावीर के अनुयायी कहलाने वाले हम भी अगर यह गलती करे तो शोचनीय हो जाता है, हमे वीर के उपदेशो की रोशनी मे एक बार अपना अन्त परी-क्षण करके देखना चाहिए कि हम किधर जा रहे है।

वस्तुत परिग्रह का त्याग कोई दान या धर्म नही है वह तो पाप का प्रायश्चित्त भर ही है फिर भी कुछ सज्जन इस स्वभाव के है कि दान मे रुपये तो बोल जाते है पर उन्हे देना नही चाहते या विलम्ब से देते है, अनेक प्रकार की आना-कानी करते है, अनेक अडगे उपस्थित करते है बेजा शर्ते लगाते है—एक तरह से यह सब न देने की ही कोटि मे आ जाता है इसकी ओर दानी कहलाने वालो को ध्यान देना चाहिए। दान देने मे जब किसी की कोई दाब-धौस नही है वह अपनी स्वेच्छा से दिया जाता है तब फिर यह अडगा क्यो ? और क्यो दानी महानुभाव त्याग की हुई वस्तु से चिपटे रहना चाहते है ? उन्हे तो चाहिए कि दान की हुई राशि को शीघ्र दे दें। अगर कोई महानुभाव वास्तव मे कुछ देना ही नही चाहते है तो वे मुफ्त मे दानी कहलाने की अपनी यशोलिप्सा पर काबू करके दान मे कुछ नही बोले तो अच्छा रहे ताकि दूसरे भाइयो मे जो उनकी वजह से गलत परम्परा पडती है वह न पडे।

प्रश्न—जिनके पास धन न हो वे कैसे दान करें ?

उत्तर—जिनके पास धन न हो किन्तु ज्ञान हो वे अपने ज्ञानरूपी धन का दान कर सकते है, उत्तमोत्तम ग्रन्थो का अनुवाद, सम्पादन, प्रकाशन करना, शास्त्र-प्रवचन करना, सन्मार्ग-प्रदर्शक और उद्बोधक लेखादि का लिखना जिससे मिथ्यात्व, शिथिलाचार तथा कुरीतियोका नाश होकर जिनशासन की वास्तविक प्रभावना हो यह सब उत्तम ज्ञानदान है। धन का दान तो परवस्तु (परिग्रह) का दान है उमसे गाँठ का जाता ही क्या

है ? उल्टा उसका त्याग करके तो पाप का बोझ हलका किया जाता है वह तो एक तरह से उधार का भुगतान मात्र है। किन्तु ज्ञानदान स्ववस्तु (स्वग्रह) का दान है क्योंकि 'ज्ञान' आत्माका अपना गुण है इसलिए ऐसा दान वास्तविक दान है—इस दान मे अपना कुछ जाता हो ऐसी बात भी नही है जिस तरह एक दीपक की लौ अनेक दीपको को प्रज्वलित कर देती है और उसका कुछ नही जाता उसी तरह ज्ञानदान है। परमार्थ से सोचें तो ज्ञानी किसी को कुछ देता-लेता नही है यह तो दूसरो का अज्ञानाधकार दूर कर उनकी वस्तु उन्हे सुझा देता है यह एक प्रकार का उत्कृष्ट परोपकार है फिर चाहे हम त्याग कहे, चाहे दान।

प्रश्न—जिनके पास धन और ज्ञान दोनो न हो वे किस तरह दान करे ?

उत्तर—ऐसे व्यक्ति अपना तन और मन धर्म तथा धर्मात्माओकी सेवा मे लगाकर दानका श्रेय ले सकते है, और अपना जीवन सफल कर सकते है।

जैनो के धर्मायतनो मे प्राय बहुत पैसा है, भारत सरकार ने कुछ ऐसे कानून बनाये है और बना रही है कि अगर हमने धार्मिक-द्रव्य को शीघ्र किसी उचित कार्य मे नही लगाया तो वह फिर सब सरकार के कब्जे मे होगा अत समय रहते धर्माधिकारियो को अपने प्रमाद और आपसी झगडो का त्याग कर इस ओर ध्यान देना चाहिए। परिग्रह-परिमाण जब श्रावक करता है तब मदिरो के द्रव्य परिग्रह का परिमाण क्यो नही किया जाता ?।

किसी जमाने मे मन्दिरो का धन और उपकरणादि प्रभावना का का कारण समझा जाता था पर आज परिस्थितियाँ कुछ दूसरी ही हो गई है और लोगो के विचारो मे भी परिवर्तन हो गये है। सोचा जाय तो एक निर्ग्रन्थ के लिये ये सब ठाट-बाट किसी तरह शोभास्पद नही कहे जा सकते अत हमारे मन्दिर वीतराग मूर्ति की ही तरह

पूर्ण वीतराग बने तो ज्यादा प्रभावक हो और मन्दिरो की धनराशि पर जो कभी-कभी कलह हो जाती है वह भी मिट जाये तथा जो आये दिन चोरी की वारदाते होती है वे भी न हो सके। हमारे मन्दिर त्यागधर्मकी शिक्षा देनेवाले मूर्तिमान आदर्श होने चाहिए, सही मायने मे तभी हम 'दिगम्बर' कहलाने के अधिकारी है।[1]



१ पहिले प्राचीन समय मे ८ प्रातिहार्य मूर्तियो पर ही उत्कीर्ण किये जाते थे पर बाद मे भट्टारकीय जमाने मे छत्र-चमर भामंडल, सिंहासन आदि अलग से सोने के बनाये जाने लगे। इस तरह हमने वीतरागी को पूरा सरागी बना दिया। यही कारण था कि बाद मे मूर्त्तियो पर ये ८ प्रातिहार्य नही उत्कीर्ण किये जाने लगे क्योकि जब बाहर से ये सब होने लगे तो मूर्त्ति मे अनावश्यक समझे गये। भगवान् को सोने की पालकी व सोने के रथ मे विराजमान करके निकालने की प्रथा भी भट्टारको द्वारा ही चलाई गयी प्रतीत होती है। पूर्व समय मे हम खासे वीतरागी थे जितना हम परिग्रह-धन से दूर रहे धन हमारे पीछे-पीछे दौडने लगा। समय पाकर कुछ भाई उसके चक्कर मे आ गये और इस तरह निर्ग्रन्थ जैनी काफी सग्रंथी हो गये।

धरणेन्द्र पद्मावती

प्रतिष्ठा ग्रन्थो मे तीर्थंकरो के चौवीस यक्ष और चौवीस यक्षियो के नाम आते हैं। ये ही शासन देव-देवियाँ कहलाती हैं। इनमे से श्री पार्श्व-नाथ स्वामी के यक्षका नाम धरण और यक्षिणीका नाम पद्मा या पद्मावती लिखा मिलता है। ये ही वे धरमेन्द्र-पद्मावती माने जाते है जो नाग-नागिन के जीव थे, अग्नि मे जलते हुए जिनको कि भगवान् पार्श्वनाथ ने नमस्कार मन्त्र सुनाया था जिसके प्रभाव से वे धरणेन्द्र पद्मावती हुए थे। इस प्रकार की आम धारणा जैन समाज मे चली आ रही है। किन्तु इन धरणेन्द्र-पद्मावती को अगर हम पार्श्वनाथ की यक्ष-यक्षी मान लेते है तो नीचे लिखी शकायें उठती हैं।

धरणेन्द्र के विषय मे शकायें—

१—धरणेन्द्र तो भवनवासी देवनिकाय के अन्तर्गत नागकुमार जाति के देवो का इन्द्र माना गया है। उसे यक्ष कैसे कहा जा सकता है ?

२—चौवीस यक्षो मे कोई भी यक्ष ऐसा नही है जो किसी जाति के देवनिकायका इन्द्र हो। तव यह धरण यक्ष ही नागकुमारो का इन्द्र धर-णेन्द्र कैसे माना जा सकता है ?

३—इन शासन देव-देवियो की कथा-चरित्र किसी भी प्रामाणिक जैन आगम मे अभी तक देखने मे नही आया है कि किस वजह से ये शासन देव-देवियाँ मानी गयी है ? ऐसी सूरत मे धरणेन्द्र और उसकी देवी को पार्श्वनाथ स्वामी के शासन देव-देवी मानकर उनकी यह कथा पार्श्वनाथ-चरित्र मे वताना सन्देहजनक हैं। अर्थात् यह धरणेन्द्र और उसकी देवी पार्श्वनाथ की शासनदेव-देवी नही हैं।

४—त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्रथम भाग के पृष्ठ २६६ मे तो पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम ही 'धरण' न लिखकर 'मातग' लिखा है। इसके अलावा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने बनाये अभिधान चिन्तामणि कोश मे पार्श्वनाथ के यक्षका नाम धरण न लिखकर पार्श्वयक्ष नाम लिखा है। यही नाम पूजासार दिगम्बर ग्रन्थ मे भी लिखा है। यदि वास्तव मे धरणेन्द्र ही पार्श्वनाथ का यक्ष होता तो ये नाम वेद शास्त्रो मे नही पाये जाते। अत धरण और धरणेन्द्र दोनो एक व्यक्ति नही है।

पद्मावती के विषय में विचार—

प्राचीन जैन साहित्य मे तो धरणेन्द्र की कोई पद्मावती नाम की देवी हुई है ऐसा उल्लेख ही नही मिलता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति और त्रिलोकसार मे धरणेन्द्र की अग्रदेवियो के कोई नाम ही नही मिलते है। हाँ असुरकुमारो के इन्द्र चमर और वैरोचन की अग्रदेवियो के पाँच-पाँच नाम जरूर मिलते हैं। उन नामो मे 'पद्मा' नाम की अग्रमहिषी वैरोचन के बताई है। धरणेन्द्र (नागकुमारो के इन्द्र) के नही बताई है।

हरिवशपुराण सर्ग २२ श्लोक ५४, ५५, १०२ मे धरणेन्द्र की देवियो के नाम दिति अदिति लिखे है। पद्मावती नही लिखा है।

(अकलकाचार्य कृत राजवार्तिक मे धरणेन्द्र की अग्रदेवियोकी छह सख्या बताई है पर उनके नाम नही लिखे है।)

आचार्य गुणभद्र कृत उत्तरपुराण के पर्व ७३ श्लोक १४१ मे लिखा है कि—"नाग नागिनी मरकर नाग का जीव धरणेन्द्र और नागिनी का जीव उसकी पत्नी हुआ।" इतना ही लिखा है। यहाँ भी पत्नी का नाम नही लिखा है। भगवान् पार्श्वनाथ के उपसर्ग निवारण के लिये वे आये थे उस प्रसग मे भी उत्तर पुराण मे पद्मावती नाम का उल्लेख नही किया गया है। यह भी नही कह सकते है कि सक्षिप्त कथन करने की वजह से पद्मावती का नाम नही लिखा गया है। क्योकि इसी पर्वके अन्त मे मगल

रूप से अनेक पद्य लिखे गये है। उनमे भी उपसर्ग निवारण का जिक्र करते हुए आचार्य गुणभद्र ने तीन जगह "धरणेन्द्र की देवी" इतना मात्र ही लिखा है, मूलपाठ मे कही भी पद्मावती नाम नही लिखा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्य आचार्यो की तरह गुणभद्र की दृष्टि मे भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती नाम की नही थी। दूसरा नाम भी उन्होने नही दिया इससे यही मालूम पडता है कि गुणभद्र की परम्परा मे धरणेन्द्र की देवियो के नाम विच्छेद हो चुके थे। यही कारण है जो त्रिलोक प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार और राजवार्तिक मे धरणेन्द्रकी देवियो के नाम लिखे मिलते है।

आचार्य समतभद्रकृत स्वयभूस्तोत्र मे भी पार्श्वनाथ की स्तुति में 'धरण' का तो उल्लेख है पर पद्मावती का नही है।

और तो क्या श्वेतावराचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' के पार्श्वनाथ चरित्र मे भी नाग नागिनी का मरकर धरणेन्द्र और उसकी देवी होना तो लिखा है। पर देवी का नाम पद्मावती वहाँ भी नही लिखा है।

इन सव वातो से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे है कि—जव श्री पार्श्वनाथ स्वामीके धरण नाम के यक्ष को धरणेन्द्र करार दे दिया तो उन्ही भगवान् की यक्षिणी पद्मावती को भी धरणेन्द्र की देवी पद्मावती वना दिया है। ऐसा करते हुए यह भी नही सोचा कि क्या प्रत्येक तीर्थकरकी यक्ष-यक्षी का आपसमे दाम्पत्य सम्वन्ध है? इसलिये न तो धरण यक्ष धरणेन्द्र है और न पद्मावती यक्षिणी ही धरणेन्द्र की देवी पद्मावती है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि—धरणेन्द्र पद्मावती की यह कल्पना मूल सघ से भिन्न द्राविडादि सघ वालो ने की है। मल्लिषेण (भैरव पद्मावती कल्प के कर्ता) वादिराज (पार्श्वनाथ चरित के कर्ता) जो कि द्राविड सघी थे उन्होने ऐसा कथन किया है। सम्भव है उनकी गुरु परम्परा से भी ऐसा कथन चला आ रहा हो। इन्ही का अनुसरण वाद के कुछ ग्रथकारो

ने भी किया है। द्राविड संघ के साधुओ की गणना मठपति साधुओ मे की जाती है। ये साधु जागीरें रखते है। सघभेद होनेसे द्राविड सघ और मूलसघ की मान्यताओ मे भी कही-कही फर्क रहता है। (यही कारण है जो द्राविडसघी वादिराज कृत पार्श्वनाथ चरित्र का कथन मूलसघी गुणभद्र कृत उत्तर पुराण से कही-कही मिलता नही है। श्री पार्श्वनाथ पर उपसर्ग करने वाला कमठ के जीव का नाम वादिराज ने भूतानन्द नामका असुर जाति का देव लिखा है। जबकि उत्तरपुराण मे सवर नामक ज्योतिषी देव लिखा है। भूतानन्द यह नाम भी त्रिलोकसारादि ग्रंथो मे असुरो मे न लिखकर नागकुमारो मे लिखा है।

इस सारे ऊहापोह से यह प्रकट होता है कि—श्री पार्श्वनाथ स्वामी के जो यक्ष-यक्षिणी धरण और पद्मावती के नाम से कहे जाते है वे नाग नागिनी के जीव धरणेन्द्र और उसकी देवी से बिल्कुल भिन्न है। यानी यह धरणेन्द्र और उसकी देवी जो कि नाग-नागिनी के जीव थे पार्श्वनाथ भगवान् की शासन देव-देवी नही है। और जहाँ इनको पार्श्वनाथ की शासन देव-देवी लिखा है वह अजीव मेल किया है वह कथन मूलसघ का नही है।

वसुनंदि और उनका प्रतिष्ठासार-संग्रह

आचार्य वसुनदि का बनाया एक प्रतिष्ठासार सगह नाम का ग्रन्थ है जो अभी तक मुद्रित नही हुआ है। और एक वसुनदि श्रावकाचार नाम का ग्रन्थ भी वसुनदिकृत है जो मुद्रित हो चुका है। इन दोनो ग्रन्थोके कर्त्ता एक ही वसुनदि है ? या जुदे-जुदे है ? प्रस्तुत लेख मे इसी पर विचार किया गया है।

प० आशाधर ने वसुनदिके श्रावकाचार का उल्लेख अपने बनाये ग्रन्थ में किया है अत. श्रावकाचार के कर्ता वसुनदि आशाधर के पहले हुये है यह निर्विवाद है। किन्तु प्रतिष्ठासार सग्रह के कर्ता वसुनदि आशाधर के बाद हुये हे इसलिये वे जुदे है। इसकी सिद्धि के लिये निम्नलिखित तीन हेतु है—

प० आशाधर के बनाये प्रतिष्ठा सारोद्धार ग्रन्थ की प्रशस्ति मे लिखा है कि—

"आम्नायविच्छेदतमश्छिदेऽय ग्रन्थ कृतस्तेन युगानुरूप।"

अर्थ—"उन आशाधर ने यह प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ आम्नायविच्छेद रूप अधकार को छेदने के लिए युगानुरूप बनाया है।"

इस कथन से ऐसा प्रकट होता है कि प० आशाधर को ऐसा कोई प्राचीन प्रतिष्ठापाठ नही उपलब्ध हुआ जिसमे प्रतिष्ठा की विधि पूर्ण और सुव्यवस्थित हो। यह विषय उनको यत्रतत्र बिखरा हुआ सक्षिप्त सकेत-मात्र ही मिला हे। जैसा कि वसुनन्दि श्रावकाचारमे यह विषय सकेत-मात्र लिखा मिलता है। इसीलिये आशाधर ने प्रतिष्ठा विधि का सिलसिला बनाये रखने की गरज से अपना प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ बनाकर उसमे इस विषय को नया रूप दिया है। यह बात प्रशस्तिगत श्लोकके 'युगानुरूप'

वाक्य से स्पष्ट ध्वनित होती है। जब हम वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार सग्रह को देखते है तो उसमे प्रतिष्ठा का कितना ही विषय सविस्तर पाते है, और प्राय बहुत-सा कथन प्रतिष्ठासारोद्धार और प्रतिष्ठासार सग्रह मे इस कदर समान पाते है, कि जैसे वसुनन्दि और आशाधर दोनो मे से किसी एक ने दूसरे का अनुसरण किया हो। दोनो मे पूर्ववर्ती कौन ? और परवर्ती कौन ? यही बात देखने की है। "आशाधर ने वसुनन्दि का अनुसरण किया है" ऐसा इसलिए नही माना जा सकता कि—वसुनन्दि कृत सविस्तार ऐसा प्रतिष्ठासार सग्रह यदि आशाधर के पहिले होता तो आशाधर को न तो आम्नाय विच्छेद की चिन्ता होती और न युगानुरूप प्रतिष्ठा ग्रन्थ ही बनाने की आवश्यकता पडती। इससे यही सिद्ध होता है कि यह प्रतिष्ठासार सग्रह आशाधर के बाद की कृति है और उसके कर्ता वसुनन्दि ने आशाधर का अनुसरण किया है।

(२)

आशाधर ने अपने बनाये और २ ग्रन्थो मे तो क्या खास इसी विषय के प्रतिष्ठासारोद्धार तक मे भी कही वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार सग्रह का एक आध भी पद्य उक्तच रूप से उद्धृत नही किया है। यह कभी नही हो सकता कि प्रतिष्ठासार सग्रह आशाधर के वक्त मौजूद होता और वे उसका अपने कथन की प्रामाणिकता के लिये कही उल्लेख नही करते। हाँ प्रतिष्ठासारोद्धार के प्रथम अध्याय के निम्न लिखित श्लोक मे जरूर वसुनन्दि का जिक्र किया गया है—

जयाद्यष्टदलान्येके कर्णिकावलयाद्बहि ।
मन्यन्ते वसुनन्द्युक्तसूत्रज्ञैस्तदुपेक्ष्यते॥१७५॥

अर्थ—कितने एक कमल की कर्णिका के बाहर के आठ पत्तो पर जयादि देवियोकी स्थापना मानते है। मगर वसुनन्दि प्रणीत सूत्रो के ज्ञाता वैसी स्थापना को नही स्वीकार करते है। सारे प्रतिष्ठासारोद्धार भर

मे वसुनन्दिका सिर्फ यही एक उल्लेख है। इस उल्लेख मे भी जिस वसुनन्दि के लिए कहा गया हे, वे प्रतिष्ठासार सग्रह के कर्ता वसुनन्दि नही हो सकते है। क्योकि प्रतिष्ठासार सग्रह के तीसरे परिच्छेद मे खुलासा तौर पर कर्णिका के वाहर के पत्रो पर जयादि देवियोकी स्थापना लिखी है। यथा—

चतुर्द्वार चतुष्कोण मध्ये पद्म सकर्णिकम्।
न्यसेत्पञ्च गुरूस्तत्र शरणोत्तममगलम् ॥ १४ ॥
अनादिसिद्धमन्त्रेण कर्णिकाया समर्चयेत्।
दिग्विदिग्गतपत्रेषु जयाजम्भादिदेवता ॥ १५ ॥

अर्थ—चार द्वार वाला एक चौकोर मण्डल वनावे जिसके वीच मे कर्णिका सहित कमल की रचना करे। कर्णिका पर पच परमेष्ठी और मगलोत्तम शरण की स्थापना करके उसे अनादि सिद्ध मन्त्र से पूजे तथा कर्णिका के वाहर के दिशा-विदिशाओ के पत्रो पर जया, जभादि देवियो की स्थापना करके पूजे।

इस कथन को देखते हुये आशाधर ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार मे जिन वसुनन्दि का उल्लेख किया हे वे वसुनन्दि प्रतिष्ठासार सग्रहके निर्माता वसुनन्दि मे कोई जुदे ही वसुनन्दि जान पडते है और सम्भवत वे श्रावकाचार के कर्त्ता ही मालूम होते है। क्योकि वसुनन्दि श्रावकाचार मे आठ दल वाले कमल की रचना वताते हुये कर्णिका मे अरिहन्त को, व दिशाओ के चार पत्तो वर शेष चार परमेष्ठियोको व विदिशाओ के चार पत्तो पर रत्नत्रय और तपको स्थापन करना लिखा हे। देखो गाथा ४६७ और ४६८

(३)

प्रतिष्ठासार सग्रह मे प्रतिष्ठासारोद्धार के कई पद्य ज्योके त्यो पाये जाते है। इससे तो प्रतिष्ठासार सग्रह सहज ही आशाधर के वाद का वना सिद्ध

हो जाता है। पाठको की जानकारी के लिए दोनो ग्रन्थो के कुछ समान पद्यो की तालिका हम यहाँ दे देना उचित समझते है—

प्रतिष्ठ सारोद्धार	प्रतिष्ठासारसग्रह
अध्याय १ श्लो ५५ से ५८	परिच्छेद ३ श्लो ८२ से ८५
,, श्लो ६६ से ७४॥	परिच्छेद ५ श्लो २ से १०
,, श्लो ४२ से ४८	,, ६ श्लो १३७ से १४३
अध्याय ५ श्लो ३८ से ४२	,, श्लो १२९ से १३४
,, श्लो ५० से ५३	,, श्लो १४४ से १४७
,, श्लो ६१ वाँ	,, श्लो १४८ वाँ

इनके अलावा यत्र तत्र कुछ खण्ड पद्य भी समानरूप से मिलते हे। कुछ पद्य शव्दो की उलट-पलट करके व बदल करके वनाये हुये भी दृष्टि-गोचर होते हे। अगर प्रतिष्ठासार सग्रह आशाधर के पहिले का होता तो आशाधर के रचे पद्य प्रतिष्ठासार सग्रह मे कैमे स्थान पा सकते थे ? यो कहना कि "आशाधर ने ही प्रतिष्ठासार सग्रह से ये उद्‌वृत किये है।" दिलमे वैठता नही है। आशाधर जैसे महा विद्वान् दूसरे की कृति को अपनी वनाकर प्रकट करे यह सम्भव नही है। वे प्रतिष्ठासार सग्रह के श्लोको को लेते तो उक्त च लिख करके ही ले सकते थे ऐसा कोई भी उनकी अन्य रचनाशैली को देखने वाला नि सकोच कह सकता है।

वस ये ही तीन हेतु ऐसे हे जिनसे प्रतिष्ठासार सग्रह के कर्ता वसुनन्दि, श्रावकाचार के कर्ता वसुनन्दि से भिन्न और आशाधर के वाद मे हुए सिद्ध होते है।

मै यहाँ यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि—"जयसेन प्रतिष्ठा-पाठ" को छोडकर वाकी सभी प्रतिष्ठापाठ मुद्रित या अमुद्रित जितने भी दि० जैन समाज मे वर्तमान मे उपलव्ध हुये हे उन सवकी रचना प्राय आशाधर कृत प्रतिष्ठा पाठको आधार मानकर की गयी है। और पं०

आशाधरजी ने अपना प्रतिष्ठापाठ अपने जमाने के माफिक लिखा है ऐसा वे खुद प्रशस्ति में प्रकट करते हैं। ऐसी अवस्था में विद्वानों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे इस बात की खोज करें कि--आशाधर के पहिले प्रतिष्ठा विधि की रूपरेखा कैसी रही है? इसके लिए किसी ऐसे प्रतिष्ठा-पाठ का पता लगाना चाहिये जो आशाधर के पहिले का हो।



प्रतिष्ठाशास्त्र और शासनदेव

हमे अब तक के अन्वेपण से पता लगा है कि दिगम्वर सम्प्रदाय मे जिन्होने प्रतिष्ठाशास्त्रो का निर्माण किया है उनके नाम ये है—आशाधर, हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, अर्यपार्य, वामदेव, व्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र ओर अकलक। एकसन्धि और पूजासार के कर्ता तथा सोमसेन आदिको के वनाये त्रिवर्णाचार व सहितागन्थो मे भी प्रतिष्ठासम्वन्धी कुछ प्रकरण पाये जाते है। इन सब मे प० आशाधरजी ही सवसे प्रथम हुए है अन्य सव उनके वाद के है। (वसुनन्दिकृत सस्कृत प्रतिष्ठासारसग्रह के विपय मे धारणा थी कि यह आशाधर के पहिले का ग्रन्थ हे। यह धारणा गलत है। इस सम्वन्ध मे हमारा एक लेख "वसुनन्दि और उनका प्रतिष्ठासार-सग्रह" शीर्पक से इसी ग्रन्थ मे देखिये जिसमे इसे आशाधर के वाद का सिद्ध किया गया है।)

इन सव प्रतिष्ठाशास्त्रो मे से सिर्फ आशाधरकृत और नेमिचन्द्रकृत दो प्रतिष्ठाशास्त्र ही मुद्रित हुए है। अन्य सव हाल भण्डारो की शोभा वढा रहे ह। (जयसेनकृत प्रतिष्ठाशास्त्र जिसे वसुविन्दुप्रतिष्ठापाठ भी कहते है यह भी मुद्रित हो चुका है किन्तु इसे कुछ लोग आधुनिक और अप्रमाण मानते है, चूँकि इसके कई विपय ऊपर-लिखित सभी प्रतिष्ठापाठो से मेल नही खाते है इसलिए हमने भी इसे प्रस्तुत चर्चा से अलग कर दिया है।) आशाधरप्रतिष्ठाशास्त्र की रचना वि० स० १२८५ मे और नेमिचन्द्र प्रतिष्ठाशास्त्र की १६वीं शताव्दी मे हुई है। ये नेमिचन्द्र व्रह्मसूरि के भानजे लगते थे और विद्वान् श्रावक थे। इन्होने अपने प्रतिष्ठाशास्त्र का वहुत सा विपय आशाधर के प्रतिष्ठाशास्त्र के आधार पर लिखा है यह वात दोनो के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही प्रकट हो जाती है। अन्य

प्रतिष्ठाशास्त्रो की जानकारी उनके प्रकाशित न होने से हमे न हो सकी है। तथापि हमारा अनुमान है कि उनमे भी वहुत करके आशाधरका ही अनुसरण किया गया होगा। हस्तलिखित वसुनन्दिकृत प्रतिष्ठासार-सग्रह हमारे देखने मे आया है, उसमे वहुत कुछ आशाधर का अनुसरण ही नही किया है किन्तु कितने ही पद्य आशाधर के ज्यो के त्यो भी अपना लिये है। अब सवाल उठता है कि ये सब प्रतिष्ठाशास्त्र यदि आशाधर के वाद के है तो आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र किस आधार पर रचा है? उनके पहिले का भी कोई प्रतिष्ठाग्रन्थ होना चाहिए। इस विषय मे जहाँ तक हमने खोज की है हम यह कह सकते है कि—१२वी सदी मे होने वाले एक दूसरे वसुनन्दि जिन्होने कि प्राकृत मे 'उपासका-ध्ययन' ग्रन्थ रचा है जिसका प्रचलित नाम 'वसुनन्दिश्रावकाचार' है। इस श्रावकाचार मे प्रतिष्ठाविषयक एक प्रकरण है। इसमे करीब ६० गाथाओ में कारापक, इन्द्र, प्रतिमा, प्रतिष्ठाविधि और प्रतिष्ठाफल इन पाँच अधिकारो से प्रतिष्ठा सम्बन्धी वर्णन किया है। आकरशुद्धि, गुणा-रोपण, मन्त्रन्यास, तिलकदान, मुखवस्त्र और नेत्रोन्मीलन आदि कई मुख्य मुख्य विषयो पर इसमे विवेचना की है। इसी को आधार वनाकर और शासनदेवोपासना आदि कुछ नई वाते मिलाकर प० आशाधर जी ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र वनाया है। सागारधर्मामृत मे भी आशाधर जी ने वसु-नन्दिश्रावकाचार का वहुत कुछ उपयोग किया है। कुछ लोग समझते है कि—सस्कृतप्रतिष्ठासारसग्रह के कर्ता भी ये ही वसुनन्दि है; ऐसा समझना भूल है। इन्होने अगर सस्कृत का प्रतिष्ठाग्रन्थ जुदा ही वनाया होता तो ये फिर यहाँ साठ गाथाओ मे प्रतिष्ठा का दुवारा कथन क्यो करते?

वसुनन्दिश्रावकाचार मे आये प्रतिष्ठाविधि प्रकरण की एक खास विशेषता हमारी नजर मे यह आई है कि इसमे किसी शासनदेव-देवी की उपासना का कही भी जिक्र नही है। यहाँ तक कि इसमे दिग्पाल

आदिको के नाम तक नही है। वसुनन्दि की इस प्रणाली का स्वय आशाधर ने भी उल्लेख किया है। यथा—

जयाद्यष्टदलान्येके कर्णिकावलयाद्वहि ।
मन्यन्ते वसुनद्युक्त सूत्रज्ञैस्तदुपेक्षते ॥१७५॥

(प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय १)

अर्थ—कमल की कर्णिका के वाहर के आठ पत्तो पर जयादिदेवियो की जो कितने एक स्थापना मानते है। उसको वसुनन्दिप्रणीतसूत्र के ज्ञाताजन उपेक्षा करते है।

आगे हम पाठको का ध्यान वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रतिष्ठाविधि प्रकरण की निम्नगाथा पर ले जाते है—

आहरण वासियहि
सुभूसियगो सग सवुद्धीए ।
सक्कोहमिइ वियप्पिय
विसेज्ज जागावणि इदो ॥४०४॥

(इसमे लिखा है कि—आभरण व सुगन्धि से भूषित हो, अपने आप को अपनी वुद्धि मे 'मै इन्द्र हूँ' ऐसा सकल्प करके वह इन्द्र यज्ञभूमि मे प्रवेश करे।)

इसी के अनुसार आशाधर ने भी अपने प्रतिष्ठाग्रन्थ मे इन्द्रप्रतिष्ठाविधि का वर्णन करते हुए मुख्य पूजक मे सौधर्मेन्द्र की स्थापना करना लिखा है। वसुनन्दि और आशाधर दोनो का कथन समान होते भी हमे आशाधर का कथन वेतुका जँचता है। वह इस तरह कि जव जिनयज्ञ के मुख्य पूजक को सौधर्मेन्द्र मान लिया गया तो वह यागमडल मे अपने से निम्न श्रेणी के देवो की स्थापना कर और ३२ इन्द्रो मे अपनी खुद की भी स्थापना करके उनकी पूजा कैसे कर सकता है? इसलिए आशाधर का यागमंडल की रचना मे पचपरमेष्ठी के अलावा दूसरे कई देव-देवियो

को स्थापना कर उनकी पूजा सौधर्मेन्द्र से कराना असङ्गत-सा प्रतीत होता है और इन्द्रप्रतिष्ठा का विधान निरर्थक-सा होकर एक तरह का मखौल-सा हो जाता है। जबकि वसुनन्दि के कथन मे ऐसी कोई आपत्ति ही खडी नही होती है। चूँकि उन्होने प्रतिष्ठाविधि मे कही शासनदेव पूजा को स्थान ही नही दिया है।

भगवान् के पूजक को इन्द्र का स्थानापन्न वताया जाना ही यह सिद्ध करता है कि पूज्य का स्थान इन्द्र से भी ऊँचा होना चाहिए। और वे अर्हतादि ही हो सकते है। न कि व्यन्तरादि शासनदेव, जो इन्द्र से भी निम्नश्रेण के है।

प० आशाधरजी के वनाये ग्रन्थो का वारीकी से अध्ययन करनेवालो को पता लगेगा कि उनके खासकर श्रावकाचार साहित्य पर श्वेताम्वर साहित्य का प्रभाव पडा नजर आता है। इसके लिए हम पाठको को श्वेताम्वराचार्य श्री हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र स्वोपज्ञटीका को सागारधर्मामृत के सामने रखकर देखने का अनुरोध करते हे। तव उन्हे पता लगेगा कि सागारधर्मामृत के कई एक स्थानो पर योगशास्त्र की साफ तौर पर छाया पडी हुई है। लेख विस्तार के भय से यहाँ हम उनके उद्धरण पेश करना नही चाहते हे। इसी तरह आशाधर ने जो अपने प्रतिष्ठाग्रन्थ मे कई देव-देवियो की भरमार की है और उनका विचित्र स्वरूप चित्रण किया हे वह सव भी सम्भवत उधार लिया गया प्रतीत होता हे। ये देवी-देव प्राय श्वेताम्वर पूजा-पाठो मे भी उसी तरह पाये जाते है जैसे कि आशाधर ने लिखे है। आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र नयी पद्धति से रचा है ऐसा वे खुद उसकी प्रशस्ति मे लिखते है 'ग्रन्थ कृतस्तेन युगानुरूप' अर्थात् उन आशाधर ने यह प्रतिष्ठाग्रन्थ वर्तमानयुग के अनुरूप वनाया है।

पुरानी कथनी के साथ भिन्न आम्नायकी नयी वातो का मिश्रण करने से आशाधर के वनाये प्रतिष्ठाशास्त्र मे ही नही सागारधर्मामृत मे भी कई एक स्थलो का कथन वेढगा हो गया है जिसका जिक्र प० हीरालालजी

शास्त्री ने भी वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रस्तावना मे किया है। उन्ही के शब्दो मे पढिये—

'सागारधर्मामृत के तीसरे अध्याय मे प्रथमप्रतिमा का वर्णन करते हुए आशाधरजी उसमे जुआ आदि सप्तव्यसनो का परित्याग आवश्यक बतलाते है और व्यसनत्यागी के लिए उनके अतीचारो के परित्याग का भी उपदेश देते है, जिसमे वे एक ओर तो वेश्याव्यसनत्यागी को गीत, नृत्य-वादित्रादि के देखने-सुनने और वेश्या के यहाँ जाने-आने या सम्भाषण करने तक का प्रतिबन्ध लगाते है। तब दूसरी ओर वे ही इससे आगे चलकर चौथे अध्याय मे दूसरी प्रतिमा का वर्णन करते समय ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचारो की व्याख्या मे भाडा देकर नियतकाल के लिये वेश्या को भी स्वकलत्र बनाकर उसे सेवन करने तक को अतीचार बताकर प्रकारान्तर से उसके सेवन की छूट दे देते हे। ये और इसी प्रकार के अन्य कुछ कथन प० आशाधरजी द्वारा किये गये है, वे आज भी विद्वानो के लिए रहस्य बने हुए है और इन्ही कारणो से कितने ही लोग उनके ग्रन्थो के पठन-पाठन का विरोध करते रहे है।'

जो लोग बडे दर्प के साथ यह कहते है कि ऐसा कोई भी प्रतिष्ठाशास्त्र नही है जिसमे शासनदेव पूजा न लिखी हो। उन्हें अब मालूम होना चाहिए कि वसुनन्दि का प्रतिष्ठाप्रकरण जो उपलब्ध प्रतिष्ठा साहित्य मे सबसे पहिले का है उसमे कतई शासनदेवो का कोई उल्लेख ही नही है। जिन प्रतिष्ठाशास्त्रो के ये लोग प्रमाण देते हे वे तो सब आशाधर के बाद के बने हुए है और उनके कर्ताओ ने प्राय आशाधर का ही अनुसरण किया है। और आशाधर ने अपना प्रतिष्ठाशास्त्र नयी शैली से लिखा है जैसा कि ऊपर हम बता आये है। अर्थात् वसुनन्दि के प्रतिष्ठा सम्बन्धी मुख्य विधि-विधानो को लेकर और उनके साथ विचित्र रूपधारी देव-देवियो की पूजा रचकर आडम्बर पूर्ण प्रतिष्ठाग्रन्थ आशाधर ने रचा है। इस रचना को आशाधर ने युगानुरूप रचना बतायी है। इससे साफ

प्रकट होता है कि शासनदेवपूजा की रीति प्रतिष्ठाविधि मे प्रधानतया आशाधर की चलाई हुई है और इसलिये यह रीति इनके पूर्व होनेवाले वसुनन्दि के प्रतिष्ठाप्रकरण मे नही पायी जाती है । [अत वेखटके कहा जा सकता है कि आशाधर के पहिले का ऐसा कोई प्रतिष्ठाशास्त्र हो तो वताया जावे जिसमें शासनदेव पूजा लिखी हो ।]



जिनप्रतिमा का माप

यशस्तिलक उत्तरार्द्ध पृष्ठ ११२ पर एक उद्धृत श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

भववीजाकुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेता ।
ते देवा दशताला शेपा देवा भवन्ति नवताला ॥

(इसमे जिनदेव की मूर्ति को दशताल की और अन्यदेव की मूर्ति को नवताल की होना वताया है । त्रिलोकसार मे जहाँ कि अकृत्रिम प्रतिमाओ का वर्णन किया गया है वहाँ भी "दसतालमाण लक्खण भरिया " इस गाथा न० ६८६ मे प्रतिमा का प्रमाण दस ताल का लिखा है । (इन दो उल्लेखो के सिवा अन्य कोई इस विपय का प्राचीन जैन ग्रथ हमे देखने को नही मिला जिसमे प्रतिमा के माप का विस्तृत कथन हो ।) यह विपय प्रतिष्ठापाठो मे होना चाहिए था । (कुछ प्रतिष्ठा का विपय वसुनदि श्रावकाचार मे पाया जाता है और वही उपलव्ध प्रतिष्ठाग्रथो मे सवसे पहिले का है किन्तु इसमे भी प्रतिमा के माप के विपय मे कुछ नही लिखा गया है । प० आशाधर जी ने इसी को पल्लवित करके अपना प्रतिष्ठापाठ रचा है ।) अन्य जो भी प्रतिष्ठाग्रथ मिलते है वे सव आशाधर जी के वाद के है और प्राय इन्ही का उसमे अनुसरण भी किया गया है । प० आशाधरजी ने भी अपने प्रतिष्ठाग्रथ मे कही पर भी प्रतिमा के मापचोप के विपय मे कुछ नही लिखा है । सिर्फ हिदायत के तौर पर निम्नलिखित एक पद्य लिख कर ही विराम ले लिया है—

जैन चैत्यालय चैत्यमुत निर्मापयन् शुभम् ।
वाञ्छन् स्वस्य नृपादेश्च वास्तुशास्त्र न लड्घयेत् ॥

अर्थ—जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा वनाने वाला यदि अपना और

राजादि का हित चाहता है तो उसे चाहिए कि वह इस विषय मे वास्तु-शास्त्र के नियमो का उल्लघन न करे।

(जेन ग्रथ-भडारो में एक वसुनदिकृत प्रतिष्ठाग्रन्थ हस्तलिखित मिलता है। ये वसुनदि आशाधर के बाद के हैं ऐसा हम "वसुनदि और उनका प्रतिष्ठासार सग्रह" नाम के लेख मे बता चुके है। इस प्रतिष्ठागथ मे एक अध्याय ऐसा मिलता है जिसमे जिनप्रतिमा के अगोपागो के माप का विस्तृत कथन किया गया है। वहाँ लिखा है कि—

श्रीवत्सभूपितोरस्क जानुप्राप्तकराग्रजम्।
निजागुलप्रमाणेन साष्टागुलशतायतम् ॥१॥
ताल मुख वितस्ति स्यादेकार्थ द्वादशागुलम्।
तेन मानेन तद्विम्ब नवधा प्रविकल्पयेत् ॥२॥
तालमात्र मुख तत्र ग्रीवाधश्चतुरगुल।
कठतो हृदय यावदतर द्वादशागुलम् ॥३॥
तालमात्र ततो नाभिर्नाभिमेढ्रातर मुखम्।
मेढ्रजान्वतर तज्ज्ञैर्हस्तमात्रं प्रकीर्तितम् ॥४॥
वेदागुलं भवेज्जानु जानुगुल्फातर कर।
वेदागुल समास्यात गुल्फपादतलातरम् ॥५॥

अर्थ—जिसका उरस्थल श्रीवत्स से भूषित हो और गोडेतक हाथ के नख पहुँच रहे हो ऐसा जिनबिंब अपने अगुलप्रमाण से १०८ अगुल का लम्बा बनाना चाहिये।)

(ताल, मुख, वितस्ति, और द्वादशागुल ये सब शब्द एक ही अर्थ को कहनेवाले हैं। इस मान से जिनप्रतिमा नवस्थानो मे इस प्रकार बनाई जावे कि १०८ अगुल मे १२ अगुल का मुख हो, ४ अगुल की गीवा हो, ग्रीवा से हृदय तक का अन्तर १२ अगुल का रहे। हृदय से नाभि तक का अन्तर १२ अगुल का और नाभि से लिंग तक का अन्तर १२ अंगुल का रहे। लिंग से गोडा तक का अन्तर २४ अगुल (हस्तमात्र) का

रहे, गोडा ४ अगुल का बनाया जावे। गोडा से गुल्फ (टिकूण्या) तक हस्त प्रमाण अन्तर रखे और गुल्फ से पगथली तक ४ अगुल का अन्तर रहे। ऐसे ९ स्थान १०८ भागो मे बनाये जावें। यहाँ सिर्फ प्रतिमा की ऊँचाई के माप का कथन किया है। मालूम रहे कि प्रतिमा का, अपना एक अगुलमाप ही एक भाग कहलाता है)

इसमे वसुनदि ने प्रतिमा की ऊँचाई का माप १०८ अगुल का लिखा है और साथ ही १२ अगुल के माप की ताल सज्ञा लिखी है। इससे तो जिनप्रतिमा ९ ताल की ऊँची बनाई जाना सिद्ध होता है। और 'नवधा' शव्द देकर स्पष्टतया ९ ताल की जिन प्रतिमा बताई है। वसुनदि का यह कथन ऊपर लिखे यशस्तिलक और त्रिलोकसार के उल्लेखो से मेल नही खाता है। यह खास ध्यान देने योग्य बात है।

(वर्तमान में जयपुर मे शिल्पी लोग जो जैन मूर्तियाँ बनाते है उनका माप तो ओर भी विलक्षण है वह उक्त वसुनदी के मत से भी मिलता नही है। ये लोग भी वैसे ऊँचाई के १०८ भाग ही करते है किन्तु अगो के माप मे वसुनदिकथित माप से फर्क रहता है। ये लोग १०८ भागो का विभाजन इस प्रकार करते है।

मस्तक के केश स्थान से ठोडी तक मुख १३॥ भाग।
ठोडी से हृदय तक का अतर १३॥ भाग।
हृदय से नाभि तक का अतर १३॥ भाग।
नाभि से लिंग तक का अतर १३॥ भाग।
लिंग से जानु तक का अंतर २७ भाग।
जानु से पादतल तक का अतर २७ भाग।
१०८ कुल भाग

वसुनदि १०८ भागो मे १२ भाग का मुख बनाना बताते है, ये लोग भाग का मुख बनाते है। वसुनदि ने ठोडी से हृदय तक का अतर १६ भाग का लिखा है ये लोग १३॥ भाग का अंतर रखते है इसी तरह

अन्य अगो मे भी फर्क रहता है। हमने इन शिलियो से पूछा कि आप लोग इस प्रकार के माप की जो जैन मूर्तियाँ बनाते हो इसका कोई शास्त्र प्रमाण भी आपके पास है क्या तो कुछ नही बता सके। कहने लगे परपरा से जैसी बनती आ रही है वैसी ही बनाते है।

पता नही प्रतिष्ठाचार्य पडित लोग इस प्रकार के माप की बनी मूर्तियो को आये साल पास करके उनकी प्रतिष्ठाविधि कैसे करते आ रहे है? सभव है इन पडितो के पास ही इस प्रकार के माप की बनी मूर्तियो का समर्थक कोई आगम प्रमाण हो। यदि ऐसा है तो उन्हे उस आगम-प्रमाण को प्रकट करना चाहिये ताकि कोई भ्राति न रहे।

हमारी समाज मे करीब एक दर्जन प्रतिष्ठाचार्य होगे उनसे निवेदन है कि उनमे से क्या कोई इस विषय मे प्रकाश डालने की कृपा करेगा?



दश दिग्पाल

जैनधर्म मे जहाँ एक ओर उच्चकोटि का साहित्य है। जिसमें अहिसा, कर्मसिद्धान्त, स्याद्वाद, अध्यात्म, द्रव्यचर्चा आदि का ऐसा सुन्दर विवेचन है जो साहित्य ससार मे वेजोड कहा जा सकता है तो दूसरी ओर जैन के नाम से ऐसा भी साहित्य पाया जाता है जिसे क्रियाकाण्डी साहित्य कहना चाहिए। सहिताशास्त्र, त्रिवर्णाचार, पूजा-प्रतिष्ठा आदि ग्रन्थ इसी कोटि का साहित्य है। इस साहित्य का विस्तार १३वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे होनेवाले पण्डित आशाधरजी से शुरू होता है। और फिर इनकी देखा-देखी १४वी शताब्दी मे इस विपय का विपुल साहित्य रच दिया गया है। हस्तिमल्ल, इन्द्रनन्दि, वसुनन्दि, एकसन्धि, अर्यपार्य आदि न मालूम कितने ग्रन्थकार हुए है जिन्होने इसी १४वी शताब्दी मे अधिकतर इसी विपय पर ग्रन्थ रचे है। यह सिलसिला आगे पन्द्रहवी आदि शताब्दियो मे भी वामदेव, ब्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र, अकलक, सोमसेन आदिको के द्वारा बरावर चलता रहा है।

इन क्रियाकाण्डी ग्रन्थो मे लौकिक प्रभाव मे आकर या किसी परिस्थितिवश कुछ बातें ऐसी भी पाई जाती है जिनकी सगति जैनधर्म के मौलिक ग्रन्थो से नही वैठती है। उन पर गम्भीर विचार करने से वे साफ तौर पर जैनेतर साहित्य से नकल की गई प्रतीत होती है उदाहरण के तौर पर हम दश दिग्पालो को लेते है। क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे दिग्पालो का जैसा कथन किया गया है वह जैनधर्म के मौलिकशास्त्र करणानुयोग से कहाँ तक मेल खाता है उसी पर यहाँ विचार किया जाता है।

इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत्य, वरुण, मरुत्, कुवेर, ईश, ब्रह्म और

नाग ये पूर्वादि दश दिशाओ के दश दिग्पाल अन्य मत मे माने जाते है। हमारे यहाँ शुरू के आठ नाम तो ज्यो के त्यो वे ही है। अन्त के दो नाम ब्रह्म और नाग जो ऊर्ध्व और अधोदिशा के दिग्पाल है उनमे फर्क रखा गया है। फर्क रखने का भी कारण यह हो सकता है कि— अन्य मत मे यह पृथ्वी शेषनाग पर स्थित मानी जाती है और ब्रह्मदेव का स्थान ऊपर को माना गया है इसलिए उनकी मान्यतानुसार शेषनाग को अधोदिशा का दिग्पाल और ब्रह्म को ऊर्ध्वदिशा का दिग्पाल करार देना सगत है। परन्तु जैन मत के अनुसार यह चीज बनती नही है। इसलिए इन दो दिग्पालो मे परिवर्तन किया गया। इसमे भी अधोदिशा का दिग्पाल जो नाग है सो नाम तो हमारे यहाँ यही रहने दिया इसके अर्थ मे अन्तर करके नाग का अर्थ हमारे यहाँ धरणेन्द्र कर लिया गया है। धरणेन्द्र का स्थान हमारे यहाँ नीचे को माना ही है। इसलिए इसे अधोदिशा का दिग्पाल करार दे दिया गया।

यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र की व्याख्या राजवार्तिक के अनुसार भवनवासियो मे असुरकुमारो का स्थान नागकुमारो से भी नीचे की दिशा मे माना है। तदनुसार अधोदिशा का दिग्पाल कोई असुरकुमारो मे से माना चाहिए था, वह इसलिए नही माना गया कि उनका सम्बन्ध नाग शब्द से बैठता नही है इसलिए अन्य मत के नाग शब्द से सम्बन्ध बैठाने को धरणेन्द्र नागकुमार को उपयुक्त समझा गया है।

अब रहा ऊर्ध्व दिशा का दिग्पाल ब्रह्म, इसकी सगति जैन मान्यतानुसार किसी तरह नही बैठती देखकर इसकी जगह सोम नाम के दिग्पाल की कल्पना की गई है। सोम नाम चन्द्रमा का है, चन्द्रमा ऊपर को रहता ही है। बस ऊर्ध्व दिशा का दिग्पाल सोम थाप दिया गया है। यद्यपि ब्रह्म का अर्थ सिद्धपरमेष्ठी करके और सिद्धो का स्थान भी ऊपर को है ही इस ही इस तरह ब्रह्म नाम भी ज्यो का त्यो अपनाया जा सकता था किन्तु इसमे बाधा यह आती थी कि अन्य ९ दिग्पाल जब ससारी प्राणी है तो

उनकी श्रेणी मे मुक्तजीव को कैसे बैठाया जावे ? अन्यमत मे जो रुद्र, यम, इन्द्र, कुबेर आदिको की गिनती उच्चकोटि के देवो मे है अत: उनके शामिल ब्रह्म नाम के दिग्पाल का रहना उचित कहा जा सकता है। इन दो नामो की रद्दाबदली की झझट देखकर क्रियाकाडी जैनग्रन्थो मे इसीलिये कही-कही दश की जगह आठ ही दिग्पाल लिखे मिलते हैं।

श्वेतावरमत मे दश दिग्पालो के नाम अन्यमतवाले ही रहने दिये है। किसी नाम मे फेर-फार नही किया है। ब्रह्म नाम का कोई सामान्य देव-विशेष मानकर इन्होने ऊर्ध्वदिशा का दिग्पाल भी ब्रह्म ही रहने दिया है। शायद इन्होने यह सोचा हो कि जब दिग्पालो मे रुद्र आदि को किसी अपेक्षा से अपना लिये है तो उसी तरह ब्रह्म को भी क्यो न ले लिया जाये ? क्यो उसको जगह अन्य नाम की कल्पना की जावे ?

जैनधर्म के करणानुयोगी ग्रन्थो मे कही भी दिग्पालो के उक्त दश नाम लिखे नही मिलते है। हमारा करणानुयोगी साहित्य जो अतिप्राचीन माना जाता है जिनमे कई जाति के देवो के भेद-प्रभेद उनके विभव परिवारादि का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। अगर ये दिग्पाल दरअसल मे ही कोई जैन सम्मत देव होते तो यह कभी नही हो सकता कि इनका उल्लेख उसमे हुए विना रह जाता।

फिर न मालूम वाद के वने क्रियाकाडी ग्रन्थो मे ये कहाँ से आ घुसे ? इनका आधार क्या है ? यह एक खास विचार करने की चीज है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि करणानुयोगी ग्रन्थो के देखने से पता चलता है कि देवो की दश जाति मे एक लोकपाल जाति के देव भी होते है जिनका नियोग पूर्वादि चारो दिशाओ मे रहकर कोटपाल की तरह अपने स्वामी इन्द्र की प्रजा की रक्षा करने का है। सोम, यम, वरुण और कुबेर ये इनके नाम है और ये पूर्वादि चारो दिशाओ के क्रम से चार लोकपाल माने जाते है। इन्ही ग्रन्थो मे इनको कही-कही दिग्पाल व दिगीन्द्र

भी कहा गया है। (देखो तिलोयपण्णत्ति अधिकार ३, गाथा ६६, व अधिकार ८, गाथा ५१३) ।)

वस्तुत जैनधर्म मे ये चार ही दिग्पाल माने गये है। ऊपर लिखे दश दिग्पाल जैन आम्नाय के नही है। यद्यपि दश नामो मे चार नाम वे ही है जो ऊपर करणानुयोगी ग्रन्थो मे बता आये है तथापि इन चारो का क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे जिस ढग से कथन किया गया है वह करणानुयोग मे कथित दिग्पालो को लक्ष्य मे रखकर नही किया गया है। बल्कि उनका वर्णन अन्यमत के अनुसार किया गया है। नीचे के विवेचन से पाठक देखेगे कि इन दश दिग्पालो का सम्बन्ध जैन परम्परा से न होकर विशेषतया अन्यमत से ही इनका सम्पर्क सिद्ध होता है—

१—दश दिग्पालो मे पूर्वदिशा का दिग्पाल इन्द्र माना गया है। जबकि करणानुयोगी जैनशास्त्रो मे पूर्व दिशा का दिग्पाल 'सोम' माना गया है। रविषेण के पद्मपुराण मे नकली इन्द्र की कथा में जो इन्द्र ने चार बनावटी लोकपालो की स्थापना की है उनमे भी पूर्व दिशा का लोकपाल सोम ही स्थापन किया है।

२—जैनागम के अनुसार चतुर्देवनिकायो मे ३२ इन्द्र होते है उनमे से पूर्वदिशा का 'इन्द्र' दिग्पाल किस देवनिकाय का इन्द्र है ? ऐसा कुछ भी उल्लेख क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे नही पाया जाता है। क्योकि यह जैनो की चीज ही नही तब इसका विवरण कैसे पाया जावे। अन्य मत मे इन्द्र के ऐरावत नाम का हाथी और शची नाम की इन्द्राणी लिखी है सोही इन्होंने लिख दिया है। अन्यमतो मे देवो का इन्द्र एक ही होता है वही पूर्वदिशा का दिग्पाल है इस तरह यह कथन उनके यहाँ तो सुसगत बन जाता है। हमारे यहाँ उसकी संगति नही बैठती है। कोई कहे कि जैनो के यहाँ भी सौधर्मेन्द्र के हाथी का नाम ऐरावत और इन्द्राणी का नाम शची लिखा है अत पूर्वदिशा का दिग्पाल सौधर्मेन्द्र को ही क्यो न मान लिया जावे ? तो उत्तर यह है कि इस सौधर्मेन्द्र से पूर्वदिशा का क्या सम्बन्ध जो इसे

पूर्वदिशा का दिग्पाल माना जाये। अलावा इसके प० आशाधरजी जिन्होंने कि दशदिग्पालो का विशेष विवरण लिखा है वे अपने बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार के दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोक मे लिखते है कि—'पूजक अपने को सौधर्मेन्द्र मानकर यागमण्डल की पूजा करे।' यागमण्डल मे इन्होंने ही दशदिग्पालो की स्थापना कर पूजा लिखी है। ऐसी हालत मे यानी सौधर्मेन्द्र को ही पूर्वदिशा का दिग्पाल माने जाने मे अडचन यह उपस्थित होती है कि खुद इन्द्र अपनी ही स्थापना कर अपनी पूजा कैसे करे।

३—क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे ऊर्ध्वदिशा के लोकपाल चन्द्रमा की देवी का नाम रोहिणी और कुबेर का वाहन पुष्पक विमान वताया है। ऐसा ही अन्यमत मे वताया है। वाल्मीकी रामायण उत्तरकाण्ड सर्ग १६ मे लिखा है कि—'रावण ने युद्ध मे कुवेर को पराजय कर उसका पुष्पक विमान अपने हस्तगत कर लिया था।"

करणानुयोगी जैनशास्त्रो मे तो न तो चन्द्रमा के कोई रोहिणी नाम की देवी लिखी है और न कुबेर के पुष्पक विमान ही। और भी दिग्पालो का जैसा स्वरूप इन क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे लिखा मिलता है वैसा किसी भी करणानुयोग मे नही पाया जाता है।

४—क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे इन दिग्पालो के अन्तर्गत 'सोम' को चन्द्रमा, 'नैऋत' को राक्षस और 'कुवेर' को यक्ष नाम से लिखा गया है। दूसरी तरफ तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थ मे स्पष्ट लिखा है कि—'त्रायस्त्रिशल्लोक-पालवर्ज्या व्यतरज्योतिष्का' व्यतर, ज्योतिष्कदेवो मे त्रायस्त्रिशत् और लोकपाल जाति के देव नही होते है। ऐसी अवस्था मे यक्ष, राक्षस जो व्यतरदेवो के भेद है और चन्द्रमा की गणना ज्योतिष्कदेवो मे है। इन व्यतरज्योतिष्को मे ये दिग्पाल कैसे हो सकते है ? यह तो साफ ही जैनसिद्धान्तविरुद्ध कथन दिख रहा है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे जैसा कि ऊपर हम बता आये है कि लोकपालो को ही दिग्पाल कहा गया है। और अभिषेकपाठ आदि क्रियाकाडी जैनगन्थो

मे मी कही-कही इन दिग्पालो को लोकपाल नाम से लिखा। है (देखो अभिषेककपाठसग्रह पृष्ठ ५ और ३६०) इसलिये ग्रन्थकारो का अभिप्राय दोनो को एक ही मानने का प्रतीत होता है। यानी दिग्पाल और लोकपाल ये दोनो शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है।

५—आचार्य गुणभद्रस्वामी ने उत्तरपुराण मे भगवान चन्द्रप्रभ के चरित्र मे श्लोक १०२ से ११० मे इन दिग्पालो को दिग्मडल की रक्षा करने मे असमर्थ बताते हुए इनको जिन भर्त्सनाभरे शब्दो से याद किया है उन्हे देखते हुए यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि मे इन दिग्पालो का वह गौरव नही था जो बाद के बने क्रियाकाडी जैनसाहित्य मे दिखाया गया है। बल्कि वे इनको मान्यता को थोथी लौकिक मान्यता के सिवा और विशेष कुछ नही समझते थे।

इन दशदिग्पालो का उल्लेख हमे ११वी शताब्दी मे होनेवाले सोमदेव के यशस्तिलक मे भी मिलता है। वहाँ इनके नाममात्र दिये है और इन्हे विघ्नशाति के लिए बुलाये है।

सोमदेव के बाद १३वी शताब्दी मे प० आशाधरजी ने इन दिग्पालो के वे ही दशनाम देते हुए साथ ही इनका कुछ स्वरूप भी लिखा है जो बडा ही विचित्र है। नमूने के तौर पर ईशान दिशा के दिग्पाल का स्वरूप जो उन्होने लिखा है वह नीचे दिया जाता है—

सास्नावाचालकिकिण्यनणुरणझणत्कारमजीरसिजा-
रम्योद्यच्छृङ्गहेलाविहरदुरुशरच्चद्रशुभ्रर्षभस्थम्।
भास्वद्भूपाभुजग भुजगसितजटाकेतकार्द्धेन्दुचूल
दर्धि शूल कपाल सगणशिवमिहार्चामि पूर्वोत्तरेशम् ॥१०३॥

—नित्यमहोद्योत-अभिषेकपाठ

इनके बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार मे भी यही श्लोक है। इसका भावार्थ ऐसा है कि—'गले मे बंधे घुंघरुओ के रुण-झुण शब्द से वाचालित और नूपुरो के अव्यक्त शब्दो से रमणीय ऐसे ऊँचे सीगोवाले मोटे, सफेद बैल

पर जो बैठा है। जिसके सर्पों के आभूषण चमक रहे हैं। जिसकी जटा अर्द्धचन्द्र और चोटी में सर्प लिपटे हुए हैं। एव जो त्रिशूल और कपाल को धारण किए है और नन्दि आदि गण व पार्वती साथ मे है ऐसे ईशानदेव को मै पूजता हूँ।')

अन्यमत मे जो रूप शिवजी का लिखा है वही यहाँ लिख दिया गया है। आशाधरजी के पहले का हमे ऐसा कोई दिगबर ग्रथ नही मिला है जिसमे दिग्पालो के ऐसे विचित्र रूप का वर्णन किया गया हो। श्री वनजीठोलिया दि० जैन ग्रन्थमाला, जयपुर से प्रकाशित 'अभिषेक पाठसग्रह' पुस्तक मे भी कुछ ऐसे अभिषेकपाठ है जिसमे दिग्पालो का ऐसा ही रूप लिखा है। किंतु वे सब आशाधरजी के बाद के बने हुये है। और इस सबध मे जो कुछ आशाधरजी ने लिखा है वही ज्यो का त्यो उन्होने भी नकल कर दिया है।

उपलब्ध प्रतिष्ठापाठो मे बहुत सी देव-देवियो की भरमार की गई है उनमे से इन दिग्पालो के सिवा और भी कई ऐसे देवी-देव लिखे गये है जिनमे से कोई तो काल्पनिक है, कोई अन्यमत से उडा लिये है। तत्त्वार्थ-सूत्र आदि मान्य ग्रन्थो मे सर्वत्र श्री, ह्री, धृति, बुद्धि, और लक्ष्मी ये छह दिक्कुमारियाँ लिखी है (परन्तु प्रतिष्ठापाठो मे उक्त छहो मे शाति, पुष्टि मिलाकर आठ दिक्कुमारियें बना दी गई हैं। बढाई हुई दो देवियो का कोई शास्त्राधार नही तो क्यो न इन्हें कपोलकल्पित कहा जाये।) इत्यादि प्रतिष्ठाग्रन्थो की बहुत सी बातें है जिनकी चर्चा किसी स्वतत्र जुदा लेख मे ही की जा सकती है। लेख विस्तार के भय से यहाँ हम कुछ और अधिक नही लिखना चाहते।

आशा है स्वाध्यायशील विद्वान् इस लेख पर शान्तिपूर्वक गम्भीर विचार करेंगे (अगर कोई विचक्षण इन दिग्पालो की उपपत्ति करणानुयोगी जैनग्रन्थो से बैठा दे तो हम उसका सहर्ष स्वागत करने को तैयार है। हमारा यह दुराग्रह नही है कि—'जो कुछ हमने समझा है वही ठीक है।')



इसे भक्ति कहें या नियोग ?

तीर्थकरो के कल्याणको मे उनकी या उनके माता पिताओ की सेवा के लिए दिक्कुमारी, रुचकवासिनी, इन्द्राणी आदि देवियाँ और सौधर्मेन्द्र, कुवेर, यक्ष आदि देव उपस्थित होते है ऐसा कथन जैन शास्त्रो मे पाया जाता हे और वह इस ढंग से पाया जाता है कि—किसी भी एक तीर्थकर का जिस किस्म का सेवा कार्य जिन-जिन नाम के देव-देवियो ने किया उसी किस्म का सेवा कार्य उन्ही नाम के देवदेवियो ने सभी तीर्थंकरो का किया है। यह रीति अनादिकाल से होते आये तीर्थकरो के साथ समान-रूप से होती रही है। जैसे भगवान् ऋषभदेव की माता की सेवा श्री, ह्री, धृति आदि दिक्कुमारी देवियो ने की, इसी तरह इन्ही देवियो ने शेप तीर्थकर-माताओ की भी सेवा की है वल्कि अनादिकाल से होती आई सभी जिनमाताओ की भी सेवा इन्ही श्री, [illegible] आदि देवियो ने की हे। ऐसा आगम के पाठी मानते आ रहे है। [illegible] कुछ स्वरूप तीर्थकरो के अन्य सेवा कार्यो का भी है। जन्मकल्याणक मे सा[illegible] दिशा के [illegible]को गोदी मे वैठाना, ईशानेन्द्र का भगवान् पर छत्र लगाना, सनत्कु[illegible] माहेन्द्र का चमर ढोरना आदि अन्यान्य कार्य भी जो एक तीर्थकर के साथ हुआ वही कार्य इन्ही इद्रादि द्वारा अन्य सभी तीर्थकरो के साथ हुआ है। जैन-शास्त्रो के इस प्रकार के कथनो पर जव हम गहराई के साथ विचार करते है तो हम इस तथ्य पर पहुँचते है कि तीर्थकरो की सेवाओ मे भाग लेने-वाले इन देवो व देवियो का प्रधान कारण जिनभक्ति नही है। भगवान् की भक्ति ही कारण होती तो भगवान् की विविध सेवाओ मे से कोई सेवा कभी कोई देव करता और कभी कोई देव। सो ऐसा न वताकर सर्वदा के लिये किन्ही देव-विशेपो के लिये भगवान् की किसी खास सेवा का

प्रोग्राम निश्चितसा बंधा हुआ है। भगवान् को गोदी मे बैठाना, उन पर छत्र लगाना, चमर ढोरना ये कार्य क्या उक्त इद्रो के सिवा अन्य स्वर्गों के इन्द्र नही कर सकते है ? नही कर सकते तो क्यो नही कर सकते है। क्या इन जैसी उनमे भक्ति नही है। यदि कहो कि सौधर्मेन्द्र एकभवावतारी होता है तो एक भवावतारी तो सभी दक्षिणस्वर्गो के इद्र भी माने गये है। जैसा कि त्रिलोकसार की निम्न गाथा से प्रकट है—

सोदम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जंति ॥ ५४८ ॥

अर्थ—सौधर्मेन्द्र, उसकी शची, उसके लोकपाल व सनत्कुमारादि दक्षिणइन्द्र, लौकातिकदेव और सर्वार्थसिद्धि के देव ये सब वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्ष जाते है।

इससे हमे यही मानने को बाध्य होना पडता है कि—जो देवी-देव तीर्थंकरो के सेवाकार्य मे भाग लेते है वे भक्तिवश नही किन्तु सदा से जो सेवा का काम जिन देवी-देवो द्वारा होता आ रहा है वह कार्य आगे भी उन्ही को करना पडता है। यह ड्यूटी इनके लिये अनादि से चली आ रही है। चाहे भक्ति हो परन्तु हो और वे सम्यक्त्वी हो या नही, उस ड्यूटी का आठ दिक्कुमारि के लिये आवश्यक होता है। देवगति मे जन्म लेनेवालो का ऐसा ही नियोग है। अलबत्ता इनमे जो सम्यग्दृष्टि देव होते है वे भगवान् की सेवा का अपना नियोग बहुत कुछ भक्तिभावपूर्वक साधते है। किन्तु जिनके सम्यक्त्व नही होता वे देव तो भगवान् की सेवा की मात्र ड्यूटी अदा करते है। तीर्थकरो के सेवाकार्य के अतिरिक्त भी कई धार्मिक कार्य ऐसे है जिन्हे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव देवगति की परम्परा के माफिक समानरूप से करते है। जैसे देवगति मे कोई भी देव जन्म लेगा तो वह जन्म होते ही प्रथम जिनपूजा के लिये वहाँ के चैत्यालय मे जावेगा। अष्टाह्निकपर्व आने पर प्राय सभी देव नदीश्वरद्वीप मे पूजा करने को जायेगे। एव किसी तीर्थंकर का कही कोई कल्याणक होगा तो

उसके समारोह मे भी उन्हे शामिल होना पडेगा। इत्यादि कार्यो मे भाग लेने का देवगति मे एक रिवाज सा चला आ रहा है। इसलिए ये सब उन्हे करने पडते है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि ऐसा वे सम्यग्दृष्टि होने की वजह से करते है। अगर ऐसा ही माना जाये तो देवो मे फिर कोई मिथ्यादृष्टि देव ही होना सम्भव न हो सकेगा। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न गाथाद्वय से भी सिद्ध होती है—

> कम्मखपणणिमित्त णिब्भरभत्तीए विवहदव्वेहिं।
> सम्माइट्ठीदेवा जिणिंदपडिमाओ पूजंति ॥१६॥
> एदे कुलदेवा इय मण्णता देववोहणवलेण।
> मिच्छाइट्ठी देवा पूयन्ति जिणिंदपडिमाओ ॥१७॥
>
> —६ वा अधिकार।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि देव कर्मक्षय के निमित्त गाढ भक्ति से विविध द्रव्यो के द्वारा उन जिनप्रतिमाओ की पूजा करते है। अन्य देवो के समझाने से मिथ्यादृष्टि देव भी 'ये कुलदेवता है' ऐसा मानकर उन जिनप्रतिमाओ को पूजते है।

इसलिये जो लोग यह कहते है कि "तीर्थकरो की सेवा का नियोग जिन देव-देवियो पर है वे सब सम्यग्दृष्टि ही होते है" उनका ऐसा कहना ठीक नही है उन्हे इस सम्बन्ध मे अभी गभीर विचार करने की जरूरत है। तीर्थकरो के चरित्रो मे तीर्थकरो की व उनके माता पिताओ की देव-देवियो द्वारा जो सेवा करने का कथन किया गया है वह एकमात्र उन तीर्थकरो की महिमा प्रदर्शन के उद्देश्य से किया है न कि देव-देवियो की भक्ति प्रदर्शनार्थ। यह चीज विचारको के खास ध्यान मे रहने की है। 'भूपाल चतुर्विशति' का स्तोत्र मे लिखा है कि—

> देवेन्द्रास्तव मज्जनानि विदधुर्देवागना मगला-
> न्यापेठु शरदिंदुनिर्मलयशो गधर्वदेवा जगु।

शेषाश्चापि यथानियोगमखिला सेवा सुराश्चक्रिरे,
तत् किं देव वय विदध्म इति नश्चित्त तु दोलायते ॥२२॥

अर्थ—इन्द्रोने आपका अभिषेक किया, देवियो ने मगल पाठ पढे, गधर्वों ने आपका यशोगान किया और बाकी बचे समस्त देवो ने भी जैसा जिसका अधिकार था वैसी आपकी सेवा की। अब हमलोग आपकी कौन सी सेवा करें ? इस प्रकार हमारा मन सोच मे झूल रहा है।

इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि—भगवान् की सेवा अलग-अलग देवो के लिये अलग अलग नियत थी। वह सेवा उनको भक्ति हो या न हो अवश्य ही करनी पडती थी।



पंचोपचारी पूजा

विक्रम स० ११०४ में होनेवाले श्री मल्लिषेणसूरिने "भैरवपद्मावती कल्प" के तीसरे परिच्छेद मे ऐसा कथन किया है—

आह्वान स्थापन देव्या, सन्निधीकरण तथा ।
पूजा विसर्जन प्राहुर्बुधा, पचोपचारकम् ॥ २५ ॥
ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि संवौषट् ।
कुर्यादमुना मन्त्रेणाह्वानमनुस्मरन् देवीम् ॥ २६ ॥
तिष्ठद्वितय ठातद्वय च सयोजयेत् स्थितीकरणे ।
सन्निहिता भव शब्द मम वषडिति सन्निधीकरणे ॥ २७ ॥
गन्धादीन् गृण्ह गृण्हेति नम पूजाविधानके ।
स्वस्थान गच्छ गच्छेति जस्त्रि स्यात् तद्विसर्जने ॥ २८ ॥

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि सवौषट्" इति आह्वानम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ" इति स्थापनम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! मम सन्निहिता भव भव वषट्" इति सन्निधिकरणम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! गधादीन् गृह्ण गृह्ण नम" इति पूजाविधानम् ।

"ॐ ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! स्वस्थान गच्छ गच्छ ज ज ज" इति विसर्जनम् ।

एव पचोपचारक्रम ।

देवी का आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन जो

किये जाते हैं उन्हे पचोपचार कहते हैं इसी का दूसरा नाम पचोपचारी पूजा है, इनका मत्र पूर्वक जो विधिक्रम है वह ऊपर लिख दिया है।

ऐसा प्रतिभासित होता है कि पहिले पचोपचारी पूजा मत्र सिद्ध करने के लिये देवताराधन मे की जाती थी। अर्हंतादि की पूजा मे पंचोपचार का उपयोग नही किया जाता था। हम देखते है कि सोमदेव ने यशस्तिलक मे और पद्मनन्दिने पद्मनन्दिपचविंशति मे अर्हंतादि की पूजा मे सिर्फ अष्टद्रव्यो से पूजा तो लिखी है किन्तु आह्वान, स्थापना, सन्निधिकरण, विसर्जन नही लिखा है। यह चीज हमको प्रथम आशाधर के प्रतिष्ठापाठ और अभिषेक पाठ मे मिलती है। आशाधर ने इतना विचार जरूर रक्खा है कि अर्हतादिकी पूजा मे आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण तो लिखा है किंतु विसर्जन नही लिखा है। हाँ शासन देवो की पूजा मे उन्होने विसर्जन लिख दिया है। जैसा कि नित्यमहोद्योत के इस पद्य से प्रकट है—

प्रागाहुता देवता यज्ञभागै प्रीता भर्तु पादयोरर्घदानै।
क्रीता शेषा मस्तकैरुद्वहन्त्य प्रत्यागतु यान्त्वशेषा यथास्वम् ॥१६५॥

इसमे विसर्जित देवो के लिये "अर्हत की शेषाको मस्तको पर धारण करते हुये" जाने का उल्लेख किया है। जिससे यहाँ शासनदेवो का ही विसर्जन ज्ञात होता है न कि पचपरमेष्ठी का। एक बात आशाधर के पूजा ग्रन्थो मे यह भी देखने मे आती है कि वे शासन देवो की पूजा मे तो अर्चना द्रव्यो के अर्पण मे "जलाद्यर्चन गृहाण गृहाण" या "इदमर्घ्यं पाद्य जलाद्य यजभाग च यजामहे प्रतिगृह्यता प्रतिगृह्यताम्"

इस प्रकार के वाक्य प्रयोग करते है। ऐसे प्रयोग उन्होने अर्हतादि की पूजाओ मे नही किये है। वहाँ तो वे यो लिखते है—

"ॐ ह्री अर्हं श्री परमब्रह्मणे इद जलगन्धादि निर्वपामीति स्वाहा।"

फिर भी इतना तो कहना ही पडता हे कि अर्हतादि की पूजा विधि

मे आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण की परिपाटी चलाने मे शायद ये ही मुखिया हो। अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति मे खुद प० आशाधर लिखते है कि "मैने इसे युगानुरूप रचा है" युगानुरूप का अर्थ पूजाविधि मे इस तरह की नई रीतियाँ चलाना ही जान पड़ता है।

आशाधर के बाद इन्द्रनदि हुये जिन्होने इस विषय मे और भी आगे बढकर अर्हतादिको की पूजा विधि मे वे ही पचोपचार ग्रहण कर लिये जो मल्लिपेणने मत्राराधन मे लिखे है। इन्होने शासन देवो की ही तरह अर्हतादिको का विसर्जन भी लिख दिया है। यही नही अर्हतादि को पूजा मे द्रव्य अर्पण करते हुये "इद पुष्पाजलि प्रार्चन गृह्णीष्व गृहीष्व" तक लिख दिया है। (देखो अभिपेक पाठ सग्रह पृष्ठ ३४४) इन्ही को आधार मानकर एकसधिने भी अर्हतादिको की पूजा पचोपचार से करना बताते हुये लिखा है कि—"मैने यह वर्णन इद्रनदि के अनुसार किया है" यथा—

> एव पचोपचारोपपन्न देवार्चनाक्रमम् ।
> य सदा विदधात्येव स स्यान्मुक्तिश्रिय पति ॥
> इतीन्द्रनदिमुनीन्द्रजिनदेवार्चनाक्रम ॥
>
> —परिच्छेद ९वा "एकसन्धिजिनसहिता"

ये ही श्लोक कुछ पाठ भेद के साथ 'पूजासार' ग्रन्थ मे पाये जाते है। यथा—

> "य सदा विदधात्येना स स्यान्मुक्तिश्रिय पति ।
> इतीद्रनदियोगीन्द्रै प्रणीत देवपूजनम् ॥"

एकसन्धि का पचोपचारी पूजा के लिये इन्द्रनदि का प्रमाण पेश करना साफ बतलाता है कि उनके समय मे इस विधिका प्रतिपादक सिवाय इन्द्रनन्दिके और कोई पूजा ग्रन्थ मौजूद नही था। यहाँ तक कि इन्द्रनन्दि के साथ उन्होने आदि शब्द भी नही लगाया है यह खास तौर से ध्यान देने योग्य है।

यशोनदिकृत संस्कृत पचपरमेष्ठी पूजा मे भी आशाधरकी तरह चार ही उपचार मिलते है विसर्जन उसमे नही है। किन्तु यशोनंदिका समय अज्ञात है कि वे आशाधर के पूर्ववर्ती हे या उत्तरवर्ती ?

नित्यनियम पूजा मे पाँचो ही उपचार पाये जाते है किन्तु नित्य नियम पूजा किसी एक की कृति नही है। वह सग्रह ग्रन्थ है और उसमे कितने ही पाठ अर्वाचीन हे। उदाहरण के तोर पर "जयरिसह रिसीसर णमियपाय" यह देवकी जयमाला का पाठ कवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश यशोधरचरित्र का है। उसमें शुरू मे ही यह मगलाचरण के तौर पर लिखा हुआ है—

"वृषभोजित नामा च सभवाश्चाभिनन्दन।"

पाठ अय्यपार्य कृत अभिषेक पाठ का है जो अभिषेक पाठ सग्रह के पृष्ठ ३१६ पर छपा है। ये अय्यपार्य विक्रम स० १३७६ मे हुये हे।

"ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्त न कृत मया।"

विसर्जन का यह पहिला पद्य अशाधर प्रतिष्ठा पाठ से लिया है जो उसके पत्र १३३ पर पाया जाता है।

'आह्वान नैव जानामि' और 'मन्त्रहीन क्रियाहीन' आदि विसर्जनके दो पद्य सूरत से प्रकाशित भैरव पद्मावती कल्प के साथ मुद्रित हुये पद्मावती स्तोत्र में कुछ पाठभेद के साथ पाये जाते है वही से इसमे लिये गये है। वे पद्य इस प्रकार है—

आह्वानन न जानामि न जानामि विसर्जनम्।
पूजामर्चा न जानामि क्षमस्व परमेश्वरि॥
आज्ञाहीन क्रियाहीन मन्त्रहीन च यत्कृतम्।
तत्सर्वं क्षम्यता देवि प्रसीद परमेश्वरि॥

अलावा इसके पचोपचार मे प्रयुक्त हुये "सवौषट्" "वषट्" आदि शब्दो पर अब हम विचार करते है तो स्पष्टतया यह प्रकरण मन्त्र विषयक

द्योतित होता है। वीतराग भगवान् की पूजा जिस ध्येय को लेकर की जाती है उसमे इनका क्या काम ?

वर्तमान मे पूजा विधिका जो रूप प्रचलित है वह कितना प्राचीन है ? आशा है खोजी विद्वान् इसका अन्वेपण करेंगे इसी अभिप्राय से यह लेख लिखा गया है।

●

देवसेन का नयचक्र

करीव ३७ वर्प पहिले 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' मे "नयचक्रादि सग्रह" नामक एक पुस्तक छपी है। जिसमे ८७ गाथा का एक देवसेनकृत प्राकृत का लघुनयचक्र प्रकाशित हुआ है। कहते है कि यह नयचक्र उन्ही देवसेन का वनाया हुआ है जिन्होने विक्रम स० ६६० मे दर्शनसार ग्रन्थ संकलित किया है। किन्तु निम्नलिखित कारणो से यह मान्यता ठीक मालूम नही होती है।

१—देवसेनने अपने वनाये ग्रन्थो जैसे दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार मे अपना नाम कर्त्तापने से दिया है। उक्त नयचक्र मे कही भी उसके कर्ता का नाम नही पाया जाता है।

२—उक्त नयचक्र की गाथा न० ४७ के आगे "तदुच्यते" वाक्य से दो पद्य अन्य ग्रन्थो के उद्धृत किये गये है। उनमे से एक सस्कृत का है और दूसरा "अणुगुरुदेहपमाणो" यह प्राकृत की गाथा है। यह गाथा नेमिचन्द्र कृत 'द्रव्यसग्रह' की है। द्रव्यसग्रह का निर्माण दर्शनसार के कर्ता के वाद हुआ है। इसलिये यह नयचक्र दर्शनसार के कर्ता का नही हो सकता है।

३—ग्रन्थकारो की अपनी साहित्यिक रचनाओ के नाम रखने की भी अपनी एक कही-कही खास शैली हुआ करती है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन के वनाये ग्रन्थो के नाम सारांत नजर आते है। जैसे दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार। "नयचक्र" यह नाम सारात न होने से उक्त देवसेन का नही है। इस प्रकार की शैली नेमिचन्द्राचार्य की भी देखी आती है। इन्होने भी अपने ग्रन्थो के सारात नाम रखे है यथा—गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार।

दरअसल प्राकृत का यह नयचक्र माइल्लदेव कृत "द्रव्यस्वभाव-प्रकाश" का ही एक प्रकरण मालूम पडता है जो उसमे पूरा का पूरा पाया भी जाता है। वह कोई स्वतत्र ग्रन्थ नही है, इसीलिये तो इसमे कही इसके कर्ता का नाम उपलब्ध नही है। अब रही यह बात कि 'द्रव्यस्वभाव प्रकाश' ग्रन्थ की गाथा न० ३२१ मे खुद माइल्लदेव ने जो यह लिखा है कि—"त देवसेण देव णयचक्कयर गुरु णमह।" "नयचक्र के कर्ता देव-सेन गुरु को नमस्कार करो।" इस कथन से देवसेन का बनाया कोई नय-चक्र जरूर है और वह फिर कौनसा है? और श्वेताम्बर विद्वान् भोजसागर कृत "द्रव्यानुयोगतर्कणा" मे भी देवसेन के नयचक्र नाम के दिगम्बर ग्रन्थ का उल्लेख आता है सो कैसे है? इन सबका समाधान यह है कि—

एक गद्यपद्यमय सस्कृत नयचक्र सन् १९४९ मे श्री सेठ रखबचन्द्र जी पाड्या सनावद की सहायता से छपा है। जिसका सम्पादन और हिंदी अनुवाद क्षु० श्री सिद्धसागर जी ने किया है और जिसका प्रकाशन वर्द्ध-मानजी पार्श्वनाथ जी शास्त्री द्वारा सोलापुर मे हुआ है। यह ८४ पृष्ठ का है। यह भी देवसेन कृत है, जिसे व्योमपण्डित के प्रतिबोध के लिये रचा गया है। नमूने के तौर पर अध्याय की समाप्ति के सूचक वाक्य यहाँ दे दिये जाते है—

"इति श्री देवसेनभट्टारकविरचिते व्योमपण्डितप्रतिबोधके श्रुत भवन-दीपे नयचक्रे व्यवहारशुद्धिकथनो नाम द्वितीयोऽध्याय।"

इसकी प्रशस्ति का एक पद्य भी देखिये—

हिततममिति सम्यग्देवसेनोक्तमेतत्
श्रुतभवनसुदीप ध्वस्तमोहाधकारम्।
प्रकटितसकलार्थ मुक्तिपुर्यां यियासु।
स्वमनसि नयचक्र भव्यलोको दधातु॥

इस नयचक्र का सम्पादन सिर्फ एक ही प्रति पर से हुआ है। उस प्रति मे दूसरा और तीसरा पत्र नही था, ऐसा उक्त क्षुल्लक जी ने सूचित किया है।

(क्या यह सभावना नही की जा सकती है कि माइल्लदेव ने अपने "द्रव्यस्वभावप्रकाश" ग्रन्थ मे जिस नयचक्र का उल्लेख किया है वह यही नयचक्र हो। और माइल्लदेव के भी ये ही गुरु हो। इसी तरह भोजसागर द्वारा उल्लिखित देवसेन और उनका नयचक्र भी यह ही हो। इसमे अधिक सभावना इसलिये भी है कि भोजसागर ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है उसे वे द्रव्यानुयोगतर्कणा पृष्ठ ११६ मे सस्कृत का बताते है। माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रकाशित नयचक्र तो प्राकृत मे है। (उधर दर्शनसार की वचनिका मे प० शिवजीलाल जी ने देवसेन के जिस नयचक्र का उल्लेख किया है वह भी यही नयचक्र हो। क्योकि शिवजीलाल जी ने भी उसे सस्कृत का लिखा है।)

(जिस प्रकार यह सस्कृत का नयचक्र गद्य पद्य मे रचा गया है उसी प्रकार गद्य पद्य मे आलापपद्धति भी रची गई है। दोनो के कर्ता ये ही देवसेन मालूम पडते है, न कि दर्शनसार के कर्ता देवसेन जो १० वी शताब्दी के है।)

आलापपद्धति के आरभ मे लिखा है—"आलापपद्धतिर्वचनानुक्रमेण नयचक्रस्योपरि उच्यते।" भाडारकर लाइब्रेरी की प्रति के अत मे लिखा है—"इति सुखवोधार्थमालापपद्धति श्रीदेवसेनविरचिता समाप्ता। इति श्रीनयचक्र सपूर्णम्।" तथा वीरवाणी वर्ष १० अंक ८ मे ऐसा उल्लेख है—"इति सुखवोधार्थमालापपद्धति श्री देवसेन पडित विरचिता। इति श्री नयचक्र समाप्त छ।" लिखित कौरा स्वय पठनार्थ। (कौरपाल प० वनारसीदासजी के साथी थे)

इससे प्रगट है कि—जिस देवसेन ने संस्कृत मे नयचक्र बनाया उसी ने उसे सुख से समझने के लिये आलापपद्धति बनाई है। यह देवसेन पंडित दर्शनसार के कर्ता से भिन्न है। और जो प्राकृत नयचक्र है वह माइल्ल देवकृत "द्रव्यस्वभावप्रकाश" ग्रन्थ का एक प्रकरण है। दर्शनसार के कर्ता देवसेन का बनाया कोई नयचक्र नही है।

जीवतत्त्व विवेचन

ससार अनादिकाल से छह द्रव्यो से परिपूर्ण है। उसमे एक जीव-द्रव्य भी है। (जीवो की सख्या सदा से ही अनतानत है। वे जितने है उतने ही रहते है, न घटते, न वढते है। कोई भी जीव नया पैदा नही होता है और न किसी का विनाश ही होता है।) अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है, कि किसी अन्य देह से निकल कर जीव इस देह मे आया है। वस इसे ही उसका जन्म होना कहते है। और इस देह से निकल कर जीव अन्य देह मे चला गया, वस यही उसका मरण कहलाता है। तत्त्वत प्रत्येक जीव अजन्मा और अविनाशी है। उन अनतानत जीवो मे कई जीव अशुद्ध रूप मे और कई शुद्ध रूप मे पाये जाते है। जो अशुद्ध रूप मे है उन्हे ससारी जीव और शुद्ध रूप वालो को मुक्त जीव कहते है।

सव द्रव्यो मे एक जीव द्रव्य ही चेतनामय है बाकी सव अचेतन-जड है। ससार मे जो पदार्थ नेत्र आदि इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य होते है वे सव पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्त्त होने से इन्द्रिय गोचर है। किन्तु जीव द्रव्य रूपी व मूर्त्तिक नही है अत वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नही है। इसका अर्थ यह नही है कि वह शून्य रूप है। जीव भी अपनी सत्ता अवश्य रखता है। उसका भी कुछ न कुछ आकार रहता है। ससार-अवस्था मे वह देह के आकार मे रहता है और मुक्त अवस्था मे उसके देह नही रहती, तथापि जिस देह को छोडकर वह मुक्त होता है उस देह के आकार मे (किंचित् न्यून) रहता है।

जीव मे फैलने और सिकुडने की शक्ति विद्यमान है। वह अगर अधिक से अधिक फैले तो अकेला ही सारी सृष्टि को व्याप्त कर सकता

है किन्तु उसे विभिन्न भवो मे जितने प्रमाण का देह मिलता है उतने ही प्रमाण का होकर रहना पडता है। भवान्तर मे ही नही, किसी एक भव मे भी वाल्यावस्था के छोटे शरीर मे छोटा वनकर रहता है, युवावस्था के वडे शरीर मे वडा वनकर रहता है फिर वही शरीर वृद्धावस्था मे कृश होकर रहने लगता है। जैसे दीपक का प्रकाश छोटे वडे कमरे मे सिकुडता-फैलता है, वैसे ही जीव भी वडी-छोटी देह मे फैलता सिकुडता है। (प्रत्यक्ष मे यह भी देखा जाता है कि जव मनुष्य के दिल में काम वासना पैदा होती है तो उसकी कामेन्द्रिय का प्रमाण वढ जाता है। उसी के साथ उसके आत्मप्रदेश भी वढ जाते है और कामेन्द्रिय का सकोच होने पर उसके आत्म प्रदेश भी सकुचित हो जाते है।)

यहाँ शका की जा सकती है कि जैसे दीपक का ढक्कन हटा देने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह मोक्ष मे जीव के साथ देह के न होने से वह लोक प्रमाण क्यो नही फैलता है? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई आदमी पाँच हाथ की लवी डोरी को समेट कर अपनी मुट्ठी मे वद कर ले, फिर कालातर मे मुट्ठी खोल देने पर भी वह डोरी विना किसी के फैलाये अपने आप नही फैलती है, उसी तरह मोक्ष मे देह के न रहने पर आत्मा के प्रदेश भी अपने आप नही फैलते है।

जीव को देह प्रमाण कहने का अर्थ यह है कि शरीर के प्राय सभी अंशो मे आत्मा के अश मिले हुए है। जैसे दूध मे घृत के अश मिले रहते है। शरीर और आत्मा के अश ऐसे कुछ घुल-मिल जाते है कि सयुक्त क्रियाओ मे कही तो आत्मा का असर शरीर पर होता दिखाई देता है और कही शरीर का असर आत्मा पर पडा दिखाई देता है। (जैसे आत्मा में क्रोध भाव उत्पन्न होने पर मुखाकृति का भयकर वनना, भृकुटि चढना, चक्षुका लाल होना आदि। इसी तरह हर्ष होने पर मुख का प्रफुल्लित होना, भय होने पर शरीर का कापना, कामभाव होने पर कामेन्द्रिय मे उत्तेजना होना यह सब शरीर पर होने वाला आत्मा का

असर है, तथा बाल शरीर की अपेक्षा युवा शरीर मे ताकत का अधिक होना, वृद्धावस्था मे ताकत का घट जाना व स्थूल शरीर वाले पुरुष को दौडने-कूदने मे कठिनाई का अनुभव होना, हाड मासमय एक समान देह होते हुए भी स्त्री और पुरुष की भिन्न-भिन्न आकाक्षा होना अर्थात् स्त्री को पुरुष से रमण करने की और पुरुष को स्त्री से रमण करने की इच्छा होना इत्यादि उदाहरण शरीर का असर आत्मा पर पडते है।

प्रश्न—अगर शरीर और आत्मा का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है तो दोनो को भिन्न न मानकर शरीर को ही आत्मा क्यो न मान लिया जावे ?

उत्तर—दोनो का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। एक चेतन है दूसरा अचेतन है। अत दोनो एक नही माने जा सकते है।

अगर शरीर ही जीव हो तो मूर्च्छावस्था मे शरीर के रहते भी वह अचेत क्यो हो जाता है ? और निद्रावस्था मे कर्ण, रसना आदि इन्द्रियो के होते हुए भी वह विषय को ग्रहण क्यो नही करता है। कोई मनुष्य शरीर और इन्द्रियाँ ज्यो-की-त्यो रहने पर भी पागल कैसे हो जाता है ? इससे प्रकट होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न चीजे है।

जीव का स्वरूप जैन शास्त्रो मे निम्न गाथा मे कहा गया है—

जीवो उवओगमओ, अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो,
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई।

—द्रव्य सग्रह नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

जीव चेतन्यमय है—जीता है, उपयोगमय है यानी ज्ञाता द्रष्टा है, अमूर्तिक यानी इन्द्रियो के अगोचर है, अच्छे-बुरे कार्यो का करने वाला है, उसका आकार अपना देह-प्रमाण है, और वह सुख-दुख का भोक्ता है। वह ससार मे रह रहा है अर्थात् अनेक योनियो मे जन्म मरण करता रहता है, शुद्ध स्वरूप से सिद्ध के समान है और ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है। सब द्रव्यो मे एक पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो रूपी यानी दीखने मे

आता है, शेष सब अरूपी है। (कुछ पुद्गल ऐसे भी होते है जो अपनी सूक्ष्मता से नेत्रगोचर नही भी होते है तथापि वे अन्य इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण योग्य होने से रूपी ही माने जाते है। जैसे गंध, शब्द, हवा आदि। कुछ ऐसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल होते है जो सभी इन्द्रियो के अगोचर होने पर भी पुद्गल की जाति के ही माने जाते है जैसे कार्मणवर्गणा) जब कोई पुद्गल विशेष रूपी होकर भी अपनी सूक्ष्मता की वजह से नेत्र-गोचर नही होते है तब जीवद्रव्य तो अरूपी है, वह दृष्टि मे तो क्या अन्य किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण मे नही आ सकता है इसी भ्रम मे पडकर कई लोग कहने लगते है कि यह शरीर ही जीव है, शरीर से भिन्न कोई जीव नाम का द्रव्य नही है। किन्तु ऐसा समझना मिथ्या है। आत्मा सूक्ष्म अरूपी होने से भले ही आँखो आदि से ग्रहण मे नही आता है तथापि जो देखने जानने वाला है, किसी की इच्छा करता है और जिसको हर्ष सुख-दुख का अनुभव होता है, वही आत्मा है। आत्मा के होने से ही प्रत्येक प्राणी को उसके शरीर के छिन्न-भिन्न करने से दुख होता है। आत्मा के निकल जाने पर मुर्दा शरीर को काटने जलाने आदि से कोई पीडा नही होती है। इससे जाहिर होता है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न-भिन्न चीजें है। उसके अलावा स्मृति, जिज्ञासा, सशयादि ज्ञान विशेष आत्मा के गुण है, उनका स्वसवेदन प्रत्यक्ष होने से उन गुणो वाला आत्मा भी प्रत्यक्ष है, क्योकि गुण से गुणी भिन्न नही रहता है। जहाँ गुण है वहाँ गुणी भी अवश्य होता है। जैसे रूपादि गुण प्रत्यक्ष होने से उन गुणो का धारी घट भी प्रत्यक्ष है।

प्रश्न—माना कि गुण और गुणी अभिन्न है किन्तु शरीर ही आत्मा होने से वही गुणी है और ज्ञान उस शरीर का गुण है। ऐसा क्यो न मान लिया जाय ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही, क्योकि घट की तरह शरीर मूर्त्ति-मान् और चक्षुगोचर है। वह अमूर्त्तिक ज्ञानादि गुणो का आधार गुणी

नही हो सकता। गुण और गुणी मे अनुरूपता होती है—विरूपता नही। अत ज्ञानादि गुण जिसमे है वह शरीर से भिन्न अन्य कोई अरूपी द्रव्य है और वही आत्मा है।

प्रश्न—ज्ञानादि गुण शरीर के नही है। ऐसा कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। सब पदार्थो का ज्ञान इन्द्रियो से होता है और इन्द्रियरूप ही शरीर है। इन्द्रियाँ न हो तो कुछ भी ज्ञान नही होता।

उत्तर—आत्मा को पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है। इसका अर्थ यह नही है कि आत्मा और इन्द्रियाँ अभिन्न है। क्योकि चक्षु एव कर्ण के न रहने पर भी अर्थात् अधा वहरा हो जाने पर भी उनसे उत्पन्न पहिले का ज्ञान आत्मा को बना रहता है। जैसे खिडकियो के द्वारा देखे हुए पदार्थो का वोध खिडकियाँ बन्द कर देने पर भी देवदत्त को रहता है। अत देवदत्त खिडकियो से जुदा है वैसे ही आत्मा इन्द्रियो से जुदा है। इसी तरह इन्द्रियो के रहने पर भी अगर आत्मा का उपयोग विषय-ग्रहण की ओर न हो तो पदार्थज्ञान नही होता है। इसलिए इन्द्रियो के होने पर भी आत्मा को पदार्थ ज्ञान नही होता और इन्द्रियो के न होने पर भी पदार्थज्ञान रहता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहादि से आत्मा कोई जुदी चीज है।

इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को इमली खाते देखकर मात्र उसका अनुभव करने से ही हमारे मुँह मे पानी आ जाता है। दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुभव करने मात्र से ही हमारी आँखो मे अश्रु पैदा हो जाते है। यहाँ अनुभव करने वाला शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही हो सकता है। एक इन्द्रिय से जानकारी हासिल करके दूसरी इन्द्रिय से कार्य करने, जैसे आँख से घट को देखकर हाथ से उसे उठाने इत्यादि रूप मे इन्द्रियो को सोच समझ कर काम मे लेनेवाला भी, इन्द्रियो से भिन्न ही कोई हो सकता है। देवदत्त मकान की किसी एक खिडकी से किसी को देखकर दूसरी खिडकी मे मुँह डालकर उसे बुलाता

है, यहाँ जैसे खिडकियो से काम लेनेवाला देवदत्त खिडकियो से भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियो को काम मे लेनेवाला आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है, जैसे थोडे ज्ञानवाले पाँच पुरुषो से अधिक ज्ञान वाला छठा पुरुष भिन्न है, उसी तरह एक-एक विषय को ग्रहण करनेवाली पाचो इन्द्रियो से सभी विषयो को ग्रहण करने वाला छठा आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है। एक सेठ अलग-अलग गुमास्ते रखकर उनसे अपनी इच्छानुसार अलग-काम लेता है। जैसे गुमास्तो से सेठ भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियो से अपनी इच्छानुसार अलग-अलग विषय को ग्रहण करने वाला उनका अधिष्ठाता आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है। जैसे रेल के डिब्बे इजन की गति विशेष के अनुसार चलते है, मुडते है, दौडते है, धीमे चलते है, उसी तरह इन्द्रियाँ भी आत्मा की प्रेरणा से कार्य करती है। रेल के डिब्बो से इजन भिन्न है उसी प्रकार इद्रियो से आत्मा भिन्न है।

(इस प्रकार से जब स्वशरीर मे आत्मा की सिद्धि होती है तो उसी तरह परशरीर मे भी आत्मा है। क्योकि जैसे स्वशरीर मे आत्मा होने से इष्ट मे प्रवृत्ति देखी जाती है, तद्वत् परशरीर मे भी इष्ट अनिष्ट मे प्रवृति देखी जाती है। अत परशरीर मे भी आत्मा है, यह प्रमाणित होता है। इससे जीवो की अनेक सख्या सिद्ध होती है, किन्तु सब ससारी जीवो मे ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाने के कारण सब जीव सर्वथा एक समान नही है, यह भी सिद्ध होता है। इस असमानता का कारण उनका अपना स्वभाव नही है। किन्तु उन पर होने वाला पौद्गलिक कर्मवर्गणाओ का आवरण है।

शरीर यद्यपि अचेतन है तथापि वह चेतन जीव द्वारा चलाये जाने के कारण चेतन सदृश ही दिखाई देता है। जैसे कि बैलो द्वारा चलाया शकट बैलो को तरह ही चलता हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न—अगर आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह जन्म के समय शरीर मे प्रवेश करते और मृत्यु के समय शरीर से निकलते किसी को क्यो नही

दिखती है ? जैसे पुष्प से गध भिन्न नही, उसी तरह आत्मा भी शरीर से भिन्न नही है। (जैसे पुष्प के नाश होने से गन्ध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है। गर्भ मे शुक्रशोणित के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होता है। वही शनै-शनै' बढने लगता है। वहाँ अन्य स्थान से जीव आकर उसमे स्थान कर लेता है ऐसा कहना केवल कल्पना है।)

उत्तर—दूर से आया हुआ शब्द नेत्रो द्वारा नही देखा जाता। वह कान द्वारा ही ज्ञात होता है। फिर आत्मा तो सूक्ष्म अरूपी और अमूर्त्त है। वह न नेत्रो के गोचर है और न अन्य इन्द्रियो के। इसलिए जीव जन्म-मरण के समय आता-जाता दिखाई नही देता है, जैसे चम्पाके पुष्पको तेलमे क्षपण करनेसे उसकी सुगन्ध पृथक् होकर तेलमे मिल जाती है किन्तु पुष्प बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा मृत्युके समय इस शरीरसे निकलकर भवान्तरमे, अन्य शरीरमे, चला जाता है और पूर्व शरीर यहाँ पडा रह जाता है। माता-पिता के शुक्रशोणित से बनने वाली देह के सिवा उसमे आने वाली आत्मा का निषेध किया सो भी ठीक नही है। क्योकि माता-पिता कई बार मैथुन कर्म करते है, किन्तु गर्भ तो कभी-कभी ही रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जब कभी उस समय भवान्तर से जीव आने का सयोग बैठता है तभी गर्भ रहता है। अगर गर्भोत्पत्ति मे एक मात्र शुक्रशोणित ही कारण होता तो माता-पिता के हर मैथुन कर्म के समय मे गर्भ रहना चाहिए था। जैसे वनस्पति सचित्त अवस्था मे होने पर ही जल सीचने से बढती है सूखा ठूँठ अचित्त होने से नही बढता है उसी तरह गर्भ की वृद्धि भी सजीव अवस्था में ही होती है, निर्जीव अवस्था मे नही। साधु लोग बरसो नगे पाँव चलते है। पर उनके तलुवे नही घिसते है, जब कि जूता पहन कर चलने से वह कुछ काल मे ही घिस जाता है। इसका कारण यही है कि तलुवे सजीव है। उन्हे खुराक मिलती रहती है जिससे वे घिसते नही। जूता निर्जीव होने से घिसता

है। पुष्प का नाश होने से उसकी गन्ध का भी नाश हो जाता है, उसी तरह देह के नाश होने पर आत्मा का नाश हो जाता है, ऐसा मानना समीचीन नही है। क्योंकि मृत्यु के समय देह का नाश कहाँ होता है? देह तो मौजूद रहती है। फिर क्यो मृत्यु होनी चाहिए।

प्रश्न—देह तो रहती है पर जिन भू, जल, अग्नि आदि पंचभूतो के समुदाय से देह मे चेतना उत्पन्न होती है, उनके जीर्ण हो जाने पर देह के रहते भी चेतना नही रहती है। इसे ही मृत्यु कहते है। जैसे धातकी, पुष्प, दाख, जल आदि के मिश्रण से शराब मे मादकता उत्पन्न होती है। वह मादकता शराब पुरानी पड जाने पर भी शराब के रहते हुए उसमे से निकल जाती है।

उत्तर—पंचभूतो मे से किसी भी भूत मे चेतना नही है। फिर वह पचभूतो के मिश्रण से कैसे उत्पन्न हो सकती है? यदि कहा जाय कि धातकी आदि अलग-अलग द्रव्य मे मादकता नहीं है किन्तु सबके मिलने पर मद्य उत्पन्न हो जाता है उसी तरह पचभूतो मे से अलग-अलग किसी मे चेतना न होने पर भी उनके समुदाय मे चेतना उत्पन्न हो जाती है किन्तु ऐसा ही हो तो जलते हुए चूल्हे पर पानी की भरी हडिया को गरम करते समय पचभूत इकट्ठे हो जाते है, वहाँ चेतना क्यो नही पैदा होती है? मद्य के प्रत्येक उपादान द्रव्य मे अगर मादकता के कुछ अश न हो तो उनके समुदाय मे भी मादकता कैसे हो सकती है? और फिर धातकी आदि से ही मद्य क्यो बनता? अन्य द्रव्यो से क्यो नही? जैसे हर रजकण मे तेल के अश नही होते तो उसके समुदाय मे भी तेल उत्पन्न नही होता है। उसी तरह मद्य के हर एक उपादान द्रव्य मे मादकता न होती तो उनके समुदाय मे भी मादकता नही हो सकती थी। सही चीज तो यह है कि धातकी आदि से जो मदिरा पैदा होती है सो धातकी आदि भी पुद्गल है और उनसे उत्पन्न मदिरा भी पुद्गल है। अत पुद्गल से पुद्गल ही पैदा हुआ उसी तरह पचभूत

भी पुद्गल है तो उनमे भी पौद्गलिक शरीर ही पैदा हो सकता है, चेतनामय आत्मा नहीं। पुरानी हो जाने से शराव रहते भी शराव मे से मादकता निकल जाती है उसी तरह शरीर के जीर्ण हो जाने से शरीर रहते भी उसमे से चेतना निकल जाती है, यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि सव ही की मृत्यु वृद्धावस्था मे होती तो यह भी मान लिया जाता कि शरीर के जीर्ण होने से चेतना नष्ट हो गई किन्तु मृत्यु तो छोटे वच्चो व युवाओ की भी देखी जाती है, यहाँ तक कि कोई तो गर्भ मे ही मर जाता है।

प्रश्न—धातकी दाख आदि प्रत्येक मे अल्परूप मे मादकता विद्यमान होती है। इस सिद्धान्त को मान लेते है। उसी तरह पचभूतो मे भी प्रत्येक मे चेतना के अश है और उनके समुदाय मे पूरी आत्मा वन जाती है।

उत्तर—ऐसा मानने मे भी वाधा है। पचभूत पुद्गल है—मूर्तिक है, उनके अश अमूर्तिक-चेतनास्वरूप कैसे हो सकते है? और सव भूतो के इकट्ठे हो जाने पर चेतना की नई उत्पत्ति मानी जाय तो मृत शरीर मे भी समुदाय तो रहता ही है। फिर उसमे आत्मा का अभाव क्यो है? यदि कहो कि मृत शरीर मे से वायु निकल जाने के कारण चेतना नही रहती, तो नली के द्वारा वायु प्रवेश कराने पर चेतना पैदा हो जानी चाहिए। पर पैदा नही होती है, जो कहो कि उस वक्त तेज का अभाव होने से चेतना पैदा नही होती है और चेतना पैदा होने योग्य विशिष्ट वायु की उपलब्धि भी नही होती है, तो फिर यो ही क्यो न कहो कि वह तेज और विशिष्ट वायु आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कोई नही है?

प्रश्न—जैसे मिट्टी जल आदि के सयोग से धान्य आदि पैदा होना प्रत्यक्ष देखते है, वैसे ही भूतो के सयोग से जीव पैदा होते है ऐसा मानना भी उचित ही है।

उत्तर—धान्य के पैदा होने मे मिट्टी जलादिक उपादान कारण नही

है। उपादान कारण उनके बीज में है। वे बीज मिट्टी जलादि से भिन्न है। उसी तरह शरीर में चेतना भूत समुदाय की नही है किन्तु भूत-समुदाय से भिन्न आत्मा की है। जैसे एक वृद्ध पुरुष का ज्ञान युवावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है और युवावस्था का ज्ञान बाल्यावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था का ज्ञान भी उसके पूर्व की किसी अवस्था का होना चाहिये। वह अवस्था उस जीव के पूर्व भव की ही सम्भव है। जैसे जीव को वृद्धावस्था मे अनेक अभिलापायें होती है। उसके पूर्व युवावस्था मे भी होती थी और युवावस्था के पूर्व बाल्यावस्था में होती है। वैसे ही बाल्यावस्था के पूर्व भी कोई अवस्था होनी चाहिये ताकि इच्छाओ की परम्परा टूट न सके। वह अवस्था जीव का पूर्व जन्म ही हो सकती है। इसी कारण से तो जन्म लेते ही बछडा गाय का स्तन चूसने लगता है। इससे यही सिद्ध होता है कि भवातर से जीव आकर शरीर को अपना आश्रय बनाता है। वर्तमान में भी समाचार-पत्रो में पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती है। अगर पूर्व जन्म नही है तो बिल्ली का चूहे से और मयूर का सर्प से स्वाभाविक वैर होने का क्या कारण है?

प्रश्न—यदि प्रत्येक शरीर मे जीव भवातर से आता है तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर में जो जीव है वही पूर्व जन्म के शरीर मे था। शरीर बदला है जीव तो वही है। तो फिर सभी जीवो को पूर्व जन्म की बातें याद क्यो नही है?

उत्तर—जैसे वृद्धावस्था मे किन्ही को अपनी बाल्यावस्था की बातें याद रहती है और किन्ही को नही रहती है, इसी प्रकार किसी जीव को भवातर की बातें याद आ जाती है, किसी को नही। इसमे कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है। दूसरी बात यह है कि जिन बातो पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती है और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो, वे निकट भूत की भी स्मरण में नही रहती है। मनुष्य को अपनी गर्भावस्था

का स्मरण इसीलिये नही रहता है कि वहाँ उसको किसी विषय पर गम्भीरता पूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नही होती है, इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोडकर अगले शरीर को धारण करने मे प्रथम तो बीच मे व्यवधान पड जाता है, दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने मे भी समय लगता है। चूँकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति मे शरीर और इद्रियो का बहुत बडा हाथ रहता है। यदि पूर्व जन्म मे जीव असज्ञी रहा हो तो वहाँ किसी विषय का चिंतन ही न हो सका। अतएव अगले जन्म मे याद आने का प्रश्न ही नही रहता है इत्यादि कारणो से प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण का होना सुलभ नही है।

प्रश्न—एक लोहे की कोठी मे किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय और उस कोठी के सब छिद्रो को ढँक दिया जाय तो प्राणी मर जाता है। उस प्राणी की आत्मा उस कोठी से बाहर निकल जाती है। मगर उस कोठी मे कही छिद्र नही होता है। इससे सिद्ध होता है कि उस प्राणी का जो शरीर था वही जीव था।

उत्तर—उस कोठी मे शख देकर किसी आदमी को बैठाया जावे और सब छिद्र बन्द कर दिये जावे। फिर उस कोठी मे बैठा आदमी शख बजावे तो शख की आवाज कोठी के बाहर सुनाई देती है। आवाज के निकलने से कोठी मे कही छेद हुआ नजर नही आता है। फिर आत्मा तो आवाज से भी अत्यधिक सूक्ष्म है। आवाज मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है। आत्माके निकलने पर कोठी मे छेद होने की क्या जरूरत है ?

प्रश्न—मरणासन्न मनुष्य को जीवित अवस्था मे तोला जाय और फिर मरने के पश्चात् तत्काल तोला जाय तो वजन मे कमी नही होती है। अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था।

उत्तर—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा

निकालने के बाद भी उसमे रहता है। जब हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नही आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है। उसके निकल जाने पर शरीर के वजन मे कमी कैसे आ सकती है ?

प्रश्न—आँख ठीक हो तो दिखाई देता है, कान ठीक हो तो सुनाई देता है। दोनो ही मे खराबी आ जाने पर आत्मा न देख सकती है, न सुन सकती है। इससे क्या यह सिद्ध नही होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है। कोई अलग आत्मा नही है।

उत्तर—स्वप्नावस्था मे मनुष्य अपनी इन्द्रियो को काम मे लिये बिना भी देखता है, सूँघता है, खाता है, पीता है। यहाँ तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है। इस प्रकार की बातें निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं।

प्रश्न—जीवो की उत्पत्ति भौतिक सम्मिश्रणो के आधार पर होती है। या तो माता-पिता के रजोवीर्य के मिलने पर या इधर-उधर के परमाणुओ से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है। जैसे आटे मे जीव पडना, बालो मे जूँ पडना आदि। अगर ये सब जीव भवान्तर से आकर पैदा होते है तो भवान्तर के शरीर को छोडते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वैसे ही शरीर का सयोग अपने आप कैसे बन जाता है ? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय मे आना है तो उसके मरते ही कही अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये, ताकि वह उसमे आ सके। इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नही है। इससे तो यही क्यो न माना जाय कि भौतिक मिश्रणो से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। यह नही कह सकते कि कोई जीव भवान्तर के शरीर से निकलने के बाद, जब तक उनके योग्य शरीर की सामग्री का सयोग न मिले तब तक यो

ही भटकता रहता है। क्योकि विग्रहगति मे अधिक से अधिक काल जैन-सिद्धान्त मे तीन समय मात्र वताया गया है। चौथे समय मे तो उसे जहाँ भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पडता है। यह तीन समय का काल वहुत ही थोडा है। जैन-शास्त्रो मे एक श्वास मे ही असख्यात समय वताये है।

उत्तर—जैन-शास्त्रो मे जीवो का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन, उपपाद और गर्भ। इनमे से सम्मूर्च्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नही है। यह जन्म रजोवीर्य के सयोग से नही होता है। यह तो तीन लोक मे फैले हुए इधर-उधर के पुद्गल पदार्थो से ही हो जाता है अत अगणित जीवो के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक मे सामग्री भरी पडी है। उपपाद जन्म देव-नारकियो का होता है। इस जन्म के लिए भी माता-पिता के सयोग की जरूरत नही है। इस जन्म के लिये तो नियत स्थान वने हुए है और वे सदा तैयार मिलते हैं। रहा गर्भजन्म, उसके लिये अगर माता-पिता के सयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नही है। मैथुन कर्म करने वाले जीवो की लोक मे कोई कमी नही है। यह सयोग भी हर समय मिल ही जाता है। मैथुन के अन्त मे ज्यो ही रजोवीर्य का पतन होकर मिश्रण हो, उसी समय भवान्तर से जीव आकर उसमे पैदा हो, ऐसा भी कोई नियम नही है। किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण मे सात दिन पश्चात् तक जीव का आना वताया गया है।

इस तरह से जीवो के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है।

भरतैरावत में वृद्धिह्रास किसका है ?

श्री भगवदुमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के तीसरे अध्याय मे एक सूत्र है कि 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।' उसका शब्दार्थ ऐसा होता है कि—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह कालो मे भरत और ऐरावत का वृद्धि ह्रास होता है। इन सामान्य वचन के दो अभिप्राय हो सकते है। एक तो यह है कि—'भरत और ऐरावत का क्षेत्र घटता बढता है और दूसरा यह कि 'भरतैरावत मे प्राणियो के आयुकायादि घटते बढते रहते है। भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ ' और 'ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता ' इन सूत्र वाक्यो से न मालूम सूत्रकार का असली अभिप्राय क्या था ? तत्त्वार्थसूत्र पर जो राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थसार जैसी विशाल टीकाये है वे भी एकमत नही है और इन टीकाओ के अतिरिक्त अन्य जैनग्रथो का भी प्राय यही हाल है। इन सब में कोई ग्रथकर्ता तो 'आयुकायादिकी वृद्धि ह्रास का कथन करते है किन्तु 'भूमि का वृद्धि ह्रास नही हो सकता, या हो सकता' ऐसा कुछ नही कहते। कोई आयुकायादि की ही वृद्धि ह्रास बताते है और भूमिके वृद्धि ह्रास का स्पष्ट खडन करते है। तथा कोई ऐसे भी है जो क्षेत्र की घटाबढी का मुख्य उल्लेख करते है व आयुकायादि की घटाबढी गौणरूप से बताते है और कोई सूत्रकार की तरह केवल सामान्य ही विवेचन करते है। नीचे हम पाठको की जानकारी के लिये इसी बात को ग्रथो के उद्धरण दे कर स्पष्ट करते है। आचार्य नेमिचन्द्र त्रिलोकसार मे कहते है कि—

"भरहेसुरेवदेसु ये ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कालदुगा ।
उस्सेधाउबलाणं हाणीवड्ढी य होतित्ति ॥ ७७६ ॥

अर्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जीवो के शरीर की ऊचाई आयु बल, इनकी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल मे क्रम से वृद्धि हानि होती है।

सकलकीर्ति कृत मल्लिनाथपुराण के ७ वे परिच्छेद मे लिखा है—

"उत्सर्पिण्सवसर्पिण्यो षट्काला हानिवृद्धिजा ।
आयु कायादिभेदेन सर्वे प्रोक्ता जिनेशिना ॥ ८८ ॥"

अर्थ—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल आयु कायादि की हानि-वृद्धि को लिये हुये है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इन अवतरणो से इतना ही सिद्ध है कि 'आयुकायादि की हानिवृद्धि होती है' किन्तु इससे क्षेत्र का हानिवृद्धि विषयक कुछ भी विधिनिषेध प्रकट नही होता। अस्तु आगे देखिये—

तत्त्वार्थ राजवार्तिक के तीसरे अध्याय मे उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुये श्रीमद्भट्टाकलकदेव कहते है कि—

"इमौ वृद्धिह्रासौ कस्य भरतैरावतयोर्नंनु क्षेत्रे व्यवस्थितावधिके कथ तयोर्वृद्धिह्रासौ अत उत्तर पठति।"

अर्थ—यह घटना बढना भरत और ऐरावत क्षेत्रो का है। यदि यहाँपर यह शका हो कि—भरत और ऐरावत क्षेत्र तो अवधिवाले स्थित है कभी उनका बढना घटना नही हो सकता फिर यहाँ उनके वृद्धिह्रास का उल्लेख कैसा ? वार्तिककार इसका उत्तर देते है—

"तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासयोग ॥ १ ॥ इहलोके तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्य भवति यथा गिरिस्थितेषु वनस्पतिषु दह्यमानेषु गिरिदाह इत्युच्यते। तथा भरतैरावतस्थेषु मनुष्येषु वृद्धिह्रासावापद्यमानेषु भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासावुच्येते।"

अर्थ—ससार मे तात्स्थ्य रूप से ताच्छब्द्यका अर्थात् आधेयभूत पदार्थोका कार्य आधारभूत पदार्थो का मान लिया जाता है, जिस प्रकार पर्वतमे विद्यमान वनस्पतियो के जलने से गिरिदाह माना जाता है उसी प्रकार भरत और ऐरावत क्षेत्रो के मनुष्यो मे वृद्धिह्रास कह दिया जाता है।

"अधिकरणनिर्देशो वा ॥ २ ॥"

"अथवा भरतेरावतयोरित्यधिकरणनिर्देशोऽय स चाधेयमाकाक्षतीति भरते ऐरावते च मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ वेदितव्यौ।"

अर्थ—अथवा 'भरतेरावतयो' यह अधिकरणनिर्देश है। अधिकरण सापेक्ष पदार्थ है वह अपने रहते अवश्य आधेय की आकाक्षा रखता है। भरत और ऐरावत रूप आधार के आधेय मनुष्य आदि है इसलिए यहाँ पर यह अर्थ समझ लेना चाहिये कि भरत और ऐरावत क्षेत्रो मे मनुष्यो का वृद्धि और ह्रास होता है। इसी सूत्र का विवेचन करते हुए पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि मे ऐसा कहा है—

"वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ। काभ्या षट्समयाभ्याम्। कयो भरतेरावतयो। न तयो क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ स्त। असम्भवात्। तत्स्थाना मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ भवत। अथवा अधिकरणनिर्देश भरते ऐरावते च मनुष्याणा वृद्धिह्रासाविति। किकृतौ वृद्धिह्रासौ? अनुभवायु प्रमाणादिकृतौ।"

भावार्थ—षट्कालो मे जो वृद्धि ह्रास होता है वह भरतेरावत के क्षेत्र का नही होता, क्योंकि यह असम्भव है, किन्तु भरतेरावत में स्थित मनुष्योंके भोगोपभोग आयुकायादि का होता है। वही अधिकरण निर्देश से भरतैरावत का कहा जाता है।

(इन उल्लेखो से साफ प्रकट है कि 'भरतेरावत क्षेत्र की हानि वृद्धि नही हो सकती। बल्कि सर्वार्थसिद्धि के कर्ता ने तो उसे बिल्कुल असम्भव बताया है।) अब सामान्य कथन देखिये—

महाकवि वीरनन्दि ने चन्द्रप्रभचरित काव्य के १८वे सर्ग मे कहा है कि—

"भरतैरावते वृद्धिह्रासिनी कालभेदत।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालभेदावुदाहृतौ ॥ ३५ ॥"

तथा अमृतचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार मे लिखा है कि—

"उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ षट्समे वृद्धिहानिदे ।
भरतैरावतौ मुक्त्वा नान्यत्र भवत क्वचित् ॥२०८॥"

इन श्लोको मे वही सामान्य कथन किया है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र मे है । इसी ढग को लिये हुए ऐसा ही अस्पष्ट कथन हरिवशपुराण मे जिसमे कि तीन लोकका खूब विस्तृत वर्णन है, जिनसेन ने लिखा हे । यथा—

कल्पस्ते द्वे तथार्थाना वृद्धिहानिमती स्थिति ।
भरतैरावत क्षेत्रेष्वन्येष्वपि ततोऽन्यथा ॥

सातवे सर्ग के ६३वे श्लोक का हिन्दी अनुवाद ऐसा है 'उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी मे भरतैरावत के पदार्थों का वृद्धि ह्रास होता है' ।

अव क्षेत्र की हानि वृद्धि माननें वालो की सुनिये । विद्यानद महोदय अपने श्लोकवार्तिक मे 'ताभ्यामपराभूमयोऽवस्थिता ' सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते है कि—

"न हि भरतादिवर्पाणा हिमवदादिवर्पधराणा च सूत्रत्रयेण विष्कभस्य कथन वाध्यते प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविपयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात् । प्रवचनैकदेशस्य च तद्बाधकस्याभावात् आगमातरस्य च तद्वाधकस्याप्रमाणत्वात् । तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिपु च स्थितेर्भेदस्य वृद्धिह्रासयोगायोगाभ्या विहितस्य प्रकथन न वाध्यते ।" (पृ० ३५४)

इसका भाव ऐसा है कि—भरतैरावत क्षेत्रका वृद्धिह्रास मानने पर ऊपर तीन सूत्रो मे जो भरतादिक्षेत्र और हिमवदादि वर्षधर पर्वतो का विस्तार वर्णन किया है उसमे वाधा आएगी । शकाकार की इस शका का उत्तर देते हुये विद्यानदि लिखते है कि—'उसमे कोई वाधा नही आ सकती क्योकि वह प्रत्यक्ष अनुमान का विपय नही है । रही आगम प्रमाण की वात सो प्रवचन का एक देश तो उसमे कोई वाधा नही देता और जो उसके वाधक आगमान्तर है वे अप्रमाण है इसलिए सूत्रद्वय से जो भरतैरावत और अपर भूमिके वृद्धिह्रासके योग अयोगका किया कथन है वह अवाधित है ।

(जो लोग इसका विपरीत भाव निकालते है उन्हे श्लोकवार्तिक के पृष्ठ ३७८ की निम्नस्थ पक्तियो पर ध्यान देना चाहिए—

"भरतेरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यसवर्पिणीभ्या इति वचनात् तन्मनुष्याणामुत्सेधानुभवायुरादिभिर्वृद्धिह्रासौ प्रतिपादितौ न भूमेरपरपुद्गलैरिति न मन्तव्य, गौणशब्दप्रयोगान्मुख्यस्य घटनादन्यथा मुख्यशब्दार्थातिक्रमे प्रयोजनाभावात्। तेन भरतेरावतयो क्षेत्रयोर्वृद्धिह्रासौ मुख्यत प्रतिपत्तव्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्थमनुष्याणामिति तथा वचन सफलतामस्तु ते प्रतीतिश्चानुल्लघिता स्यात्"।

भावार्थ—"भरतेरावतयोर्वृद्धिह्रासौ " इत्यादि सूत्रकार के वचनो से क्षेत्रस्थित मनुष्यो के आयुकायादि का वृद्धिह्रास प्रतिपादन किया है न कि पौद्गलिक भूमिका। प्रतिवादी का ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि गौण शब्द के प्रयोग से मुख्य अर्थ घटित होता है वर्ना निष्प्रयोजन मुख्य शब्द का अर्थ क्यो छोडा जावे। अत भरतैरावत के क्षेत्र का वृद्धिह्रास मानना ही मुख्य है और उन क्षेत्रस्थ मनुष्यो का वृद्धिह्रास मानना गौण है इस प्रकार कहना ही ठीक है और यही प्रतीति मे आता है।)

श्लोकवार्तिक के इस कथन से साफ है कि विद्यानदस्वामी भूमि की घटी-बढी को मुख्य रूप से मानते है साथ ही उनकी उक्त कारिका से यह भी प्रकट होता है कि उस समय क्षेत्र की हानि वृद्धि को मानने वाले और न मानने वाले दोनो प्रकार के आगम मौजूद थे, जिसे उन्होने 'प्रवचनैकदेशस्य च तद्वाधकस्याभावात् आगमान्तरस्य च तद्वावकस्याप्रमाणत्वात्' शब्दो से प्रकट किया है और क्षेत्र की हानिवृद्धि के वाधक आगम को अप्रमाण कोटि मे डाल दिया है। न केवल यही वल्कि श्लोकवार्तिक मे कालभेद से भूमि को समतल मानने से भी इन्कार किया है जैसा कि उसकी निम्न पक्तियो से जाहिर किया है—

'न च वय दर्पणसमतलामेव भूमि भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धेर्निम्नोन्नताकारसद्भावात्' पृष्ठ ३७७।

पुन —

'तदापि भूमिनिम्नत्वोन्नतत्वविशेपमात्रस्यैव गते तस्य च भरतैरावत-योर्दृष्टत्वात्' पृष्ठ ३७८ ।

ऐसे ही गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण के इस श्लोक से ध्वनित होता है । यथा—

"ततो धरण्या वैषम्यविगमे सति सर्वत ।

भवेच्चित्रा समाभूमि समाप्तात्रावसर्पिणी ।।३५३।। –पर्व ७६"

अर्थ—इसके बाद पृथ्वी का विषमपना सव नष्ट हो जायेगा और चित्रा पृथ्वी निकल आवेगी तथा यहाँ ही पर अवसर्पिणी काल समाप्त हो जायेगा ।)

श्लोकवार्तिक मे अन्य भी कई ऐसी बाते है जो ग्रन्थान्तरो से एकमत नही रखती, उनका विशेप विवेचन अन्य स्वतन्त्र लेख द्वारा बताया जा सकता है । श्लोकवार्तिक मे एक खास उल्लेख योग्य विपय यह है कि—'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयोर्नृलोके' सूत्र के निरूपण करते हुए भूगोल भ्रमण पर अच्छा विचार किया गया है इस प्रकार का वर्णन अन्य सस्कृत प्राकृत ग्रन्थो मे नही मिलता है । यह खूवी श्लोकवार्तिक मे ही है ।

इस विपय मे श्वेताम्बरो का आगम निम्न प्रकार है—

आत्मारामजी कृत 'सम्यक्त्व शल्योद्धार' पुस्तक के पृष्ठ ४५ मे लिखा है कि—

'शाश्वती वस्तु घटती वढती नही है सो भी झूठ है क्योकि गगा-सिंधु का पाट, भरतखण्ड की भूमिका, गगासिन्धु की वेदिका, लवण समुद्र का जल वगैरह वढते-घटते है ।'

इस सारे विवेचन मे जो ऊपर दिगम्बर जैनो के आगम वाक्य उद्धृत किये गये है उनमे करीव-करीव सब ही विद्यानन्द से सहमत नही मालूम होते, खासकर अकलक और पूज्यपाद तो विलकुल ही विरुद्ध है । हरिवश-पुराण का कथन श्वेताम्वरोके सम्यक्त्व शल्योद्धार से कुछ समता रखता

है। हाँ, अलवत्ता सूत्रकार के वचन जरूर विद्यानन्द की तरफ झुकते ज्ञात होते हे और श्वेताम्बरो के उक्त कथन के साथ तो विद्यानन्द का अति साम्य है ही। किन्तु दि० जैन ग्रन्थ ऐसा देखने मे नही आता जिसमे विद्यानन्द की तरह क्षेत्र की हानि वृद्धिका स्पष्ट उल्लेख हो। विद्वानो का कर्तव्य है कि वे इस विषय के प्राचीन ग्रन्थ टटोलें। खोज करने पर जरूर कुछ इस विषय रहस्य का उद्घाटन होगा। विद्यानन्दजी के "प्रवचनैकदेशस्य च तद्वाधकस्याभावात्" वाक्य से तो वैसा कथन मिलने की और भी अधिक सम्भावना है।

स्वामी विद्यानन्दजी वडे नैयायिक विद्वान् थे इसलिये तर्क वल से वैसा कथन कर दिया होगा ऐसी आशका करना भी ठीक नही है। विद्यानन्द जैसे एक ऊँचे आचार्य के प्रति वैसी भावना रखना एक वहुत वडा दुर्भाग्य समझना चाहिये। किसी सिद्धान्त की वात को स्वरुचि से निरूपण करना स्वय विद्यानन्दजी ने अनादरणीय कहा है। यथा—"स्वरुचिविरचितस्य प्रेक्षवतामनादरणीयत्वात्' श्लोकवार्तिक पृ० २।

पुन —

'न पूर्वशास्त्रानाश्रय यत स्वरुचिविरचित्वादनादेय प्रेक्षावता भवेदिति यावत्' श्लोकवार्तिक पृ० २।

जिन्होने विद्यानन्दजी के ग्रन्थो का मनन किया है वे मानते है कि जिन शासन का जो कुछ भी गौरव है उसका श्रेय विद्यानन्द जैसे आचार्य महोदयो को ही है। अत विद्यानन्दजी की कृति पर अश्रद्धा प्रकट करना नि सार है। वल्कि हमे तो उनसे अपने को धन्य समझना चाहिए कि—ऐसे ऐसे तार्किक दिग्गज विद्वानो ने भी परमपावन जिनेन्द्र का आश्रय लिया है और जब कि विद्यानन्द स्वामी ने खुद अपने कथन को प्रवचन के एक देश से अवाधित लिखा है तो फिर स्वरुचि रचना की कल्पना उठाने को स्थान ही कहाँ है?

●

उपलब्ध जैन ग्रन्थों में ज्योतिश्चक्र की व्यवस्था

सम्पूर्ण जैन वाड्मय प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग ऐसे चार अनुयोगो मे गुफित है। सृष्टि की तमाम रचनाओ का हाल करणानुयोग मे पाया जाता है। आजकल करणानुयोग का अधिकाश विपय आक्षेप का स्थान वना हुआ है। सूर्यादि के भ्रमण से रात्रि दिन को जैसी कुछ व्यवस्था जैन-ग्रन्थो मे पायी जाती है उस पर तो हमारे कतिपय भाइयो को विश्वास ही नही है। और एक इसी वात से वे लोग सारे ही जैन-धर्म को अश्रद्धा की नजर से देखते है। ऐसे लोग जितनी तत्परता शकायें करने मे दिखाते है उसकी शताश भी कोशिश उनके दूर करने की नही करते। यह भी नही कि शका करने वालो ने उपलब्ध जैन-ग्रन्थो को भी अच्छी तरह देख लिया हो। तत्त्व निर्णय के इच्छुक का काम केवल शका खडी करने का ही नही है किन्तु उसके समाधान का उद्योग करना भी है। पाठको को याद होगा कि वावू जगरूपसहायजी वकील ने पहिले एक विज्ञप्ति निकाली थी कि—'जैन शास्त्रो से कोई छह मास का रात्रि-दिन सिद्ध कर दे तो उसे मै एक हजार रुपये भेट मे दूगा।' उत्तर मे मैने जैन गजट मे छपाया था कि वकील साहव, रुपये किसी मध्यस्थ के यहाँ जमा करा दे तो मै सिद्ध करने का प्रयत्न करूँगा। वस उसी दिन से वकील साहव चुप हो गए। इसी एक उदाहरण से पता लगता है कि लोग इस मामले मे कितने स्वच्छन्द है और वे शका उठाने की कितनी जल्दी करते है। यह विपय कोई वच्चो का खेल नही है जो चुटकियो मे ही उडा दिया जावे। वडा गहन है और ऐसा गहन है जिस पर सम्मिलित रूप से विचारशील विद्वानो के द्वारा गम्भीर दृष्टि से वडी शाति के साथ विचार होना चाहिये। इसकी गूढ ग्रथियो के सुलझाने के साधन भी वर्त-

मान में बहुत ही विकट हो गई है। प्रथम तो इस विषय के ग्रन्थ ही पूरे नहीं मिलते। अमितगति कृत चन्द्रप्रज्ञप्ति सुनी जाती है वह कहाँ है? सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक में समतल से ज्योतिष्कों की ऊंचाई निकालने उक्त न गाथा आती है वह कहाँ की है? त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति में तो वह है नहीं। त्रिलोकप्रज्ञप्ति की निम्न दो गाथाओं में भी 'लोकविभाग' और 'लोक विनिश्चय' का उल्लेख मिलता है—

जो लवणजलहीण भणिदाण उदमाण णाणिदो।
वतस्स ण मण्णते लोगविभागम्मि आइरिया ॥११५॥
पण्णासाहिय दुसया कोदंडा राहुणयरबहलत्त।
एव लोगविणिच्छय कत्तारिया परूवेदी ॥२०३॥

ये दोनों गाथा पाठान्तर हैं जिनमें अन्य ग्रन्थों के मत दिये गये हैं। ये ग्रन्थ कहाँ हैं?

'लोकप्रकाश' श्वेताम्बर ग्रन्थ में पत्र २८८ में भी इस विषय के 'धर्मप्रश्नव्याधि' नामक दिगम्बर ग्रन्थ तथा 'करणविभावना' ग्रन्थ, एवं पूर्वाचार्यों की कितनी ही गाथाओं का उल्लेख है। इत्यादि ग्रन्थ न जाने किन काल्कोठरीमें अपनी आयु समाप्त कर रहे हैं।

इस तरह एतद्विषयक बहुतेरा साहित्य लुप्त प्रायः हो रहा है।

इसके अलावे जैनभूगोल का ठीक ठीक ज्ञान न होने का यह भी कारण है कि कई शताब्दियां पहिले ही से यह विषय बहुत कुछ विच्छेद हो चुका था। इस विषय के जो ग्रन्थ आज मिल रहे हैं उनके कर्ताओं के वक्त ही कोई इनका पूर्णज्ञानी न रहा था। यह आपको निम्न अवतरणों से मालूम होगा।

"त्रिलोकप्रज्ञप्ति में लिखा है कि—

संपइ कालवसेण ताराणामाण णत्थि उवदेसो ॥३२॥
परिहीसु ते चरते ताण कणयाचलस्स विच्चाल।

अण्णपि पुव्वभणिदकालवसादो पणट्ठउवएस ॥४५७॥
ताण णामप्पहुदी उवएसो सपइ पणट्ठो ॥४९४॥
—ज्योतिर्लोकाधिकार

अर्थ—कालवश से ताराओ के नामो का उपदेश वर्तमान मे नही रहा है। ग्रहो की परिधिये, उनका मेरु से अतराल तथा अन्य भी पहिले सूर्य चन्द्र का कहा हुआ जैसा कथन है यह सब उपदेश कालवश से नष्ट हो गया है। उन ताराओ के नामप्रभृतिका उपदेश वर्तमान मे नष्ट हो गया है।

श्वेताम्बरो के 'लोकप्रकाश' नामक ग्रन्थ के २८८ वें पत्र मे भी लिखा है कि—

अनतर नरक्षेत्रात्सूर्यचन्द्रा कथ स्थिता ।
तदागमेपु गदित साम्प्रत नोपलभ्यते ॥

अर्थ—मनुष्यक्षेत्र के आगे सूर्य चन्द्रमा किस तरह स्थित है, तत्प्रतिपादक आगम इस समय उपलब्ध नही है।

इसी ग्रन्थमे "तत्तु सप्रदायगम्य" 'तत्तु वहुश्रुतगम्य' 'वेत्ति तत्त्व तु केवली' इस प्रकार के शब्दो से कितनी ही जगह एतद्विपयक ज्ञान की कमी जाहिर की है।

(ये सब अवतरण इस बात को सूचित करते हे कि उस समय भी ज्योतिर्लोक की वहुत सी वाते लुप्त हो चुकी थी। और यही कारण है जो आज इन उपलब्ध ग्रन्थो मे यह वहुत कुछ मतभेद के साथ पाया जाता है जिसका कुछ दिग्दर्शन नीचे करा देना उचित होगा।)

इस विपय के दिगम्बर, श्वेताम्बर ग्रन्थ जो हमारे देखने मे आये उनके नाम है—दिगम्बर ग्रन्थ जेसे—त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सिद्धान्तसार-दीपक, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और हरिवशपुराण। श्वेताम्बर ग्रन्थ जैसे—सूर्यप्रज्ञप्ति, लोकप्रकाश, जवूद्वीपप्रज्ञप्ति, बृहत्क्षेत्रसमास टीका, और सग्रहणीसूत्र।

नीचे का जो कुछ वक्तव्य है वह इन्ही ग्रन्थो के आधार पर समझना चाहिये—

१—त्रिलोकसार गाथा ३३२ मे समतल भूमि से ज्योतिष्को की ऊँचाई वताई है वहाँ चन्द्रमा से चार चार योजन ऊँचे नक्षत्र और वुध वताकर फिर उनसे तीन तीन योजन ऊँचे शुक्र, वृहस्पति, मगल और शनि के विमान वताये है। किंतु राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक मे कुछ फर्क है। वहाँ चन्द्रमा से नक्षत्र, वुध, शुक्र और वृहस्पति को तीन-तीन योजन ऊँचे वताकर फिर उनसे मगल, शनि को चार-चार योजन ऊँचे वताये है।

शेप सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दि० ग्रन्थो और कुछ एक श्वे० ग्रन्थो मे त्रिलोकसारवत् ही कथन है[1]। राजवार्तिकादि मे जिस उक्त च गाथा के आधार से उक्त कथन किया है वही गाथा सर्वार्थसिद्धि मे भी उक्त च रूप से दी है। सिर्फ उसके दूसरे पाद के थोडे से अक्षरो के उलट फेर हो जाने से कथन भेद हो गया है।

२—ज्योतिष्क विमानो के नाप मे भी मतभेद है। त्रिलोकसार मे राहु के विमान की चौडाई कुछ कम एक योजन की, वृहस्पति की कुछ कम एक कोशकी और तारो के विमानो की जघन्य पाव कोश, मध्यम आधकोश, उत्कृष्ट पौन कोश की वताई है। और जितनी जिसकी चौडाई है उससे आधी उसकी मोटाई निरूपण की है। किन्तु ग्रन्थातरो मे इनका कुछ और ही प्रमाण लिखा है। राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और हरिवशपुराण मे राहु की चौडाई पूरे एक योजन की तथा मोटाई ढाईसौ धनुष की ही वताई है। हरिवशपुराण और सिद्धातसार दीपक मे वृहस्पति की

---

१. हरिवशपुराण की हिन्दी टीका मे प० गजाधरलाल जी शास्त्री ने मगल से ऊपर शनिश्चर को चार योजन ऊँचा लिखकर शेष कथन त्रिलोकसार की तरह वताया है सो गलत है। मूल ग्रन्थ मे इस तरह है ही नही।

चौडाई पौन कोश की लिखी है। एव हरिवशपुराण और राजवार्तिक में तारो के विमानो का विस्तार जघन्य पाव कोश, मध्यम कुछ अधिक पाव कोश, और उत्कृष्ट आध कोश प्ररूपण किया है। यही पर राजवार्तिक मे लिखा है कि–"ज्योतिष्क-विमानाना सर्वजघन्यवैपुल्यं पचधनु शतानि।"

ज्योतिष्क विमानो का थोडा से थोडा विस्तार पाँचसौ धनुप का होता है इससे कम किसी का नही होता। (हिन्दी अनुवाद मे जो यहाँ 'वैपुल्य' का अर्थ मोटाई किया है वह भी ठीक नही हैं। क्योकि मोटाई तो पाँचसौ से भी कम ढाईसौ धनुप की राहु, शुक्र आदि की वता दी गई है) त्रिलोकसार मे शुक्र की मोटाई आधकोश, वृहस्पति की कुछ कम आध कोश और वुध, मगल, शनि की पाव पाव कोश की प्रतिपादन की है। (दो हजार धनुप का एक कोश होता है इसी को राजवार्तिक मे देखिये तो वहाँ इन सव की मोटाई मात्र ढाईसौ धनुप ही की लिखी है।

रही त्रिलोकप्रज्ञप्ति, सो उसमे भी त्रिलोकसार की भाँति ही कथन है। हाँ, पाठातर जो दिये हैं उनमे कुछ और कथन है। पाठातर की ११५वी और २०३वी गाथा मे लिखा है कि–"सभी ज्योतिष्क विमानो का जो विष्कभ है उतनी ही उनकी मोटाई है ऐसा लोक विभाग के कर्ता आचार्य कहते हैं। राहु की मोटाई ढाईसौ धनुप की लोकव्युच्छित्ति के कर्ताओ ने कही है।" ये दोनो गाथायें ऊपर उद्धृत हो चुकी हैं।

इस सम्वन्ध मे श्वेतावर आगमो मे निम्न प्रकार कथन मिलता है–

लोकप्रकाश मे लिखा है कि–"सर्वे ज्योतिर्विमाना हि निजव्यासार्द्ध-मुच्छ्रिता" सभी ज्योतिष्क विमान अपने अपने विस्तार से आधे-आधे ऊँचे है। उत्कृष्ट आयुवाले ताराओ के विमान अर्धकोश चौडे और पाव कोश मोटे है। तथा जघन्य आयुवाले ताराओ के विमान पाव कोश चौडे और ढाईसौ धनुप मोटे है। विदित हो कि शुक्र, वृहस्पति, वुध, शनि, मगल की चौडाई मोटाई किसी भी श्वे० ग्रन्थ मे उक्त दि० ग्रथो की तरह नही वताई है केवल सभी ग्रहो की चौडाई आध योजन और मोटाई

पाव योजन की वर्णन की है। इससे राहु की चौडाई भी आध योजन की ही हुई क्योकि राहु की गणना ग्रहो मे ही है। दि० ग्रन्थो मे राहु को एक योजन या उससे कम वताया है। दोनो सम्प्रदाय मे कितना फर्क पड गया है। शेप रहे सूर्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र सो इनके माप मे सभी जैनग्रन्थ एकमत है। सिर्फ ग्रह और तारो ही के माप मे मतभेद है।

३—त्रिलोकसार गाथा ३४२ मे चन्द्रकला की हानि वृद्धि होनेमे आचार्यो के दो मत दिये है। एक मत तो यह है "चन्द्रमण्डल अपने सोलह भाग मे से एक-दो भाग प्रतिदिन स्वयमेव कृष्ण और शुक्लरूप पन्द्रह दिन तक परिणमता रहता है।" दूसरा मत यह है कि 'उसका शुक्ल कृष्णत्व अध स्थित राहु विमान की गति विशेप से होता है।' यही दो मत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे भी दिये हैं। प्रथम मत का श्वेताम्वरो के किसी आगम मे उल्लेख नही है। इस सम्वन्ध मे उनके शास्त्रो मे इस प्रकार कथन है—

राहु के विमान दो प्रकार के हैं—एक नित्य राहु और दूसरा पर्व राहु। उसमे नित्य राहु कृष्ण और शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा के ६२ भाग मे से चार भाग को प्रतिदिन अपनी गति से क्रम से ढाँकता और उघाडता रहता है। होते-होते एक पक्ष में अर्थात् अमावस को चन्द्रमा के ६२ भाग मे ६० भाग राहु से ढक जाते हैं। शेष दो भाग सदैव प्रकट रहते हैं वे कभी नही ढकते। पर्व राहु के कारण ग्रहण होता है। पर्व राहु का विमान जव चद्र सूर्य के नीचे आ जाता है तो ग्रहण होता है। सूर्य चंद्र ग्रहण कम से कम ६ मास मे होता है । तथा अविक से अधिक चद्रग्रहण ४२ मास मे और सूर्यग्रहण ४८ वर्प मे होता है। सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होता है।

दिगम्वर सम्प्रदाय मे अमावस को सोलह भाग मे एक भाग या यो कहो कि ६४ भाग मे चार भाग चद्रमा का अनावरण रहना वताया है जव कि श्वे० मे ६२ भाग मे दो भाग अनावरण रहना वताया है। इसके अलावा दि० मे चन्द्रमा ६४ भाग मे ४ भाग प्रतिदिन कृष्ण-शुक्ल

पक्ष मे क्रम से ढकता उघडता रहता है। किन्तु श्वे० मे ६२ भाग मे ४ भाग ढकता उघडता रहता है। यानी वनिस्पत दि० के श्वे० मत मे चन्द्रविम्ब का वृद्धि-ह्रास अधिक होता रहता है। दि० के किसी ग्रन्थ मे चन्द्र सूर्यग्रहण का जघन्योत्कृष्टकाल का व्याख्यान देखने मे नही आया। सूर्यग्रहण भी पर्व राहु से न बताकर केतु से बताया है। त्रिलोकसारादि मे तो राहु के उक्त दो भेदो का भी कथन नही है। हाँ त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे दिन राहु और पर्व राहु का उल्लेख मिलता है।

४—त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि दि० ग्रन्थो मे ताराओ का अन्तर (एक दूसरे से फासला) जघन्य एक कोशका ७वाँ भाग, मध्यम ५० योजन व उत्कृष्ट एक हजार योजन का लिखा है।

श्वेताम्बरमत मे अन्तर दो प्रकार से वतलाया है—एक व्याघात और दूसरा निर्व्याघात। किसी चीज के वीच मे आ जाने से जो अन्तर पडता है वह व्याघात अन्तर है इससे विपरीत निर्व्याघात अन्तर है। निषध, नील पर्वत चार-चारसौ योजन ऊँचे है। जिन पर पाँच-पाँच सौ योजन की ऊँचाई लिए नव नव कूट है, इससे कूट समेत ये दोनो पर्वत पृथ्वी से नौ-सौ योजन ऊँचे हो जाते है। इसी के कारण ताराओ मे व्याघात अन्तर पड जाता है। उन कूटो की अग्रभाग की चौडाई २५० योजन की है तथा कूटो के दोनो तरफ आठ-आठ योजन की दूरी पर तारो के विमान विचरते है अत उनमे २६६ योजन का फासला रहता है।

(यह अन्तर त्रिलोकसार मे क्यो नही बतलाया ? इसलिए कि उसकी गाथा ७२३ मे उक्त कूटो की ऊँचाई केवल एक-सौ ही योजन की वताई है। जिससे व्याघात नही पडता [१] किन्तु आश्चर्य है कि राजवार्तिक मे

[१] त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे कूटो की ऊँचाई त्रिलोकसार जितनी ही लिखी होगी। अन्यथा ताराओ के अन्तर का कथन दोनो मे एक रूप से नही हो सकता था।

उन्ही कूटो की ऊँचाई श्वेताम्बरवत् बतलाई है। (उसके अध्याय ३ सूत्र ११ की व्याख्या मे न केवल निषध, नील के ही बल्कि छहो कुलाचलो के कूटो की ऊँचाई पाँच-पाँच सौ योजन और अग्रभाग की चौडाई २५० योजन की लिखी है। यह भी दि० आचार्यों मे बहुत बडा मतभेद समझना चाहिए। इससे भट्टारक अकलकदेव के मत से ताराओ का अन्तर त्रिलोकप्रज्ञप्ति से भिन्न होगा।)

५—सभी दि० ग्रन्थो मे पूर्व पश्चिम मध्यलोक के अत घनोदधिवातवलय तक ज्योतिष्को का होना लिखा है। किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थो मे ऐसा नही है उनमे तिर्यक् मध्यलोक के अन्तर से ११११ योजन भीतर तक ही ज्योतिर्गण बताये है।

६—त्रिलोकसार मे ज्योतिर्लोकाधिकार की करीब १२५ गाथाओ मे इस विषय का वर्णन है। जब कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे यही विषय छहसौ से ऊपर गाथाओ में निबद्ध किया गया है। तिस पर उसमें गद्यभाग फिर और है। इससे पाठक। यह न समझें कि 'प्रज्ञप्ति' की अपेक्षा त्रिलोकसार मे थोडा-सा कथन है। गाथा सख्या कम होते भी त्रिलोकसार मे 'प्रज्ञप्ति' का कोई विशेष तात्त्विक कथन नही छूटा है। जिस किसी एक बात के कहने मे 'प्रज्ञप्ति' मे सौ-पचास गाथायें भरी है उन सब का तात्पर्य त्रिलोकसार मे पॉच-चार गाथा मे ही आ गया है। वास्तव मे नेमिचन्द्राचार्य की तमाम ही रचनाओ मे गागर मे सागर भरा हुआ है। उनके बनाये ग्रथो को सूत्रग्रथ कहना चाहिये और इसीलिए उनके ग्रन्थ नामो के अन्त मे सार शब्द लगा हुआ है। जैसे त्रिलोकसार, लब्धिसार, गोम्मटसार। कोई-कोई बात त्रिलोकसार मे त्रिलोकप्रज्ञप्ति से भी अधिक मिलती है। जैसे त्रिलोकसार गाथा ३७१–३७२ मे जबू द्वीपवर्ती कुलाचलो और क्षेत्रो मे अलग-अलग तारासख्या प्रतिपादन की है। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्ति तो क्या किसी भी दि० ग्रन्थ मे नही है और न श्वे० ग्रन्थो मे ही है। इसके विपरीत कोई कथन त्रिलोकसार मे भी

छूट गया है। ज्योतिष्कविमान किस मणिविशेष के बने हैं यह वर्णन प्राय सभी दि० ग्रन्थो मे है पर त्रिलोकसार मे है ही नही।

७ निम्न कथन श्वेताम्बर शास्त्रो मे पाया जाता है पर दि० शास्त्रो मे नही मिलता—

(क) तत्त्वार्थाधिगमभाष्य की टीका मे लिखा है कि—

"तत्रैव स्थाने स ध्रुव परिभ्राम्यति, न तु मेरो प्रादक्षिण्येन गति प्रतिपद्यते, तथाहि तदद्यापि ध्रुवताराचक्रमाक्रातोत्तरदिक्क परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव।"

'चौथे अध्याय के १४ वे सूत्रकी व्याख्या'

अर्थ—उसी स्थान मे वह ध्रुवतारा घूमता है उसकी गति मेरुप्रदक्षिणा रूप नही है। आज भी उत्तर दिशा को ओर घूमते हुए ध्रुव तारा की प्रत्यक्ष से उपलब्धि होती है।

(ख) ठाणाग सूत्रादिक मे लिखा है कि–

'जम्बूद्वीप के चतुर्दिग्वर्ती चार ध्रुवतारो के निकट जो सप्तऋषी आदि अन्य तारे है उनकी गति ध्रुवतारो की प्रदक्षिणारूप है न कि मेरु प्रदक्षिणा रूप।'

(ग) सग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि–

लवण समुद्र की शिखा सोलह हजार योजन ऊँची है और ज्योतिष्क विमान नवसौ योजन तक ही ऊँचे है। अत वहा के ज्योतिष्क विमान सव उदकस्फटिक रत्न के है जिससे जल फट जाता है ताकि उन विमानो को फिरने मे कुछ बाधा नही पडती।

८ कुछ कथन ऐसा भी है जो दि० ग्रन्थो मे तो मिलता है पर श्वे० ग्रन्थो मे नही मिलता। जैसे ज्योतिष्को की किरण सख्या का कथन आदि।

और भी बहुत-सी बातें है जो यहाँ सकीर्णस्थान मे नही लिखी जा सकती। इतना सब कुछ होते भी वर्तमान मे जो कुछ बचा खुचा साहित्य

उपलब्ध है वह भी एकदम कम नही है। बल्कि आज तो उसके भी जानकार विरले ही है। इस विषय की सभी बातें किसी एक ही ग्रन्थ में नही मिलती। इधर-उधर बिखरी हुई है। साथ ही किसी एक ग्रन्थ मे बहुत-सी बातें स्पष्ट भी नही होती। अत मै बहुत अरसेसे एतद्विषयक एक ऐसी पुस्तक निकलने की आवश्यकता का अनुभव कर रहा था जिनमें सारे ही ग्रन्थो का सार खीचकर नवीन ढग से रख दिया गया हो। इसके लिए हमारे शास्त्री पडितो से तो कुछ आशा करना फिजूल है। क्योंकि इस विषय मे उन्हें बहुत उपेक्षा है और उसी के कारण उनमें एतद्विषयक अज्ञान छाया हुआ है।

समाज के एक प्रसिद्ध विद्वान् का हाल सुनिये—न्यायतीर्थ प० वशीधरजी शास्त्री सोलापुर ने तत्त्वार्थसार का हिन्दी अनुवाद किया है। उसके पृ० ११८ में सूर्य विमान का विस्तार बताते हुए लिखा है कि—

"अडतालीस योजन तथा एक योजनका इकसठवा भाग इतना व्यास है, कुछ इससे अधिक तिगुनी परिधि है। चौबीस योजन तथा एक योजन का इकसठवा भाग इतनी मोटाई ऊपर की तरफ है!" जैन ग्रन्थ चाहे वे श्वे० हो या दिगम्बर सभी में सूर्य का एक योजन से भी कम व्यास लिखा है तब न जाने यह अडतालीस योजन का सूर्य शास्त्रीजी ने कहाँ से लिख दिया। हद हो गई! जिन्हें इतनी मोटी-सी बात का ज्ञान नही उनसे और क्या आशा की जा सकती है?



गोत्रकर्म का संक्रमण

विश्व प्रचलित धर्मों मे जैनधर्म के सिवाय ऐसा कोई धर्म नही जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक समस्त जीवो को समान वतला कर समस्त जीवो की रक्षा करने का उपदेश देता हो और न ही कोई ऐसा मत है जो जीवमात्र को परमात्मा वन सकने का प्रतिपादन करता हो। इस दशा मे जैन धर्म से वढकर उदारता अन्यत्र कही नही पाई जा सकती।

किन्तु हमारे कतिपय महानुभाव इस उदारता मे भी त्रुटिका अनुभव करते हुए नीच गोत्री मनुष्य को उसी भव मे ऊँचगोत्री वना देने की उदारता की इच्छा जैनधर्म से और चाहते है। उनकी इस चाहना मे प्रमुख कारण आधुनिक राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण है।

हमारे वे महानुभाव अपने विचारो की जड जमाने के लिये जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त का आश्रय टटोलते है। उनका खयाल है कि गोत्र कर्म मे सक्रमण हो जाया करता है। तदनुसार एक मनुष्य जो नीच गोत्र के उदय से नीचकुल मे पैदा हुआ है अपने सदाचार से उन्नति करता हुआ अपने नीच गोत्र का सक्रमण कर के ऊँचगोत्र रूप करके ऊँच गोत्री हो सकता है। कर्मसिद्धान्त यदि ऐसा स्पष्ट विधान करता तो उस से आनाकानी करने का किसी को स्थान न होता और न उस दशा मे इस विपय पर मतभेद या दलवन्दी ही होती। अस्तु।

श्रीमान् प० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ एक उत्साही नवयुवक हे। उन्होने "जैनधर्म की उदारता" नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी है।

इस पुस्तक मे आप ने नीचकुली मनुष्य को उसी भव मे ऊँचकुली हो सकने के लिये युक्ति और आगम उपस्थित किया है।

आप ने "जैनधर्म की उदारता" के पृष्ठ १६ मे गोम्मटसार कर्म-काड का प्रमाण देते हुये लिखा है कि—

"असाता वेदनीय, अशुभगति, ५ सस्थान, ५ सहनन, नीचगोत्र, अपर्याप्त, अस्थिरादि ६, इन २० प्रकृतियो के विध्यात, अध प्रवृत्त और गुणसक्रमण होते है। अत जिस प्रकार असाता वेदनीय का साता के रूप मे सक्रमण हो सकता है उसी प्रकार से नीच गोत्र का ऊच गोत्र के रूप मे भी परिवर्तन होना सिद्धान्तशास्त्र मे सिद्ध है। अत किसी को जन्म से मरने तक नीच गोत्री ही मानना दयनीय अज्ञान है।"

इस प्रकार आपने वहाँ की डेढ गाथा से यह फलितार्थ निकाला है कि किसी नीच गोत्र वाले मनुष्य के नीच गोत्र कर्म पलट कर उच्च गोत्र हो जाने पर सत्ता मे उसके उच्च गोत्र कर्म ही विद्यमान रहेगा और तब वही उदय में भी आवेगा। इस लिये नीच गोत्र वाला मनुष्य अपनी उसी पर्याय मे उच्च गोत्री भी बन सकता है। ऐसा आपका खयाल है।

गोम्मटसार का वह प्रकरण ध्यान से देखने पर आपका यह विचार मुझे भ्रमपूर्ण जान पडता है। मालूम होता है आपने विध्यात, अध-प्रवृत्त और गुणसंक्रमण का मतलब यथार्थ नही समझा है। खाली सक्रमण के नाम से ही आप भूल मे पड गये दीखते है। अत. मै भी प्रथम सक्रमणो का स्वरूप यहाँ बतला देना आवश्यक समझता हूँ।

सक्रमण के ५ भेद होते है। उनके नाम और स्वरूप इस प्रकार है—उद्वेलन-प्रकृति की परमाणुओ मे उद्वेलन भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतनी परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप होना 'उद्वेलन सक्रमण' कहलाता है। मन्दविशुद्धि धारी जीव के जिसका बन्ध न पाया जावे ऐसी विवक्षित कर्म प्रकृति के परमाणुओ मे विध्यात भागहार का भाग देने से

जो लब्ध आवे उतनी परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप होना 'विध्यात सक्रमण' कहलाता है। कर्म की ऐसी विवक्षित प्रकृति जिसका कि वहाँ बन्ध सम्भव हो उसके परमाणुओ मे अध प्रवृत्त भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप होना 'अध प्रवृत्त सक्रमण' कहलाता है। किसी विवक्षित अशुभ प्रकृति के परमाणुओ मे सक्रमण भागहार का भाग देने से जो लब्ध आवे उतने परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना और यह परिणमन आगे प्रत्येक समय मे उत्तरोत्तर असख्यात गुणे होते जाना इस प्रकार का गुणाकार परिणमन 'गुणसक्रमण' कहलाता है तथा विवक्षित प्रकृति के परमाणुओ मे से अन्य प्रकृति रूप परमाणुओ के होते होते आखिर अन्त मे फालि रूप ही परमाणु बच रहे उनका भी अन्य प्रकृति रूप हो जाना 'सर्व सक्रमण' कहलाता है।)

विध्यात, अध प्रवृत्त आदि नाम किसी सख्या विशेष के है। इन नामो वाली सख्यायें कितनी कितनी होती है ? यह वर्णन कर्म काड गाथा ४३० से ४३५ तक है वहाँ देख लेवें। यहाँ विस्तारभय से नही लिखा जाता। गाथा ४०९ की टीका मे भी इन्हे भागहारो के नाम से ही उल्लिखित किया है। यथा—

"यै भागहारैः शुभाशुभ कर्म परप्रकृतिरूपेण परिणमति ते भागहारा उद्वेल्लनविध्याताध प्रवृत्तगुणसर्वसक्रमनामान पच सभवन्ति।"

अर्थ—(जिन भागहारो से शुभाशुभकर्म परप्रकृति रूप से परिणमता है वे भागहार उद्वेलन विध्यात, अध प्रवृत्त, गुण, सर्व ऐसे पाँच सक्रमण नाम के होते है।)

(सक्रमणो के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि आदि के ४ सक्रमण ऐसे है जिनमे किसी प्रकृति का पूरा सक्रमण नही होता है किन्तु उसके उतने ही हिस्से का सक्रमण होता है जितना कि ऊपर लिखित भागहार के भाग देने से लब्ध आता है। बाकी हिस्सा उस प्रकृति का वगैर सक्र-

मण हुये रहता है ।) ऐसी हालत मे आपने प्रमाण देकर जो नतीजा निकाला है वह सचमुच भूलभरा ही कहना चाहिये । (तमाम सक्रमणो मे केवल एक सर्वसक्रमण ही ऐसा है जिसमे विवक्षित कर्मप्रकृति का पूरा पूरा सक्रमण हो सकता है । ऐसी सर्वसक्रमणवाली ५२ कर्म प्रकृतियाँ है जिनके नाम गाथा ४१४, ४१५, ४१७ मे दिये है । उन नामो मे नीचगोत्र का नाम कतई नही आया है अगर नीचगोत्र का सर्वसक्रमण हो सकता होता तो इसका नाम भी जरूर दिया जाता ।)

इसके अलावा गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे जहाँ गुणस्थानो मे गोत्रकर्म के वन्धोदयसत्त्व को लेकर भग वताये गये हे वह भी आपके मतव्य के विरुद्ध ही पडता है । वह प्रकरण यो है—

मिच्छादि गोदभगा पण चदु तिसु दोण्णि अट्ठठाणेसु ।
एक्केक्का जोगिजिणे दो भगा होति णियमेण ॥६३८॥

इसकी सस्कृत टीका का अविकल अनुवाद निम्न प्रकार है—
"मिथ्यात्व गुणस्थान मे गोत्रकर्म के पाँच भग है—१–नीच का वन्ध, नीच का उदय, नीच-उच्च दोनो का सत्त्व, २–नीच का वन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का, ३–उच्चका वन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का, ४–उच्चका वन्ध, नीचका उदय, सत्त्व दोनो का । ५–नीच का वध, नीच का उदय, नीच का सत्त्व ।

सासादन मे उक्त पाँचो मे अन्तिम भग नही है । शेप चार भग हे । क्योकि उच्च गोत्र की उद्वेलनावाले तेजकायिक, वातकायिक जीवो के सासादन का अभाव हे । मिश्र, अविरत और देशविरत गुणस्थानो मे १–उच्चका वन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का २–उच्चका वन्ध, नीच का उदय, सत्त्व दोनो का ऐसे दो दो भग है । प्रमत्त से लेकर सूक्ष्मसापराय तक के गुणस्थानो मे उच्चका वन्ध, उच्चका उदय, सत्त्व दोनो का ऐसा एक एक भग हे । आगे सयोगकेवली तक गुणस्थानो मे वन्ध का अभाव होने से उच्चका उदय सत्त्व दोनो का ऐसा एक एक ही भग है ।

१४ वें गुणस्थान मे १–उच्चका उदय-सत्त्व दोनो का २–उच्चका उदय उच्चका सत्त्व ऐसे दो भग है।

इस कथन से विलकुल स्पष्ट हो जाता है कि पहिले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक ऐसा कोई भी गुणस्थान नही है जिसमे अकेले उच्चगोत्र का सत्त्व पाया जाता हो। ऐसी अवस्था मे गोत्र सक्रमण का सहारा लेकर नीच का उच्च होना जो सिद्धात दृष्टि से सिद्ध किया जाता है वह कितना अयुक्त और पोच है, यह हरएक के हृदयगम हो सकता है। दूसरे से १३वें गुणस्थान धारी जीवो मे कोई ऐसा जीव ही नही हो सकता कि जिसके नीच उच्च दोनो गोत्रकर्मकी सत्ता न पाई जाती हो। वल्कि १४वे गुणस्थान मे भी द्विचरमसमय तक दोनो गोत्र की सत्ता पाई जाती है। देखो गाथा ३५ वी। अव रहा प्रथम गुणस्थान सो उसमे जरूर एक गोत्र की सत्ता वताई गई है, लेकिन वताई गई है नीच गोत्र ही की। इससे नीच का उच्च होना तो वहाँ भी सिद्ध नही हो सकता। तथापि आप "जैनधर्म की उदारता" पुस्तक मे नीच का उच्च होना सिद्ध करते है।

(यदि कोई कहे कि नीच का उच्च होना सिद्ध नही होता तो न सही, लेकिन उच्च का नीच होना तो सिद्ध होता है क्योकि प्रथम गुण स्थान मे अकेले नीच गोत्र की सत्ता वाला भी भग वताया है और सर्व सक्रमण वाली प्रकृतियो मे भी उच्च गोच का नाम दिया है। इससे उच्चकुली मिथ्यादृष्टि पुरुप का उसी पर्याय मे नीचगोत्री हो सकने मे तो कोई वाधा नही है। इसका समाधान यह है कि—मिथ्यात्व मे केवल नीच गोत्र की सत्ता और उच्च गोत्र का सक्रमण जो सिद्धान्त मे वताया है वह तेज-कायिक, वातकायिक जीवो की अपेक्षा से वताया गया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे लिखा है कि—

उच्चुव्वेल्लिद तेऊ वाउम्मि य णीचमेव सत्त तु। अर्थात्—उच्च

गोत्र की उद्वेलना वाले तेजकायिक वातकायिक जीवो के नीच गोत्र की सत्ता होती है।

तथा ऊपर गाथा ६३८ की टीका मे सासादन गुणस्थान में अकेले नीच गोत्र की सत्ता वाला भग न होने का कारण वताते हुये लिखा है कि तेजकायिक, वातकायिक जीवो के सासादन गुणस्थान न होने से उस गुण-स्थान मे वह भग नही होता है।

इससे सावित होता है कि अकेले नीच गोत्र की सत्ता सिर्फ तेज-कायिक, वातकायिक जीवो मे ही पाई जा सकती है, दूसरो मे नही। अगर अन्यत्र भी पाई जाती होती तो उनका नाम नही दिया जाता और जो मनुष्य मे पाई जा सकती होती तव तो सासादन गुणस्थान मे उसका निषेध कभी किया ही नही जाता।

ऊपर के इस सारे विवेचन का मतलव यह हुआ कि गोत्र कर्म का सक्रमण होता है यह ठीक है पर पूरा सक्रमण उसकी उच्चगोत्र प्रकृति का ही होता है, नीच गोत्र प्रकृति का नही। और उच्च का भी पूरा सक्रमण तेजकायिक, वातकायिक जीवो को छोडकर दूसरो मे नही होता है। अत यह दृढता के साथ कहा जा सकता है कि मनुष्यो मे प्रायः गोत्र की नीच उच्च प्रकृतियो की एक साथ सत्ता सदैव नियम से पाई जाती है और तव उनके दोनो मे से कोई सा भी गोत्र आजीवन रह सकता है। इसमे कोई आपत्ति सिद्धान्त की दृष्टि से नही आ सकती है।

इसके सिवाय नीच गोत्र कर्म का नोकर्म नीच गोत्री माता-पिता के रज-वीर्य से वना हुआ शरीर है जो कि उसी भव भव मे किसी तरह वदल शरीर के विना वदले नीच गोत्री का भुज्यमान नही सकता है। नीचगोत्र कर्म उच्चगोत्र रूप नही हो सकता है।

●

चौबीस यक्ष यक्षियाँ

चौवीस तीर्थंकरो के गौमुख, महायक्ष, त्रिमुख, तुवर, मातग आदि २४ देव क्रमश यक्ष कहलाते है। और चक्रेश्वरी, काली, महाकाली, चामुंडा आदि २४ देवियाँ वर्तमानकाल के प्रत्येक तीर्थंकर की एक-एक यक्षिणी कही जाती है। यह याद रहे कि इन यक्षियो को ही 'शासन देवता' नाम से कहा गया है। अन्य देव-देवियो की शासन देव-देवी सज्ञा नही है ऐसा आशाधर ने अपने प्रतिष्ठा-शास्त्र मे निरूपण किया है। किन्तु यह स्पष्ट कही नही किया गया कि इन यक्षियो को यह खिताब क्यो मिला ? अन्य महर्द्धिक इद्रादिको तक को भी इस पद से वचित क्यो रक्खा गया ?

(इन देवो की पूजा करनी चाहिये या न करनी चाहिये यह सवाल तो बाद का है। पहिले हमे यह देखना है कि इनके अस्तित्व की सिद्धि भी प्राचीन और समीचीन जैन वाङ्मय से होती है या नही।)

पहिले हमने जैन सदेश मे दश दिग्पालो के विषय मे लिखा था और विद्वानो से यह जानना चाहा था कि इन दिग्पालो के अस्तित्व की सिद्धि करणानुयोगी प्राचीन जैन साहित्य से बताई जावे। उस लेख मे कितना ही ऊहापोह किया गया था "उसमे उठाये गये कितने ही प्रश्नो का उत्तर न देकर चूडीवाल जी ने मगलाष्टक व आदिपुराण का प्रमाण देकर सिर्फ दिग्पालो की दश सख्या बताने का उद्यम किया है। मगलाष्टक का कर्ता कौन है ? और वह किस समय की रचना है ? ऐसा कुछ बताये बिना उसका प्रमाण देना बेकार है। रहा आदिपुराण का प्रमाण सो उसका जो पद्य प्रमाण मे पेश किया है उसमे न तो दिग्पालो के नाम है और न दश सख्या ही। वह श्लोक भगवान् के जन्माभिषेक के समय का है उसमे इतना ही लिखा है कि

"उस समय दिग्पाल देव भी दिशा-विदिशाओ मे स्थित थे।" इस कथन से चूडीवाल जी ने दिग्पालो की दश संख्या कैसे समझी? कही लिखा हो कि "उस प्रतापी राजा के भय से उसके शत्रु दिशा-विदिशाओ मे भाग गये।" इस इबारत का अर्थ यह नही है कि उस राजा के दश ही शत्रु थे। चूडीवालजी को जान लेना चाहिये कि करणानुयोगी ग्रन्थो मे लिखा मिलता है कि देवो की इन्द्र सामानिक आदि जातियाँ होती है जिनमे से लोकपाल अपर नाम दिग्पाल नाम की भी जाति होती है और इस जाति के देवो की भी कितनी ही संख्या होती है। वे सब भी उस वक्त भगवान् के जन्माभिषेक के अवसर मे दिशाविदिशाओ मे यानी इधर-उधर खडे थे ऐसा स्पष्ट अभिप्राय आदिपुराण का है। इस प्रमाण से दिग्पालो की दश संख्या की सिद्धि कदापि नही हो सकती है। अस्तु,

आज हम इस लेख मे यक्ष-यक्षियो के सम्बन्ध मे भी नीचे लिखे विकल्प विद्वानो के सामने जिज्ञासा भाव से रखते है और आशा करते है कि वे उन पर गभीरता से विचार कर समाधान करेंगे कि ये यक्ष-यक्षियाँ काल्पनिक है या वास्तविक? (१) ये यक्ष-यक्षियाँ पूर्वजन्म मे कौन थी? और ये जिस तीर्थंकर की कहलाती है उनके साथ इन्होंने कौन सा ऐसा विशिष्ट कार्य किया जिससे उनकी कहलाई इत्यादि इनका कोई चरित्र आगम मे लिखा क्यो नही मिलता है। धरणेन्द्र और उसकी देवी श्री पार्श्वनाथ स्वामी का उपसर्ग निवारणार्थ आई थी यह कथा भी पार्श्वनाथ की यक्ष-यक्षी की नही है। धरणेन्द्र और उसकी देवी ये पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी है ही नही। पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम तो धरण या मातग है न कि धरणेन्द्र और पद्मावती। यह नाम पार्श्वनाथ की यक्षिणी का है न कि धरणेन्द्र की देवी का। धरणेन्द्र की देवी का नाम किसी भी करणानुयोगी ग्रन्थ मे पद्मावती लिखा नही मिलता है। इस सम्बन्ध मे विस्तृत विचार हमने इसी पुस्तक मे अन्यत्र किया है।

२—यह भी बताया जावे कि क्या इन यक्ष-यक्षियो का परस्पर मे दाम्पत्य सम्बन्ध है या सम्बन्धित नही है ?

३—जब कि महापुराण मे चौबीस ही तीर्थंकरो का विस्तृत चरित्र लिखा मिलता है। यहाँ तक कि प्रत्येक तीर्थंकर को आहारदान देने वाले तक का भी नाम, ग्राम लिखा मिलता है तो महापुराण मे किसी भी तीर्थंकर के चरित्र मे इन यक्ष-यक्षियो मे से जो कि बहुत अधिक जिनभक्त और शासनदेवता कही जाती है किसी एक का भी उल्लेख क्यो नही है ?

४—तीर्थंकर की माता की सेवा मे आने वाली षट्कुलाचलवासिनी और रुचकवासिनी आदि देव-देवियो के जैसे नाम आते है वैसे इन यक्ष-यक्षियो के भी अगर वास्तव मे ये होते तो अवश्य कही न कही नाम आते।

५—क्रियाकाडी जैनसाहित्य को छोडकर शेष करणानुयोगी आदि साहित्य मे इनका उल्लेख क्यो नही है ? यह खास विचारणीय है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति मे जरूर इनके नाम मात्र लिखे मिलते है। किंतु त्रिलोक-प्रज्ञप्ति की श्लोक सख्या स्वय ग्रथकार ने आठ हजार प्रमाण लिखी है जबकि उपलब्ध त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे नव हजार श्लोक सख्या पाई जाती है। अत यह अवश्य मानना पडेगा कि उसका बढा हुआ अश प्रक्षिप्त है। सभव है यक्ष-यक्षियो की नामनिर्देशक गाथायें उसमे क्षेपक हो। यह सभावना इसलिए भी ठीक कही जा सकती है कि ये गाथायें प्रक्षिप्त नही होती तो इनका अनुसरण इसके उत्तरवर्ती त्रिलोकसार राजवार्तिक आदि ग्रथो मे भी किया जाता। अलावा इसके त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे जहाँ ये गाथाये दी है वह प्रकरण समवशरण का है। विषय चल रहा है कि "कोठो मे बैठने वाले प्राणियो के भगवान् के माहात्म्य से रोग, मरण, पीडा आदि नही होते है।" इसी के आगे बिना प्रकरण के ही इन यक्ष-यक्षियो के नाम लिख दिये गये है। समवशरण में कोई इनका काम भी

यहाँ नही बताया गया है, यो ही खाली इनके नाम गिना दिये गये है। इस प्रकार ये गाथायें यहाँ बिलकुल बेतुकी सी जचती है और साफतौर पर क्षेपक होने की आशका पैदा करती है।) (देखो चौथे अधिकार की गाथा न० ९३४ आदि)

६—अन्य मत मे काली, महाकाली, चामुण्डा आदि अद्भुत शक्तिशालिनी देवियो की मान्यता की ओर जनता को आकर्षित होता देख कर जैनमत मे भी उन्ही के कुछ नामो मे अपने नये नाम मिलाकर और उनके साथ तीर्थङ्करो का सम्बन्ध जोडकर इन चौवीस यक्षियो की कल्पना कर डाली है। यह बात इनके 'जिन शासन देवता' इस नामकरण से ही प्रकट हो जाती है। सोमदेव ने भी यशस्तिलक मे 'ता' शासनाधिरक्षार्थं कल्पिता परमागमे।" वाक्य लिखकर इनको कल्पित ही बताया है। प० पन्नालालजी सोनी को उक्त वाक्य मे आया 'कल्पिता' शब्द खटका है इसलिये उन्होने 'शासन देव पूजा के अनुकूल अभिप्राय' नामक पुस्तक मे 'कल्पिता परमागमे' के स्थान मे 'मानिता परमागमे' पाठ बदलकर रखा है जो नितान्त अनुचित है। श्री मुख्तार साहब ने यशस्तिलक के 'चत्वारश्च विधोचिता' पाठ के स्थान मे 'चतुर्थश्च विधोचित.' पाठ बदल कर लिखा सो उन्होने तो अर्थ समझ मे न आने के कारण भ्रान्ति से उसे अशुद्ध खयाल कर अपनी तरफ से शुद्ध पाठ बनाकर लिख दिया जिस पर तो विपक्षी पण्डितो ने होहल्ला मचाया परन्तु सोनीजी ने जो उक्त वाक्य बदला वह क्या समझकर बदला सो भी तो बताया जावे जिसका प्रतिवाद आज तक इन पण्डितो मे से किसी एक ने भी नही किया है।

७—भगवान् की सेवा मे भाग लेने वाले सौधर्मेन्द्र, कुवेर, अग्नीन्द्रकुमार आदिको के नाम तो तीर्थङ्करो के चरित्रो मे मिलते है। किन्तु इन चौवीस यक्ष-यक्षियो ने भगवान की किसी सेवा मे भाग लिया हो ऐसा-कुछ भी लिखा मिलता नही है तब यह कैसे माना जाये कि ये यक्ष-यक्षियाँ भगवान की बडी भक्त हुई है।

८—अकृत्रिम प्रतिमाओ के अगल-वगल मे हाथ मे चामर लिये इन यक्ष-यक्षियो की मूर्तियाँ होती है यह कहना भी गलत है। त्रिलोकसार, राजवार्तिक, त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थो मे तो अकृत्रिम प्रतिमाओ के दोनो बाजुओ मे ३२ नागकुमारो व यक्षो को चामर हाथो मे लेकर पक्तिवद्ध खडे रहना बताया है। वहाँ न चौवीस सख्या का निर्देश है न यक्षियो का उल्लेख ही। आदिनाथ पुराण मे जहाँ कि श्री जिनसेन स्वामी ने श्री ऋषभदेव के समवशरण और उनके प्रातिहार्यो का विस्तृत वर्णन किया है वहाँ भी श्री ऋषभदेव की यक्षिणी चक्रेश्वरी और यक्ष गौमुख का कही नाम तक नही लिखा है। चामर ढुरानेवालो की सख्या भी वहाँ दो लिख देते तो कदाचित् इनको उपपत्ति किसी तरह बैठाई जा सकती परन्तु वहाँ तो चामर ढोरने वाले भी ६४ यक्ष लिखे है।

९—वर्तमान चौवीसी के तीर्थङ्करो मे से कितने ही तीर्थङ्करो को हुये सैकडो हजारो सागर काल व्यतीत हो चुका है। उनसे सम्वन्धित इन यक्ष-यक्षियो में से कइयो की अपनी-अपनी पर्याय भी कभी की खतम हो चुकी ऐसी हालत मे जब वे रहे ही नही तो उनका आह्वानादि कर उनसे विघ्ननिवारण की आशा रखना वृथा है। यदि कहो कि उनके स्थान मे दूसरे जीवो ने आकर जन्म लिया, वे ही फिर ये यक्ष-यक्षी कहलाने लगे तो यह भी वात वनने जैसी नही है क्योकि जिन्होने भगवान् की कोई विशिष्ट भक्ति आदि ही नही की वे उस स्थान मे जन्म लेने मात्र से ही आदर के पात्र कैसे हो सकते है ?

ऐसा मालूम पडता है कि इन क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो को छोडकर वाकी किन्ही भी मूलसघ के प्राचीन जैनग्रन्थो मे इन चौवीस यक्षो और चौवीस यक्षियो का कही भी नाम निशान नही है। जबतक ऊपरलिखित मुद्दो के सन्तोषजनक उत्तर न हो जाये तव तक इन्हे काल्पनिक ही माना जायेगा। और जबकि इनका अस्तित्व ही खपुष्पवत् है तो ऐसी अवस्था

मे इनका आदर सत्कार करने न करने का तो हाल सवाल ही उठाना निरर्थक है।

आशाधर प्रतिष्ठापाठ अध्याय १ श्लोक ७७ मे लिखा है कि–प्रतिमा के सामने भाग पर तीर्थङ्कर का चिह्न हो, दक्षिणी पसवाडे मे यक्ष और वाम पसवाडे मे यक्षिणी हो। इस विषय मे और भी आगे बढ़ते हुए अन्य क्रियाकाण्डी जैनग्रन्थो मे लिखा है कि–प्रतिमा के अधोभाग मे नवग्रह, मध्य मे क्षेत्रपाल, बाईं ओर यक्षी और दक्षिण में यक्ष हो। (देखो चर्चासागर पृ० ४४)

(इस प्रकार इन ग्रन्थो मे वीतराग प्रतिमा के चारो ओर सरागी व काल्पनिक देवो का घेरा डालकर एक तरह से जैनधर्म का आदर्श और मूर्ति-पूजा का उद्देश्य ही खत्म कर डाला गया है। आशाधर आदि ने यहाँ इन यक्ष-यक्षियो के हाथ मे चामर लेकर खडे रहने की बात भी नही लिखी है। फिर जिनबिम्ब के अगल-बगल मे इनको यो ही खाली खडे रखने का क्या तात्पर्य है यह कुछ समझ मे नही आता है। अकृत्रिम प्रतिमाओ के वर्णन मे तो न कही यक्षिणी लिखी है न नवग्रह क्षेत्रपाल ही। वहाँ तो भगवान् की महिमा के द्योतन के लिये चामर हाथ मे लिये देवो का खड़ा रहना बताया गया है। यही चीज हम वर्तमान मे उपलब्ध कुछ खड्गासन मूर्तियो के साथ भी देखते है कि चामर लिये हुये दो देव प्रतिमा के अगल-बगल मे खडे है।

मूलसघ के ग्रन्थो मे कही भी इन शासन देव-देवियो का उल्लेख नही है। प० आशाधरजी ने इनका प्रतिपादन किया भी है तो साथ ही उन्होने अपने बनाये प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय ३ श्लोक १२७ मे ऐसा लिखा है—"इन यक्षो की पूजा ऐहिक फल प्राप्ति की इच्छा से वे करते है जो अव्युत्पन्नसम्यग्दृष्टि है।" तथा यही बात उन्होने उसी प्रतिष्ठासारोद्धार के ६वे अध्याय श्लोक ४३ मे लिखी है। सागार धर्मामृत मे भी इन्होने ऐसा लिखा है कि—"आपदाकुलितोऽपि दार्शनिक शासन-

देवतादीन् कदापि न भजते ।" अर्थात् आपदा आ पडने पर भी सम्यग्दृष्टि श्रावक शासन देवो की कदापि आराधना नही करता है ।

इसी तरह श्रुतसागर ने अभिषेक पाठ सग्रह के पृष्ठ १६८ पर प्राकृत गद्य मे आये अरिहत के विशेषण "देवपरिपुज्जिदाय" शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"अदेवा –हरिहरहिरण्यगर्भादय , कुदेवा –व्यतरादयः, देवा –कल्पवास्यादय एतेषा त्रिविधानामपि देवाना परि समतात् पूजितस्तस्मै ।" इसमे हरि हर ब्रह्मा को अदेव, कल्पवासी-कल्पातीत देवो को देव और व्यतरादिको को कुदेव बताया है । और इस तरह श्रुतसागर ने स्पष्टतया व्यतरादि भवनत्रिक देवो की गणना कुदेवो मे की है । धरणेन्द्र, क्षेत्रपाल, नवग्रह, यक्ष, पद्मावती-चक्रेश्वरी आदि यक्षिणियाँ जयादि व रोहिणी आदि देवियाँ इत्यादिको का अन्तर्भाव भवनत्रिको मे ही किया जाता है । इस कथन से जो इनकी पूजा करते है वे कुदेवपूजक ही कहलावेगे । किन्तु श्रुतसागर इनको कुदेव बताते हुए भी इनकी आराधना का विधान करते है यह उनकी वेढंगी कथन शैली है । आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी तो रागी-द्वेषी देवो की उपासना करने को देवमूढता बताते है और कुदेव पूजा के निषेध मे यहाँ तक लिखते है कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम् ।
प्रणाम विनय चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टय ॥

—रत्नकरड श्रावकाचार

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि है वे भय-आशा-स्नेह और लोभ से भी कुदेव कुशास्त्र और कुसाधुओ का प्रणाम विनय नही करते है ।

●

जैनतिथि और व्रततिथि

बाजारो मे मिलने वाले पचागो मे जो तिथियाँ लिखी हुई रहती है वे ही क्या जेन तिथियाँ है? या जैन तिथियाँ अन्य तरह से होती है? और वे कैसे होती हे? तथा जैनतिथि और व्रततिथि मे क्या कुछ भेद है? इन्ही विषयो पर नीचे कुछ प्रकाश डाला जाता है। इस विषय मे "जैन-गजट वर्ष ३८ अक ९ और १६ मे हमने पहले बहुत कुछ लिखा है।[1]

पचागो मे जो तिथियाँ लिखी रहती है वे मात्र सूर्योदय की अपेक्षा को लेकर होती है। यानी सूर्योदय के वक्त जो तिथि होगी वही सारे दिन मानी जायेगी चाहे वह कुछ पलो ही की क्यो न हो। और जो तिथि सूर्योदय के बाद शुरु होकर अगले दिन के सूर्योदय से पहिले ही खतम हो जाती है वह पचागो मे क्षय कर दी जाती है। तथा जो एक ही तिथि दोनो दिन के सूर्योदय के वक्त पाई जाती है तो वह पचाग मे दोनो दिन मानी जाती है। इसे ही वृद्धि तिथि कहते है। ६० घडी का अहोरात्र (दिनरात) होता है। अगर सब ही तिथियाँ साठ-साठ घडियो की होती तो तिथि की क्षय वृद्धि का अवसर ही नही आता। हरएक तिथि का प्रमाण ५४ से ६६ घडियो के बीच होता है अर्थात् कम से कम ५४ घडी और कुछ पलो की व अधिक से अधिक ६५ घडी और कुल एक पलो की एक तिथि होती है। इसके लिए

---

१ उस वक्त सम्पादक प० खूबचन्दजी ने हमारे लेख पर जो अपना अभिमत प्रकाशित किया है वह इस प्रकार है—लेखक महोदयने जो रीति लिखी है वह सचमुच मे निर्दोष, सरल और आगम तथा जैनाम्नाय के अनुकूल है। इन्दौरवाले गोधाजी के जैनतिथिदर्पण की जो लेखक ने समालोचना की हे वह भी हमारी समझ से बहुत उचित हे। गोधाजी, कटारिया जी के लेख का आशय भले प्रकार समझे नही है।

ज्योतिष मे एक सूत्र भी है—"बाण (५) वृद्धि, रस (६) क्षय ।" इसी से कभी-कभी तिथि का वृद्धिह्रास हो जाया करता है ।

जैनमत मे तिथि व्यवस्था उपर्युक्त प्रकार से नही मानी जाती है। तिथि की मान्यता उसमे इस प्रकार है कि—सूर्योदय के वाद छह घडी या उससे ऊपर तक जो तिथि रहती है वह जैनमत मे उस सारे दिन मानी जाती है । जो तिथि सूर्योदय के वाद ६ घडियो से कम रहती है तो वह जैनमत मे कतई नही मानी जा सकती । पचाग मे जिस प्रकार सूर्योदयको आधार मानकर ऊपर तिथि का वृद्धिह्रास वताया गया है, उसी प्रकार जैनमत मे उदय की ६ घडी के आधार पर तिथि का वृद्धिह्रास होता है । अर्थात् जैसे पचाग मे प्रथम दिन सूर्योदय के वाद से शुरू होकर अगले दिन के सूर्योदय से पहिले ही पूर्ण हो जाने वाली तिथि क्षय तिथि मानी जाती है, उसी तरह जैनमत मे जो तिथि प्रथम दिन मे सूर्योदय से ६ घडी वाद शुरू होकर अगले दिन सूर्योदय के ६ घडी वाद से पहिले ही पूर्ण हो जाती है वह क्षय तिथि मानी जाती है । किन्तु जैनमत की वृद्धि तिथि समझना जरा कठिन है । (कारण कि पचाग में जो वृद्धि तिथि होती है वह दोनो दिन सूर्योदय के वक्त आ जाने से होती है । इसी तरह जैनमत मे भी प्रथम दिन सूर्योदय से ६ घडी या उससे ऊपर तक अगर एक ही तिथि आ सकती होती तो वृद्धि तिथि हो जाती और यह तव हो सकता था जव कि तिथि का प्रमाण ६६ या उससे ऊपर की घडियो का होता ।) परन्तु किसी भी तिथि का प्रमाण अधिक से अधिक ६५ घडियो और कुछ पलो से अधिक नही होता है पूरी ६६ घडियो की भी कोई तिथि नही होती । (इसलिए जैनमत मे दो तिथि किसी दूसरे ही ढग से होती है। उसे वतलाने के पहिले मै यह समझा देना चाहता हूँ कि तिथि का अधिक से अधिक प्रमाण जैसे ऊपर वताया गया है उसी तरह हर एक तिथि का कम से कम प्रमाण ५४ घडियो और कुछ पलो का होता है।

इससे कम तिथि नही होती है। मतलब यह है कि तिथि ५४ से ऊपर और ६६ से नीचे बीच में कितनी भी घडियो की हो सकती है। किन्तु हर एक तिथि परी को पूरी अहोरात्र भर मे कभी आ भी सकती है और नही भी आ सकती है। कितनी ही बार एक ही अहोरात्र मे कुछ भाग एक तिथि का रहता है और कुछ भाग दूसरी तिथि का। शेष भाग उनके अगले पिछले दिन मे भुगतते रहते है। (जैसे शुक्रवार को अष्टमी १५ घडियो की है अर्थात् सूर्योदय से लेकर १५ घड़ियो तक अष्टमी रही, ४५ घटियो तक इसी शुक्रवार को नवमी रहेगी। अष्टमी का शेष भाग पूर्व दिन बृहस्पतिवार को भुगता है और नवमी का शेष भाग अगले दिन शनिवार को भुगतेगा। इस उदाहरण मे अष्टमी उदय तिथि कहलायेगी क्योंकि वह शुक्रवार को सूर्योदय के वक्त थी। तथा नवमी अस्ततिथि कहलायेगी क्योंकि वह शुक्रवार को सूर्यास्तके वक्त रही है। इस तरह कई दिनो तक लगातार प्रत्येक-प्रत्येक दिन मे दो-दो तिथि चला करती है। ऐसी हालत मे दो तिथि मे एक दिन कौन-सी तिथि मानी जावे यह समस्या आके खडी हो जाती है। इस समस्या को हल करने के लिए पंचागो मे तो यह नियम रक्खा गया कि जो तिथि सूर्योदय के वक्त पाई जावे वही उस अहोरात्रभर मे मानी जावे और जैनमत मे यह नियम रक्खा कि सूर्योदय वाली तिथि उस हालत मे उस दिन मानी जावे जब कि वह कम से कम उस दिन छह घडी तक रहती हो। जैसा कि शास्त्र के निम्न पद्यो से प्रकट है—

सूर्योदयात्पड्घटिकाप्रमा चेत् तिथिस्तदा स्यात् सकला व्रतेषु।
धर्मादिकार्येष्वखिलेषु गण्या वदति ता धर्मविदो यतीन्द्रा ॥
मुहूर्तैश्च त्रिभिर्न्यूना तिथिर्यत्र भवेत् खलु।
सा तिथिर्नैव मान्या हि जैनमार्गानुयायिभि ॥

अर्थ—यदि सूर्योदय से ६ घडी प्रमाण तिथि हो तो उसे धर्मज्ञ यतीश्वरो ने व्रत और सभी धर्मादि कार्यो मे पूर्ण मानी है।

और जो तीन मुहूर्त कहिये ६ घड़ी से कम उदय तिथि हो तो जैनियो को नही मानना चाहिये ।

(यहाँ यह विचारणीय है कि जिस दिन ६ घडी की उदय तिथि आवेगी उसी दिन ५४ घडी की अस्त तिथि आवेगी तो उसे नही माना जावेगा । किन्तु जब किसी दिन ६ घडी से कम उदय तिथि आवेगी तो उसी दिन ५४ घडी से ऊपर अस्ततिथि आवेगी वह मान ली जायेगी ।) इसका फलितार्थ यह हुआ कि जैनमत मे दो प्रकार की तिथि मानी जाती है । एक तो छह घडी की या इस से ऊपर की उदय तिथि और दूसरी तरफ ५४ घडी से ऊपर की अस्ततिथि । यद्यपि ६ घडी से कम की उदय तिथि नही मानने से ही यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि उस दिन की अस्ततिथि मानना । फिर भी हम अस्ततिथि माननेका शास्त्र प्रमाण दे देते है—

त्रिमुहूर्तेपु यत्रार्क उदेत्यस्त समेति च ।
सा तिथि सकला ज्ञेया उपवासादिकर्मणि ।

—पद्मदेवकृतव्रतविधाने

अर्थ—उपवासादिकार्य मे वह तिथि पूर्ण मानी जाती है जिममे तीन मुहूर्त तक सूर्य-उदय-रहता है । अथवा जिस तिथि मे सूर्यास्त रहता है ।

(इसी अर्थ का द्योतक श्लोक न० ५१ प० आशाधर जी कृत "अनगारधर्मामृत" के ९वें अध्याय मे भी है । वर्तमान के कुछ पडितोने इस श्लोकका उदयकी तरह अस्त मे भी तीन मुहूर्त होना अर्थ किया है सो गलत है । ऐसे अर्थ की कुछ सगति नही बैठती है ।)

जो तिथि ५४ घडियो से ऊपर की होती है वह एक तरह से पूर्ण तिथि ही है क्योकि तिथि का कम से कम प्रमाण ५४ घडी और कुछ पलो का होता है जैसा कि ऊपर बताया गया है । ऐसी पूर्ण तिथि जब एक ही अहोरात्र के अन्दर आ जाती है तो वह मानी जानी चाहिये ही ।

इसी के लिए तो ६ घडी से कम की उदय तिथि अमान्य ठहराई गई है ताकि इसके स्थान मे उस दिन वह मानी जा सके। अगर ६ घडी से कम की उदयतिथि भी मान ली जाती तो अस्त की पूर्ण तिथि जो उसी दिन है छूट जाती। बस यही रहस्य छह घडी उदय तिथि मानने का है जो बडी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का सूचक है।

शका—एक ही दिन मे आनेवाली दो तिथियो मे छह घडी की तिथि तो मान लेना और ५४ घडी की तिथि छोड देना ऐसा क्यो ?

समाधान—लगातार कई दिनो तक प्रतिदिन दो-दो तिथि होने पर दोनो मे से किसी एक को मानने से ही तिथि का सिलसिला बराबर आगे तक चल सकता है इसलिये दोनो मे एक को मान लो चाहे वह थोडी ही घडियो की हो।

शका—दोनो मे जो अधिक घडियो की हो उसे मान लेने पर भी तिथि का सिलसिला तो चल सकता था।

समाधान—जब एक ही दिन में बराबर की घडियों की दो तिथि आती तो किसे मानते। इसलिये किसी एक ही को सदा मानने का नियम तो होना ही चाहिये।

शंका—यदि ऐसा है तो उदय तिथि को ही प्रधानता क्यो दी ?

समाधान—इसका कारण यह है कि विशेष कर नित्य कर्म, धार्मिक अनुष्ठान व लौकिक व्यवहार भी दिन ही मे हुआ करते है रात्रि तो अधिकतया शयन मे ही बीतती है। इसलिए उदय तिथि को प्रधानता दी है।

शका—छह घडी से कम की उदय तिथि न मानने का ही नियम क्यो रक्खा गया ? सात आठ आदि घडियो से कम की उदय तिथि न मानने का रखते तो क्या हर्ज था ?

समाधान—किसी एक अधूरी तिथि को पूरी माने बिना आगे तक तिथियो का सिलसिला बराबर चल नही सकता इसलिये ऐसी एक उदय तिथि ६ घडी की मान ली। बाकी तिथि पूरी ही मानी गई। अगर सात

आठ आदि घडियो से कम की उदय तिथि भी न मानी जाती तो उस दिन अधूरी अस्ततिथि माननी पडती। तब उदय और अस्त दोनो ही तिथियाँ अपूर्ण मानने मे आती जो ठीक नही होता।

शंका—पचाग की तरह केवल उदय मात्र तिथि मानने मे क्या खराबी है?

समाधान—यह कि उस दिन की पूर्ण अस्ततिथि उसी दिन नही मानी जाती। इसलिये तिथि विधान मे जैन आम्नाय ही ठीक मालूम होती है।

ऊपर हमने जैन क्षय तिथि कैसी होती है यह बतलाया था। अब हम इस विवेचन के बाद जैन सम्मत वृद्धि तिथि होना बताते है—

ऊपर यह बतलाया गया है कि—सूर्योदय के बाद छह घडी पहिले जो तिथि लगती है वह अस्ततिथि कहलाती है और वही उसी दिन मानी जाती है। फिर वही तिथि अगर अगले दिन भी सूर्योदय से छह घडी या उसके बाद तक चली जाती है तो वह दूसरे दिन भी मानी जाती है। बस यही हिसाब जैनमत मे दो तिथि होने का है।

पचाग से जैन तिथि निकालने का तरीका—

किसी इच्छित पचाग को खोलकर देखिये उसमे प्रत्येक तिथि के आगे एक खाने मे उसकी घडियाँ लिखी मिलेगी। जिस तिथि के सामने जितनी घडियाँ लिखी है उसका मतलब है कि वह तिथि उस दिन सूर्योदय के बाद उतनी घडियो तक रही है। बाद मे उसी दिन अगली तिथि लग गई है। अगर किसी वार को तिथि के आगे छह या छह से अधिक घडियाँ लिखी हो तो उस वार को वही तिथि समझना चाहिये। और जो किसी वार

१ सोदय दिवस ग्राह्य कुलाद्रिघटिका प्रमम्।
अर्थात्—कुलाद्रि (षट्कुलाचल) यानी ६ घडी प्रमाण उदय तिथि माननी चाहिए। यह तिथि नियमन के लिए जैनसूत्र है। Most Imp

को तिथि के आगे छह से कम घडियाँ लिखी हो तो उस वार को अगली तिथि माननी चाहिये। मतलब कि जिस तिथि के सामने कम से कम छह घडी हो तो वह पचाग की तिथि ही जैन तिथि हो जावेगी। किन्तु जिस तिथि के आगे ६ से कम घडियाँ लिखी होगी तो पचाग की वह तिथि जैन तिथि न होकर उस दिन उसकी अगली तिथि होगी। इस दृष्टि को ध्यान मे रखने से अपने आप क्षयतिथि और वृद्धि तिथि भी निकल आवेगी। जैन तिथि निकालते वक्त यह बात ध्यान मे रखने की है कि—पचागो मे जो तिथि क्षय बताई हो उसे छोड देना चाहिए क्योकि उसका वार (दिन) वही लिया रहता है जो उससे पूर्व की तिथि का है अत उसे छोडकर ही चलना चाहिए ताकि भ्रम में न पड़े। पचागो मे जो तिथि क्षय बताई जाती है उसके 'योग' के खाने मे सदा 'क्षय' लिखा रहता है और उस तिथि के आगे अनेक शून्य ० दी हुई रहती है यह पचाग की क्षय तिथि की पहचान है।

तिथि क्षय वृद्धि के विषय मे एक निष्कर्ष यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि—पचागो मे जिस तिथि को क्षय बताई हो जैनाम्नाय मे सदा उससे पूर्व की १-२ तिथियो मे ही क्षय तिथि आती है और पचागो मे जो तिथि वृद्धिगत बताई हो जैनाम्नाय मे सदा उसके आगे की १-२ तिथियो मे ही वृद्धि तिथि आती है।

(ऊपर भी हमने तिथि के वृद्धिह्रास के बाबत खूब स्पष्ट कर दिया है। उसे भी ध्यान मे रख लेना चाहिये। जैन तिथि निकालने की यह ऐसी सरल तरकीब है कि कोई भी सज्जन पचाग को देख कर बडी आसानी से जैन तिथि निकाल सकता है पहिले इसी तरह सब निकालते थे। अब तो लोग सीधे बने तिथि दर्पणो को देखकर ही काम चलाने लगे है। जिससे भारी हानि यह हुई कि जैन जनता जैन तिथि निकालने की विधि ही भूल बैठी। जिसका फल यह हुआ कि कतिपय तिथि दर्पणो की गलत तिथियाँ भी मानी जाने लगी है।)

अब हम पचाग से एक नमूना दिये देते है और उसी के आगे जैन मान्यतानुसार फलित होने वाली जैन तिथि और जैन-क्षय-वृद्धि तिथि भी एक कोष्ठक मे बता देते है इससे आप इस विषय को भली भाँति समझ सकेंगे और इसी रीति से पचागो की तिथियो से जैन तिथिया अनायास निकाल सकेंगे।

—श्रावण शुक्ल पक्ष स० २०१३—

योग	तिथि	वार	घडी	पल	वार	जैन तिथि—
	३	गुरु	७	२६	गुरु	३
					गुरु	चौथ क्षय
	४	शुक्र	३	२६	शुक्र	५
	५	शनि	०	३२	शनि	६
क्षय	६	शनि	५८	४५०००००००००००००००		+
	७	रवि	५८	१२	रवि	७
	८	चद्र	५८	५८	चद्र	८
	९	मगल	६०	०	मंगल	९
	९	वुध	१	०	वुध	१०
	१०	गुरु	४	१०	गुरु	११ दो ग्यारस
	११	शुक्र	८	१९	शुक्र	११

जैन तिथियो के लिये अलग जैन पचाग निकालने की भी कोई जरूरत मालूम नही होती है। प्रचलित पचाग ज्योतिप शास्त्र के अनुसार ही निकलते है और उन्ही से जैन तिथियाँ निकाली जा सकती है। इसके अलावा सारे जैन समाज मे एक व्रत तिथि मानना भी नही वन सकता है। क्योकि दूरवर्ती देशभेद के कारण सब पचागो की तिथियाँ समान घड़ियो की नही हो सकती और अपने अलग-अलग देशो मे अलग-अलग पचाग मानने से तिथियो मे फर्क भी अवश्य रहेगा ही। हाँ पचाग से

जैनतिथि निकालने की जो विधि है उसमे विद्वानो को एकमत हो जाना चाहिये। इस सम्बन्ध मे जो गल्ती पर है उन्हे युक्त्यागम से निर्णय कर अपनी गल्ती सुधार लेना चाहिए।

कुछ लोग जैन तिथि को ही व्रततिथि समझते है सो भी ठीक नही है। जैनतिथि लोक व्यवहार मे काम आने के लिए होती है और व्रत-तिथि व्रतादि धर्म कार्यो के लिए। जैनियो की अल्प सख्या के कारण लोक व्यवहार मे खुद जैनियो को भी बहुसख्यक हिन्दुओके देन-लेन (व्यापारादि) मे अधुना पचाग की तिथियाँ ही मानने को बाध्य होना पडता है और इसीलिए जैनतिथियाँ अब मात्र व्रतादि धर्मकार्यो ही के काम की रह गयी है। जिसे देख लोग जैनतिथि और व्रततिथि को एक ही समझ बैठे है। यह मालूम होना चाहिए कि दो तिथियो मे कौन-सी तिथि व्रत के लिए मानी जावे और क्षयतिथि का व्रत किस तिथि को किया जावे इत्यादि विचार व्रततिथि मे ही किया जाता है, जैनतिथि मे नही। हाँ यह बात जरूर है कि व्रततिथि का मूल जैनतिथि ही रहता है।

वृद्धितिथि मे व्रतविधान करने की शास्त्राज्ञा निम्न प्रकार है—

तिथिवृद्धिर्यत्र पक्षे तस्यामुक्त व्रत हि यत्।
तत्पूर्वस्या तिथौ कुर्यादुत्तरस्या तिथौ नहि॥

—व्रतनिर्णय

अर्थ—जिस पक्ष मे तिथि की वृद्धि हो और उस तिथि मे जो व्रत कहा हो उसे पहली तिथि मे करना चाहिए, अगली मे नही।

युक्ति से विचार करने से भी प्रथम तिथि ही ठीक यो बैठती है कि ५४ घडियो से अधिक की पूर्ण तिथि प्रथम दिन मे ही रहती है।[1]

[1] जैनी जियालाल जी के पचाग मे एक अलग खाना जैन तिथियो का रहता है। उसकी जैनतिथियाँ ठीक विधि से निकली हुई रहती है। किन्तु दो तिथियो मे वहाँ दूसरी तिथि मानी जाती है यह ठीक नही है।

क्षय तिथि पूर्व दिन मे शामिल की जाती है क्योकि उसका बहु भाग उसी दिन रहता है। इसलिए व्रत भी उसका उसी दिन करना चाहिए यह स्पष्ट है अत शास्त्र प्रमाण देने की जरूरत नही है।

दो मास हो तो कौन सा मानना इसके लिए आगमप्रमाण यो है—

सवत्सरे यदि भवेन्मासो वे चाधिकस्तदा।
पूर्वस्मिन् न व्रत कार्यमपरस्मिन् कृत शुभम्॥

—व्रततिथि निर्णय

अर्थ—यदि वर्ष मे अधिक मास हो तो पहले मे व्रत न करके दूसरे मास मे करना शुभ है।

दश लक्षणिकादि व्रत दूसरे भादवे मे करने चाहिये। तिथि पहली और मास दूसरा मानना यह जैन आम्नाय है। ढाई वर्ष मे एक मास वढा करता है। तिथियो के कारण पैदा हुई कमी मास वढ़ाकर पूर्ण की जाती है। दूसरा मास ही पूर्णता के नजदीक रहता है इसलिए व्रतादि के लिए दूसरा मास मानना युक्ति से भी ठीक है।[1]

व्रत दो प्रकार के होते है—तिथि प्रधान और दिन प्रधान। जिन व्रतो मे आदि अत की कोई खास तिथि नियत रहती है वे तिथि प्रधान व्रत कहलाते है। जैसे दशलाक्षणिक, पचमेरु, लब्धिविधान, षोडश कारण, नदीश्वर आदि। और जिनमे दिन सख्या की प्रधानता रहती है वे दिन

उसीके आधार पर बना तिथिदर्पण हर वर्ष 'दिगम्बर जैन' और 'जैनमित्र' के ग्राहको को भेट दिया जाता है। उसमे भी तिथि की वृद्धि होने पर दूसरी तिथि ही तथा क्षय होने पर आगे की तिथि ही मानी जाने का उल्लेख रहता है। उसके सपादक जी को चाहिए कि यह गल्ती सुधार लें या अपने मन्तव्य की पुष्टि मे आगम प्रमाण पेश करे।

१ विद्वज्जन बोधक के चतुर्थ खड मे भी तिथि पहली और मास दूसरा मानना जैनो मे अनादि की रीति लिखी है।

प्रधान व्रत कहलाते हैं। जैसे सिंहनिष्क्रीडित, सर्वतोभद्र, कनकावली आदि। इन व्रतो मे किसी तिथि का बंधन नही है जब कभी भी शुरू किये जा सकते हे। और दिनो की संख्या से धारणे पारणें इनमे हुआ करते हैं। तिथि प्रधान व्रतो मे किसी व्रत का प्रारम्भ खास नियत तिथि मे हुआ करता है पर जब व्रत के दिनो मे कोई क्षयतिथि आ जाती है तो एक दूसरा अपवाद नियम भी है और वह इस प्रकार है।

यावत्सु वासरेपूच्चैर्यद् व्रत च प्ररूपितम्।
तिथिक्षयश्चेदत्रास्ति तत्र पूर्व दिन भजेत् ॥

—व्रतनिर्णय

अर्थ—जितने दिनो का जो व्रत कहा हे इसमे यदि तिथि का क्षय हो तो उसे पूर्वदिन ग्रहण करना चाहिये।

उदाहरण के लिये जैसे दशलक्षण व्रत के दिनो मे एकादशी आदि कोई तिथि क्षय हो जावे तो उसे पचमी के पूर्व चतुर्थी से शुरू किया जावे और यही वर्तमान मे किया भी जाता है। यह नियम सोलहकारणव्रत के लिये भी लागू होना चाहिये। किंतु कुछ महाशय इसे मासिक व्रत बत-लाकर इस नियम से उसे बाहर रखना चाहते हैं। हमारी समझ से यह अनुचित है। जिस प्रकार दशलाक्षणिकादि व्रतो की आदि अत की तिथि नियत है उसी तरह इसकी भी नियत है तब वह उक्त अपवाद नियम से कैसे बच सकता है। यह दूसरी बात है कि सोलहकारणव्रत की आदि अन्त की तिथि के भीतर मास भर भाद्रपद का आ गया है इससे यह नही कहा जा सकता कि तिथिक्षय होने पर भी वह भाद्रपद के पूर्व दिन मे प्रारम्भ नही किया जाता। मतलब यह है कि जैसे दूसरे व्रतो की प्रार-म्भिक तिथि नियत होने पर भी तिथिक्षय होने पर वे पूर्व दिन से शुरू किये जाते है उसी तरह सोलहकारणव्रत पूरे भाद्रपद मास में नियत रहने पर भी वह तिथिक्षय होने पर श्रावण शुक्ला १५ को शुरू किया जाना चाहिये यही ठीक है।

(यहाँ जैसे क्षयतिथि मे पूर्वदिन शुरू करके दिन बढा लिया गया है उसी तरह यह न समझ लेना चाहिये कि इन व्रतो मे कही वृद्धितिथि हो जावे तो इन्हे इनकी नियत तिथि से अगले दिन शुरु कर दिन घटा लिया जावे। शास्त्रकारो की आज्ञा वृद्धितिथि मे दिन घटाने की नही है। 'अधिकस्याधिक फल' कहकर उन्होने तिथिवृद्धि मे बढता हुआ दिन रखना ही प्राय. प्रतिपादन किया है।)

१ ज्योतिष व्यवहार काल —

६० पल (२४ मिनट) = १ घडी।
२ घडी (४८ मिनट) = १ मुहूर्त्त।
२॥ घडी (६० मिनट) = १ घटा।
७॥ घडी (३ घटा) = १ पहर।
६० घडी (८ पहर या २४ घटा) = १ अहोरात्र (दिनरात)।

नोट — दिगम्बर आम्नाय मे उदयात् छह घडी की मान्यता है।
श्वेताबर „ „ „ „ एक घडी „ „ „ „
वैदिक „ „ „ „ मात्र उदयात् „ „ „

'व्रततिथि निर्णय' ग्रन्थ का निरीक्षण

यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हुआ है। इसका सम्पादन, विवेचन और अनुवाद श्री नेमिचन्द्र जी शास्त्री, आरा निवासी ने किया है। (अनेक सिंहनन्दियो मे से प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता १८वी सदी मे होनेवाले कोई सिंहनन्दि नाम के भट्टारक है।) सम्पादक जी ने इनका समय १७वी सदी लिखा है वह ठीक नही है चूँकि इस ग्रन्थ के पृ० २२२ मे गन्थकार ने दामोदर, देवेन्द्रकीर्ति और हेमकीर्ति को अपने समय मे होना वताया है। दामोदर ने चद्रप्रभ-चरित की रचना स० १७२७ मे की है। और देवेन्द्रकीर्ति और हेमकीर्ति का भी यही समय है। (देखो भट्टारक सम्प्रदाय पृ० ८३–१२२) अत इन सिंहनन्दि का समय १८वी सदी का दूसरा, तीसरा चरण से पहिले नही हो सकता है। एक सिंहनन्दि वे है जिन्होने 'पचनमस्कारदीपिका' नामक ग्रन्थ संवत् १६६७ मे वनाया है जिनका उल्लेख इसी ग्रन्थ के पृ० १३२ पर हुआ है वे इनसे जुदे और पूर्व के है। एक और सिंहनन्दि १६वी सदी मे भी हुए है जिनका उल्लेख श्रुतसागर ने किया है। प्रस्तावना पृ० ११ मे सम्पादक जी ने इसका प्रभाव जमाने के लिये झूठ-मूठ ही इसे प्राचीन वता दिया है। ग्रन्थ की समाप्ति मे सिंहनन्दि का नाम ग्रन्थ के कर्त्ता के रूप मे स्पष्ट लिख रखा है ऐसी हालत मे ग्रन्थ को सकलित कहकर ग्रन्थ-कर्त्ता को अनिणीत लिख देना कुछ मतलब नही रखता है जब कि आपने स्वय ही ग्रन्थ की विवेचना करते हुये कई जगह सिंहनन्दि का नामोल्लेख कर्त्तारूप से किया है। देखो पृ० १०६, १३२, ६६, १४५, २६६।

यद्यपि मूलग्रन्थ छोटा-सा वीस, तीस पेजो मे लिखा जा सके जितना ही है, किन्तु ग्रन्थ का कलेवर २८० पृष्ठो मे वढा दिया है। तिस पर

भी कही-कही मूल ग्रन्थ के पद्यो और गद्यो के सशोधन की तरफ कोई ध्यान नही दिया गया है। उन्हे यो ही जेसे मिले वेसे ही प्रकाशित कर दिये है। अशुद्धि के कारण अर्थ ठीक तौर से न बैठ सका तो उसका भी कुछ खयाल नही किया गया है। यहाँ तक कि अशुद्धि के कारण छन्द भंग हो रहा है तो उस पर भी दृष्टि डालने की आवश्यकता नही समझी गई है। उदाहरण के तौर पर देखिये—

(१) "विविधातिथिसमायते " पृ० ७९ (२) "व्रते वटोपमागत्य. " पृ० ८० (३) "ये गृह्लति सूर्योदय शुभदिनमसद्दृष्टिपूर्वा नरा। तेपा कार्यमनेकधा व्रतविधिमार्गमेवेति च ॥" पृ० ८६। ये सब पाठ छपी हुई प्रति के है और अशुद्ध है। अशुद्ध होने के कारण ही इनका अर्थ भी ऊटपटाग ही किया गया है। ऐसी अशुद्धियाँ ग्रन्थ मे अन्यत्र भी यत्र-तत्र पाई जाती है। उक्त अशुद्ध पाठो के स्थान मे शुद्ध पाठ क्रमश निम्न प्रकार जानने चाहिये—

(१) "वेधातिथिसमायाते।
(२) "व्रते वटोऽथ मागल्ये।"
(३) "ये गृह्लति सदोदय शुभदिनेऽसद्दृष्टिपूर्वा नराः।"
तेपा कार्यमनेकधाव्रतविधिर्मांगल्यतामेति न।"

भट्टारकी साहित्य की जैसी रूपरेखा हुआ करती है वही इसकी भी है। पृ-१९० पर मुकुटसप्तमीव्रत का कथन करते हुये लिखा है कि—

"आदिनाथस्य वा पार्श्वनाथस्य मुनिसुव्रतस्य च पूजा विधाय कठे मालारोप।" इसका अर्थ अनुवादकजी ने यो किया है—"आदिनाथ या पार्श्वनाथ और मुनिसुव्रत का पूजन कर जयमाला को भगवान का आशीर्वाद समझ कर गले मे धारण करना चाहिये।" यहाँ व्रत करने वाला भगवान की पूजा करने के अनन्तर माला को अपने गले मे पहिने ऐसा अर्थ दर्शाकर अनुवादक ने मूल ग्रन्थकार को आक्षेप से बचाने की कोशिश

है किंतु ग्रन्थकार आगे पृ० १३१ पर इसी मुकुटसप्तमीव्रत का फिर कथन करते है, वहाँ स्पष्टतौर पर वीतराग-भगवान के गले मे माला और मस्तक पर मुकुट पहिनाने का विधान करते है। कुछ लोग ऐसी अयुक्त बातो की भी सगति वीतराग-देव के साथ लगाने के लिये अपनी विलक्षण प्रतिभा दिखाते हुये कहते है कि "अष्टप्रातिहार्यों मे भगवान पर पुष्पवृष्टि होना बताया है वे पुष्प भी तो भगवान के गले मस्तक पर गिरते है तो फूलो की मुकुटमाला किसी व्रतविशेष मे भगवान को पहिनाना बता दिया तो इसमे क्या अनुचित बता दिया ?" ऐसा कहने वालो की अक्ल को अजीर्ण हो गया है, उन्हे समझ लेना चाहिये कि भगवान पर पुष्पवृष्टि उनके गले मस्तक पर नही गिरती है, क्योकि मस्तक पर छत्र-त्रय लगे रहते हे। अत पुष्पवृष्टि भगवान के आगे सामने होती है, जैसा कि आदि पुराण पर्व २३ श्लोक ३५ मे कहा गया है।

इस व्रततिथिनिर्णय ग्रन्थ मे और भी कितना ही कथन आपत्ति के योग्य है जिसे लेख विस्तार के भय से छोडा जाता है। मूल ग्रन्थकार ने विषय को ऐसे ढग से चर्चा है कि उससे पाठको को किसी निश्चितमत का पता ही नही लगता है कि वे खास बात क्या माने और क्या न मानें। इसी प्रवाह मे अनुवादकजी भी बह गये है वे भी कही क्या लिखते और कही क्या। उदाहरण के तौर पर देखिये—

पृ० १०७ पर मुनिसुव्रतपुराण का एक पद्य देकर षष्ठाशरूप मे उदयतिथि के मानने को कहा गया है। जिसका अर्थ अनुवादक ने "दश घडी करीब की उदयतिथि से कमतिथि न मानी जावे" किया है। जब कि इसके पहिले ६ घडी की उदयतिथि मानने को कहा गया है फिर यहाँ १० घडी का कथन क्यो किया गया ? यह कुछ समझ मे नही आता है। ग्रन्थकार ने इसे मतातर भी नही बताया है और न इसका विरोध ही किया है। ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने षष्ठाश का अर्थ यहाँ छह घडी समझा हो। इसी प्रकार पृ० ८९ मे छह से बारह घडी तक

की उदयतिथि के मानने को कहा है। और पृ० १३० मे छह घडी से कम उदयतिथि को ग्रहण करना भी लिख दिया है। तथा पृ० १२२ में ६ घडी प्रमाण उदयतिथि को भी अमान्य बता दिया। एव पृ० ९२, ९३ मे किसी व्रत के दिनो मे तिथिक्षय होने पर उसे प्रारम्भ से पूर्व दिन मे करने का विधान कर व्रत के दिनो मे कमी न की जाये ऐसा कहा गया है। यही बात पृ० १२८ मे 'दशलक्षणव्रत कभी भी ९ दिन नही किया जाता है' इन शब्दो मे कह कर भी इसी के विरुद्ध पृ० १३० मे लिखा है कि—"अन्तिमतिथि के क्षय होने पर दशलक्षण व्रत ९ दिन तथा अष्टान्हिका व्रत ७ दिन तक ही करने चाहिये, एक दिन पहले से व्रत करने लग जाना ठीक नही है।" फिर आगे पृ० १४३, १४४ मे वही पृ० ९२ वाला कथन किया है कि—"यदि आदि मध्य और अन्त मे तिथिहानि हो तो एक दिन पहले से व्रत का प्रारम्भ किया जावे।' इसी तरह रत्नत्रयव्रत में दिनहानि होने पर पृ० १९५ और ९३ मे एक दिन पूर्व व्रत करने का विधान करके पृ० २२६ मे इसके विरुद्ध कहा गया है। पृ० ८९ मे दैवसिकव्रतो के लिए उदय तिथि ६ घडी की और नैशिकव्रतो के लिये अस्ततिथि मानने का कथन करके पृ० १४७ मे इसके विरुद्ध लिखा है कि—

"दैवसिक व नैशिक दोनो ही प्रकार के व्रतो के लिये छह घडी की उदय तिथि ग्राह्य है।" इस प्रकार इस ग्रन्थ मे कई जगह पूर्वापर विरुद्ध कथन किया हुआ मिलता है जिससे पाठक किसी खास निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते है।

कही-कही तो अनुवादक ने मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को ठीक न समझने के कारण भी अटसट विवेचना की है। जैसा कि पृ० १४६ मे किया गया है। वहाँ टीका मे लिखा है कि—

"यथापूर्वमुदयकालव्यापिनी तिथि गृहीता चकारात्. .. तथैवात्रापि अवधेय।" इसका ठीक अर्थ तो यो होता है कि—"जैसे पहिले (यहाँ पूर्व

शब्द से ग्रन्थकार का सकेत पृ० ८८ के कथन से है) उदय तिथि और चकार से अस्ततिथि के ग्रहण का कथन किया है वही यहाँ भी समझना चाहिये।" किन्तु अनुवादक जी इसका तात्पर्य यो लिखते है कि—

"सूर्योदय के पूर्व तीन मुहूर्त रहने वाली तिथि भी नैशिकव्रतो के लिये ग्राह्य है।" कहने की आवश्यकता नही कि अनुवादक जी के इस तात्पर्य का समर्थन ग्रन्थ भर के किसी भी स्थल से नही होता है।

सपादक जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना मे भगवान के जन्म-मोक्ष आदि कल्याणको की तिथियो को नक्षत्र के अनुसार मानने के लिये जोर दिया है और इसके लिये वीरजयन्ती की तिथि मे छह घडी से कम की उदय तिथि के मानने की भी स्वीकृति दे दी है। यह सब लिखना हम तो संपादक जी की खुद ही की कल्पना समझते है। क्योकि इन्द्रनदि ने नीतिसार मे स्पष्ट लिखा है कि—

जिनजन्मादिका सर्वा क्रिया मासतिथिप्रमा।
नक्षत्रयोगकरण तु न प्रधान यतश्चलम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जिस मासतिथि मे भगवान के जन्मादि हुए है उसी मासतिथि मे जन्मादि कल्याणको की क्रियायें करनी चाहिये। उनके लिये नक्षत्र का योग मिलाना प्रधान नही है क्योकि वह अस्थिर है यानी कथित मासतिथि के साथ सदा ही कथित नक्षत्र का मेल नही बैठता है।

इस ग्रन्थ के पृ० ८८ पर ग्रन्थकर्त्ता का ११वाँ श्लोक मय व्याख्या के पाया जाता है। यहाँ पर जो व्याख्या की गई है वह ऐसी अजीव है कि जिसका तात्पर्य ही समझ मे नही आता है। न अनुवादक जी ने ही उसका खुलासा किया है। इस तरह के स्थल, ग्रन्थ मे अन्यत्र भी है। यहाँ लिखा है कि—उदय तिथि दैवसिक व्रतो के लिये और अस्ततिथि नैशिकव्रतो के लिये मानी जाती है।" इस प्रकार का कथन भी भट्टारक जी सिंहनंदि की अपनी खुद की सूझ को ही सूचित करती है। क्योकि जिस श्लोक के आधार पर ऐसा कहा गया है वह श्लोक ही दर असल प० आशा-

धरजी का है जो अनगारधर्मामृत के ६वें अध्याय मे ५१वे नम्बर पर पाया जाता है। जिसे कुछ रद्दो-बदल करके सिंहनदि जी ने अपना वना लिया है। इसी तरह इन्द्रनन्दि के नीतिसार का श्लोक न० १०४ को भी इसमे पृ० १२७ पर कुछ पाठ-भेद करके अपना वना लिया है जिसका न० १६ दिया हुआ है, जिसे अनुवादक जी ने पृ० १३२ पर जोर देकर सिंहनन्दिकृत होना घोषित किया है। अनगार धर्मामृत मे उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए आशाधरजी ने तो यह कही नही लिखा है, कि अस्ततिथि नैशिकव्रतो के लिये मानी जाती है। तिथिक्रम का विचार करने से भी यही सिद्ध होता है कि हर व्रत के लिये छह घडी उदय तिथि अथवा अस्ततिथि मानना अति जरूरी है, दोनो के माने विना निर्वाह ही नही हो सकता है। व्रतो के साथ नैशिक नामकरण भी विलक्षण ही है। इसे भट्टारकजी की मनगढन्त के सिवा और क्या कहा जावे ?

इस ग्रन्थ के पृ० १८१ पर ग्रन्थकर्त्ता ने तिथि का प्रमाण कम से कम ५४ घडी और अधिक ६७ घडी का लिखा है। इस विषय मे हमने ज्योतिष के विशेषज्ञो से दरयाफ्त किया तो उन्होने कहा कि सूक्ष्म गणित के हिसाव से कम से कम तिथि ५० घडी की और अधिक से अधिक ६७ घडी की हो सकती है किन्तु ग्रहलाघव मकरन्द आदि प्रसिद्ध ज्योतिष के ग्रन्थो मे "वाणवृद्धिरसक्षय" इस मुख्य सिद्धान्त से अहोरात्र ६० घड़ी मे ५ की वृद्धि और ६ का क्षय अर्थात् कम से कम तिथि ५४ घड़ी की और अधिक ६५ घडी की तिथि होना वताया है और इसी आधार पर पंचागो का अधिक प्रचार है। हमने भी वृद्ध पडितो के मुख से ऐसा ही सुना है और जैन समाज मे जिन पचागो का प्रचार है, उनमे भी तिथि का दण्डात्मक मान कम से कम ५४ घडी और अधिक से अधिक ६५ से ऊपर व ६६ से कमका ही वैठता है यही वात प० भूधरदास जी ने भी 'चर्चासमाधान' ग्रन्थ मे चर्चा न० ११८ मे कही है। यथा—

'तिथि का प्रमाण चौवन घडी सूँ लेय पैसठ घडी ताई होई, तथा

कुछ घाटि छासठ घडी होइ पूरो छासठ न होइ। तहाँ जो पहिले दिन साठ घडी और अगले दिन पाँच घडी होइ तो पहिले दिन उपवास आरभ कीजे। ईहाँ कोई कहे—अगले दिन छह घडी होइ तब क्या करे? तिसका उत्तर—पैंसठ घडी सो तिथि का प्रमाण बढती होइ नाही यातै अगले दिन मे छह घडी कहाँ से आवे जो पहिले दिन साठ घडी सो कोई तिथि घटती होइ तो अगले दिन उदय काल मे छह घडी पाइये सो तिथि उपवास को योग्य है यातै तीन मुहूर्त की उदय तिथि जैन मे लीन कही हैं। आशाधर कृत यत्याचार मे कही है।")

सिंहनन्दि ने तिथि का अधिक मान ६७ घडी का लिखा वह सूक्ष्म गणित की अपेक्षा ठीक कहा जा सकता है किन्तु जब सूक्ष्म गणित ही से तिथि मान बताना था तो कम से कम तिथि का मान भी सिंहनन्दि को ५० घडी का ही बताना चाहिये था, न कि ५४ घडी का। इसमे भी एक रहस्य है–ग्रन्थकार यह समझ रहा था कि तिथि का मान ६७ घडी माने बिना दो तिथि कैसे हो सकेगी। इस लिये उनने तिथि का अल्प मान तो प्रचलित व्यवहार से बता दिया और अधिक मान सूक्ष्म गणित से बता दिया जिसका कि खासतौर से कोई प्रचार नही है। किन्तु ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी। दो तिथि तो एक अस्त और ६ घडी उदय तिथि मिलकर भी हो सकती है जैसे मगलवार को सप्तमी उदय मे ५ घडी होने से मगल को सप्तमी न मानकर इस दिन ५ घडी बाद आने वाली अष्टमी मानी जावेगी और यही अष्टमी अगले दिन बुधवार की उदय मे ६ घडी या इससे अधिक होगी तो बुधवार को भी अष्टमी मानी जायेगी इस तरह दो तिथि हो सकती है। दो तिथि होने की यह विधि न मानी जावेगी तो "व्रत तिथि निर्णय" ग्रन्थ मे दस व बारह घडी की उदय तिथि मानने के मतान्तर दिये है जो कि कर्णाटक आदि प्रान्तो मे माने जाते है। उनके यहाँ दो तिथि कैसे होगी? तिथि का मान ७० या ७२ घडी का तो हो ही नही सकता। "उनके यहाँ दो तिथि होती

ही नही" ऐसा कहना भी सम्भव नही हैं। लेखवृद्धि के भय से अभी हम और अधिक लिखना नही चाहते हैं। अन्त मे हमारा इस ग्रन्थ के सम्पादक महोदय ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्र जी साहब शास्त्री से सविनय निवेदन है कि वे इस पर ठण्डे दिल से गम्भीरता के साथ विचार कर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे।



भक्तामर स्तोत्र

स्तोत्र-पाठ साधु और श्रावक दोनो के लिये जिनपूजा का एक प्रशस्त प्रकार है।

भक्तामर स्तोत्र दि० श्वे० दोनो संप्रदायो मे काफी लोकप्रिय है इसकी महत्ता इसी से आँकी जा सकती है कि—तत्त्वार्थ सूत्र के साथ मे इसका भी जैन लोग प्रति दिन पाठ करते है।

इस स्तोत्र के प्रारम्भ मे 'भक्तामर' शब्द होने से इसका नाम "भक्तामर स्तोत्र" प्रसिद्ध हो गया है वैसे यह आदिनाथ (ऋषभ) स्तोत्र भी कहलाता है जैसा कि इसके श्लोक १ मे प्रयुक्त "युगादौ" श्लोक २ मे प्रयुक्त "प्रथम जिनेन्द्र" तथा श्लोक २४ मे प्रयुक्त "आद्य" वाक्यो से सूचित होता है।

इस स्तोत्र पर अनेक सस्कृत टीकाएँ पायी जाती है एवं हिन्दी आदि लोक भाषाओ मे भी विविध गद्य पद्यानुवाद उपलब्ध है इससे यह काफी प्रसिद्ध और प्राचीन स्तोत्र जान पडता है। इस स्तोत्र पर नीचे कुछ विचार किया जाता है —

१—श्लोक ४२ मे "वलवतामपि भूपतीना" पाठ प्रचलित है जिससे इस श्लोक का अर्थ यह होता है कि—"युद्ध मे वलवान् राजाओ की भी सेना आप के स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है।" इस पर स्वभावत यह शका होती है कि—वलवान् राजा तो स्वपक्ष मे ओर स्वय भी हो सकते है फिर स्तुतिकार उनका विनाश कैसे चाहेगा? इसका समाधान हमारे पास के वि० स० १५६३ के वसवा ग्राम के एक गुटके से होता है उसमे "वलवतामरिभूपतीना" शुद्ध पाठ पाया गया है[1] (जिससे श्लो-

१ यही शुद्ध पाठ दौसा ग्राम के एक गुटके मे भी हमने देखा है।

कार्थ इस प्रकार होता है कि—"युद्ध मे वलवान् शत्रु राजाओ की सेना आप के स्तवन से शीघ्र विनष्ट हो जाती है।" 'अपि' की जगह 'अरि' शुद्ध पाठ होने से श्लोक कितना सुसगत और निर्दोप हो गया है यह वताने की विशेष जरूरत नही है। विज्ञ पाठक इसकी खूवी का स्वय अनुभव कर सकते है फिर भी एक वात मै यहाँ और वता देना चाहता हूँ कि—प्राकृत मे २३ गाथात्मक एक "भयहर स्तोत्र" पाया जाता है जो श्वेताम्वरो के यहाँ से "जैन स्तोत्र सदोह" द्वितीय भाग मे प्रकाशित हुआ है। यह स्तोत्र भी मानतुग की ही कृति वतलाया जाता है क्योकि 'भक्तामर स्तोत्र' की तरह इसके भी अतिम श्लोक मे (श्लेपात्मक) मानतुग शब्द पाया जाता है। भक्तामर स्तोत्र मे जिस तरह ८ भयो का वर्णन है उसी तरह 'भयहर स्तोत्र' मे भी है। इसकी गाथा १७ मे 'रण' भय के अन्तर्गत रिउणरिन्द (रिपुनरेन्द्र) शब्द पाये जाते है उनसे भक्तामर स्तोत्र के 'अरिभूपतीना' शुद्ध पाठ का अच्छा समर्थन होता है।

२—श्लोक ३५—'स्वर्गापवर्गगममार्ग' मे 'गम' की जगह धुआँ ग्राम के एक प्राचीन गुटके मे 'यम' पाठ पाया जाता है 'यम' का अर्थ द्वय = दो होता है[1] जिससे श्लोक का अर्थ "स्वर्ग और मोक्ष दोनो मार्ग" रूप सगत हो जाता है। किन्तु 'यम' की वजाय भी प्रचलित 'गम' पाठ ज्यादा वजनदार है क्योकि 'गम' मे एक तो 'ग' का शब्दालकार वन जाता है दूसरा 'गम' के जो गमन, प्रवेश, प्राप्ति अर्थ होते है वे यहाँ विशेष सुसगत है जिनसे यह भी फलित होता है कि "स्वर्ग-मोक्ष मे जाने का मार्ग" ही कवि ने वताया है 'गम' शब्द रख कर आने के मार्ग का निषेध किया है। ठीक यही वात 'गम' शब्द की जगह 'पुर' (प्रवेशार्थक)

---

१ देखो धनजय नाममाला—

द्वय द्वितयमुभय यमल युगल युगम्।
युग्म द्वन्द्व यम द्वैत पादयो पातु जैनयो ॥ २ ॥

शब्द रख कर यशस्तिलक चंपू में इस प्रकार व्यक्त की है —(ज्ञानपीठ काशी के 'उपासकाध्ययन' में श्लोक न० ४९९)

मिथ्यातम पटलभेदनकारणाय, स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमनाः प्रणमामि नित्यं, त्रैलोक्यमगलकराय जिनागमाय ॥
—ज्ञानभक्ति

३—श्लोक ६ में "तच्चारुचाम्रकलिका" पाठ प्रचलित है यह पाठ मूल ग्रन्थकार कृत नहीं है। प्राचीन प्रतियों में "तच्चारुचूतकलिका" पाठ ही पाया जाता है। प्राणप्रिय काव्य जिसमें भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक श्लोकका का अन्तिम चरण समस्या पूर्ति के रूप में ग्रहण किया है उसमें भी "तच्चारुचूतकलिका" पाठ ही उपलब्ध होता है अतः यही पाठ मूल-ग्रन्थकार कृत ज्ञात होता है लेकिन उसमें 'चूत' शब्द को अश्लील समझ कर उसकी जगह 'चाम्र' पाठ का परिवर्तन कर दिया यह परिवर्तन भी ३००,४०० वर्ष प्राचीन प्रतियोंमें पाया जाता है किन्तु 'चाम्र' में जो 'च' है वह समासादि की दृष्टि से सदोष है अतः आज के युग में उसे भी संशोधित कर 'तच्चाम्रचारुकलिका' पाठ बना दिया गया है उसमें 'चाम्र' को पहिले रख दिया है और 'चारु' को बाद में। इससे समास सम्बन्धी दोष तो दूर हो गया है किन्तु उसमें भी 'च' शब्द व्यर्थ रह गया है।

मूल स्तोत्रकार ने 'चूत' शब्द का प्रयोग 'आम्र' अर्थ में किया है किसी अश्लील अर्थ में नहीं अतः किसी प्रान्तीय अर्थ को लेकर किसी शब्द विशेषमें अश्लीलता का आरोप समुचित नहीं।

४—श्लोक ४८ में "तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मी." पद का साहित्याचार्य प० पन्नालाल जी आदि ने इस प्रकार अर्थ दिया है "उस

देखो—अमरकोष —आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः। ये आम के पर्यायवाची नाम है जिनमें 'चूत' भी एक नाम है।

मानतुग को लक्ष्मी (स्वर्ग मोक्ष विभूति) 'अवशा' सती—स्वतन्त्र होती हुई प्राप्त होती है ।"

पर यह शब्दार्थ ठीक प्रतीत नही होता सीधा-सादा अर्थ इस प्रकार है —उस मानतुग को अवशालक्ष्मी = स्वातन्त्र्यमोक्षलक्ष्मी (मुक्तिरमा) प्राप्त होती है। यहाँ 'अवशा' शब्द लक्ष्मी का विशेषण है अत ऊपर से 'सती' पद जोडना व्यर्थ है ।

५—अव मे विविध प्राचीन प्रतियो से सचित कुछ महत्त्वपूर्ण पाठान्तर नीचे प्रस्तुत करता हूँ, इन पाठो मे कौन पाठ वस्तुत मूल ग्रन्थकार कृत है इसका निर्णय गवेपक विद्वान् करे —

श्लोक न०	चरण न०	प्रचलित पाठ	पाठान्तर
३	ए	पीठ (सम्वोधन)	पीठ (कर्म)
५	सी	मृगो	मृगी
८	वी	प्रभावात्	प्रसादात्
१६	ए	रपवर्जित	रपि वर्जित
२०	सी	तेज स्फुरन्मणिषु	तेजो महामणिपु
२०	डी	नैव तु काचशकले किरणाकुलेऽपि	काचोद्भवेपु न तथैव विकासकत्व
२३	ए	पुमास–	पवित्र–
२६ सी, ३१ डी		त्रिजगत	त्रिजगती (समास)
२७	ए	को विस्मयोऽत्र	चित्र किमत्र
२७	सी	विविध	विवुध
३२	वी	शुभ	शिव, सुख
३२	वी	भूति	भूरि (अत्यन्त)
३३	सी	प्रपाता	प्रयाता
३३	डी	वचसा (प्राणप्रिय काव्य मे भी)	वयसा

३५	डी	गुणै प्रयोज्य	गुणप्रयोज्य (प्राणप्रिय काव्य मे भी)
३६	सी	क्रमगत	क्रतगतान् (बहुवचन)
३६	डी	चलसश्रित ते	चलसश्रितास्ते ,,
४१	डी	नागदमनी (स्त्रीलिंग)	नागदमनो (पुल्लिंग)
४४	ए	चक्र	चक्रे
४४	डी	भवत स्मरणाद्	तव सस्मरणाद्
४५	डी	मर्त्या	सद्यो
४६	सी	स्मरन्त	स्मरति
४६	डी	सद्य	नाथ (सम्बोधन)
४७	सी	तस्याशुनाश	तस्य प्रणाश
४७	डी	यस्तावक	यस्तेऽनिश
४८	बी	विविध	रुचिर

६—इस स्तोत्र के कर्त्ता मानतुग कविको कुछ इतिहासज्ञ विद्वानो ने हर्षवर्धन के समकालीन बताया है। सम्राट् हर्ष का समय ७वी शती है (इसीलिये प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने भी महापुराण-प्रस्तावना पृ० २२ मे आचार्य मानतुग को ७वी शताब्दी का लिखा है अगर यह ठीक है तो आदिपुराण पर्व ७ श्लोक २९३ से ३११ का जो वर्णन भक्तामरस्तोत्र से मिलता हुआ है वह आचार्य जिनसेन ने सम्भव है भक्तामरस्तोत्र से लिया हो।)

७—श्वे० सम्प्रदाय भक्तामर के ३२ से ३५ तक के चार श्लोक नही मानता है कुल ४४ श्लोक ही मानता है इससे चार प्रातिहार्यो का वर्णन छूट जाता है जब कि श्वे० सम्प्रदाय मे भी पूरे ८ प्रातिहार्य माने है। कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे भी भक्तामर' की तरह पूरे ८ प्रातिहार्यो का वर्णन है और उसे श्वे० सम्प्रदाय भी अविकल रूपसे मानता है तब फिर भक्तामरस्तोत्र के उक्त चार श्लोको को श्वे० सम्प्रदाय क्यो नही मानता ?

शायद यह कहा जाता है कि कल्याणमन्दिर मे ४४ श्लोक है अत भक्तामर मे भी ४४ ही होने चाहिए, अगर यह कहा जाता है तो यह अजीव तुक है। ऐसी तुक मिलाने वालो को चाहिये कि—जिस तरह कल्याणमन्दिर मे ८ प्रातिहार्यो का वर्णन है उसी तरह भक्तामर मे भी ८ प्रातिहार्य के वर्णन वाले पूरे श्लोक मानें, व्यर्थ के श्लोक सख्या साम्य मे पडकर ४ प्रातिहार्यों को न छोडें।

श्वे० स्थानकवासी कविवर मुनि अमरचन्दजी ने पूरे ४८ श्लोक मानकर ही भक्तामर का हिन्दी पद्यानुवाद किया है दूसरे भी श्वे० विद्वानो को इसका अनुसरण करना चाहिए।

८—भक्तामर स्तोत्र के ४८ श्लोक के अतिरिक्त ४ श्लोक और भी मिलते है देखो अनेकान्त वर्प २ किरण १—

नात पर परमवचोभिधेयो,
लोकत्रयेऽपि सकलार्थविदस्ति सार्व ।
उच्चैरितीव भवत परिघोपयन्त-
स्तेदुर्गभीरसुरदुन्दुभय सभायाम् ॥ १ ॥
वृष्टिर्दिव सुमनसा परित पपात,
प्रीतिप्रदा सुमनसा च मधुव्रतानाम् ।
राजीवसा सुमनसा सुकुमारसारा,
सामोदसम्पदमदाज्जिन ते सुदृश्य ॥ २ ॥
पूष्मामनुष्य सहसामपि कोटिसख्या-
भाजा प्रभा प्रसरमन्वहया वहन्ति ।
अन्तस्तम पटलभेदमशक्तिहीन,
जैनी तनुद्युतिरशेपतमोऽपि हन्ति ॥ ३ ॥
देव त्वदीयसकलामलकेवलाय,
वोधातिगावनिरुपप्लवरत्नराशे ।

घोष स एव इति सज्जनतानुमेते,
गम्भीरभारभरित तव दिव्यघोष ॥ ४ ॥

किन्तु इन श्लोको मे भी प्रातिहार्यो का ही वर्णन होने से ये पुनरुक्त है और असगत है। 'जैनमित्र' फाल्गुन सुदी ६ वीर स० २४८६ के अक मे भी इन से भिन्न चार श्लोक छपे है। हमारे पास के १-२ गुटको मे भी ये ४ श्लोक है—

य: सस्तुवे गुणभृता सुमनो विभाति,
य तस्करा विलयता विबुधा स्तुवन्ति ।
आनदकन्द हृदयाम्वुजकोशदेशे,
भव्या व्रजन्ति किल या मर देवताभि ॥१॥
इत्थ जिनेश्वर सुकीतयता जिनोति,
न्यायेन राजसुखवस्तुगुणा स्तुवन्ति ।
प्रारम्भभार भवतो अपरापरा या,
सा साक्षणी शुभवशो प्रणमामि भक्त्या ॥२॥
नानाविध प्रभुगुण गुणरत्न गुण्या,
रामा रमति सुरसुन्दर सौम्यमूर्ति ।
धर्मार्थकाम मुनयो गिरिहेमरत्ना,
उध्यापदो प्रभुगुण विभव भवन्तु ॥३॥
कर्णो स्तुवेन नभवानभवत्यधीश,
यस्य स्वय सुरगुरु प्रणतोसि भक्त्या ।
शर्मार्धनोक यशसा मुनिपद्मरगा,
मायागतो जिनपति प्रथमो जिनेश ॥४॥

पर ये भी मूल ग्रन्थकार कृत नही है क्योकि भक्तामर स्तोत्र के पठन का फल बताकर स्तोत्र को वही समाप्त कर दिया है अत ये अतिरिक्त श्लोक किसी ने बाद मे बनाये है इनकी रचना भी ठीक नही है और अर्थ भी सुसगत नही है।

इनके सिवा भी हमारे पास के १ गुटके मे ४ श्लोक और पाये जाते है जिन्हे वीज काव्य[1] लिखा है इनकी भी स्थिति उपरोक्त ही है वे भी मूल स्तोत्रकार कृत नही है।

९—ग्रन्थ प्रकाशको से निवेदन है कि वे छेदक न० १ मे सुझाये गये 'बलवतामरि' शुद्ध पाठक को अपनाने की कृपा करें। तथा छेदक न० ४ मे सुझाये गए शुद्ध शब्दार्थ को देने का कष्ट करें।

ग्रन्थो का शुद्ध प्रकाशन पाठको के लिए ही लाभप्रद नही है किन्तु

वीजक काव्यम् —

ओ आदिनाथ अर्हन्सुकुलेवतस,
श्रीनाभिराज निजवश शशिप्रताप।
इक्ष्वाकुवश रिपुमर्दन श्रीविभोगी,
शाखा कलापकलितो शिव शुद्धमार्ग ॥१॥

कष्ट प्रणाश दुरिताप समावनाहि—
अभोनिधौ दुखय तारक विघ्नहर्ता।
दु खाविनारि भय भग्नति लोह कष्ट—
तालोर्द्धघाट भयभीत समुत्कलापा ॥२॥

श्रीमानतुग गुरुणा कृत वीज मत्र,
यात्रा स्तुति किरण पूज्य सुपादपीठ।
भक्तिभरो हृदयपूर विशाल गात्रा—
कौ धौ दिवाकर समा वनिताजनाह्नी ॥३॥

त्व विश्वनाथ पुरुषोत्तम वीतराग —
त्व जैन राग कथिता शिवशुद्धमार्गा।
त्वोच्चाट भज नव पु खल दुखटालान्—
त्व मुक्तिरूप सुदया पर धर्मपालान् ॥४॥

वह ग्रन्थ और ग्रन्थकार एव प्रकाशक के गौरव को भी अभिवृद्ध करने वाला है।

१०—भट्टारकादिको ने इस सरल और वीतराग स्तोत्र को भी मत्रतत्रादि और उनकी कथाओ के जाल से गूथकर जटिल और सराग वना दिया है तथा इसके निर्माण के सम्वन्ध मे प्राय मनगढत कथाये रच डाली है। ये निर्माण-कथायें कितनी असंगत, परस्पर विरुद्ध, और अस्वाभाविक है यह विचारको से छिपा नही है।

(किसी कथा मे मानतुग को राजा भोज के समय मे वताया है किसी मे कालिदास के तो किसी मे वाण, मयूर आदि के समय मे वताया है जो परस्पर विरुद्ध है।)

राजा ने कुपित होकर मानतुग को ऐसे कारागृह मे वन्द करवा दिया जिसमे ४८ कोठे थे और प्रत्येक कोठे के एक एक ताला था, ऐसा कथा मे वताया है पर सोचने की वात है कि—एक वीतराग जैन साधु को जिसके पास कोई शस्त्रास्त्रादि नही कैसे कोई राजा ऐसा अद्भुत दड दे सकता है? और फिर ऐसा विलक्षण कारागार भी सभव नही। सही वात तो यह है कि ४८ श्लोक होने से ४८ कोठे और ४८ तालो की वात गढी गई है (अगर कम ज्यादा श्लोक होते तो कोठो और तालो की सख्या भी कम ज्यादा हो जाती। श्वेतावर ४४ श्लोक ही मानते है—अत उन्होने वन्धन भी ४४ ही वताये है। इस तरह इन कथाओ मे और भी पद पद पर अनेकानेक वेतुकापन पाया जाता है जो थोडे से विचार से ही पाठक समझ सकते है।)

११—यह लेख लिखने का उत्साह मुझे माननीय श्री ए० एन० उपाध्ये के ३–१–५९ के उस पत्र से हुआ जिसमे उन्होने मेरे द्वारा सुझाये गए 'भक्तामर' के "वलवतामरि" पाठको सुन्दर Really nice वताते हुए मुझे इस विषय मे एक लेख लिखने की प्रेरणा की थी।

●

तेरा पंथ और बीस पथ

हम शादी मे फाल्गुण कृष्णा ४ वि० स० २०१४ को माधोराजपुरा गये थे। वहाँ तीन जैन मन्दिर हैं। वहाँ के शास्त्र भण्डारो का प० दीपचन्द जी पाड्या और हमने अच्छी तरह अवलोकन किया। बाबू रतनलालजी पापडीवाल जो वहाँ के सेवाभावी कर्मठ सज्जन हैं उनका हमे पर्याप्त सहयोग रहा। दो मन्दिरो के शास्त्रो की तो अच्छी व्यवस्था और सुन्दर सूची बनी हुई थी पर एक अग्रवाल मन्दिर[1] के शास्त्रो की कोई सूची नही थी। हमने उनकी सूची बनाई। तीनो मन्दिरो मे कुल मिलाकर २५० करीब हस्तलिखित ग्रन्थ हैं पर उनमे कोई महत्त्वपूर्ण और अज्ञात ग्रन्थ हमे उपलब्ध नही हुआ। फिर भी एक बात ऐसी ज्ञात हुई जिसने हमारे परिश्रम को बहुत कुछ सफल कर दिया। जब हम तीन लोक पूजा की प्रति उसके कर्त्ता का नाम ढूँढने के लिये देख रहे थे तो प्रशस्ति गत निम्न वाक्यो ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया—

मिती अषाढ दूसरो जानि, पहल पक्ष की चौथ बखानि।
सवत् अष्टादश शत जोय, और अठाइस ऊपर होय॥
ता दिन पाठ समापत कियो, अपनो नर भव को फल लियो।
भयो हरष बढो चित चाव, विषम पथ अब सुगम कराव॥
तीन लोक जिन पूजा सोय, देख्यो पाठ अशुद्ध सु जोय।
तिनमे रागी जीवनी तनी, पूजा देखी हमने घनी॥
तब हम पाठ अशुद्ध सु जानि, मनमे मतो करचो इम आनि।
पाठ सस्कृत मे विपरीत, जिन भाषिन देखी नही रीत॥

---

१ कवि डालूरामजी अग्रवाल यही के निवासी थे उनका साहित्य यहाँ अच्छी मात्रा मे पाया जाता है।

राग दोष मद मोहित जीव, तिन पद पूजा अर्घ चढीव।
तव हम जानि तुछ वुद्धि न जीव, एक सरे पावे न सदीव ॥
तातै तुछ वुद्धिन के काज, भापा पाठ भलो सुख साज।[१]

"इसमे वताया गया है कि–१८२८ सवत् मे तीन लोक पूजा ग्रन्थ समाप्त करके कवि (टेकचन्द जी) को वडा हर्ष हुआ कि विषम (वीस) पन्थ अव सुगम हो गया। तीन लोक पूजा पहले सस्कृत मे थी जिसमे पाठ अशुद्ध थे और रागी द्वेपी जीवो (क्षेत्रपालादि (को अर्घ चढाने व उनकी पूजा करने का जिसमे विधान था जो जिनमत विरुद्ध था अत (वीस पन्थ की) इन विपम–जिनमत मे साम्य नही रखने वाली वातो को कवि ने अपनी भाषा पूजा द्वारा तुच्छ वुद्धि प्राणियो के लिये सुगम (ठीक) किया।" इससे स्पष्ट जाना जाता है कि पहले वीस पन्थ का असली नाम विपम पथ था जिसका विगडा हुआ रूप वीस पन्थ है। इसी तरह तेरा पन्थ का अर्थ भी तेरा यानि जिनेन्द्र का पन्थ है जैसा कि ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृ० १११ और ११५ में लिखा है—"हे भगवान म्हा तो थाका वचना के अनुसार चला हो ता तै तेरा पन्थी हो ते सिवाय और कुदेवादिक को हम नही सेवै है तुम ही ने सेवौ सो तेरा पन्थी सो म्हा तुम्हारौ आज्ञाकारी सेवक हौं।" श्वेतावर स्थानकवासियो मे भी 'तेरा पन्थ' सम्प्रदाय है। उसके मानने वालो ने भी शायद अपने पन्थ का नामकरण इसी उपपत्ति को लेकर किया है। एक वात और है 'तेरा' और 'विषम' यह नाम (Title) अध्यात्ममती-वाराणसी मतवालो ने ही रखा प्रतीत होता है[२]। जब उन्होंने भट्टारको और

---

१ जोधराज जी गोदीका के प्रवचनसार के अत मे एक सवैया दिया हुआ है उसमे लिखा है —

कहे जोध अहो जिन तेरापन्थ तेरा है।

२ कवि टेकचन्द जी की 'तीनलोक पूजा' वीर प्रेस जयपुर से प्रकाशित हो गई है, इसमे प्रशस्ति कुछ अशुद्ध छपी है।

शिथिलाचारियो की वीतरागता व अहिंसा से हीन जिनमत विरुद्ध प्रवृत्तियो को देखा तो अपने को तेरा पन्थी = जिनेन्द्र के मत के अनुसार चलने वाला तथा अपने से भिन्न को विषम पन्थी = जिनमत से साम्य नही रखने वाला घोषित किया ज्ञात होता है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि—'बीस' पन्थ का नाम सख्यावाची न होकर 'विषम' शब्द से विगडा हुआ है। इसी तरह 'तेरा पन्थ' नाम भी १३ की सख्या वाला न 'होकर' तेरा, यानी जिनेन्द्र का पन्थ वाची है। बहुत वर्षो से जो 'तेरा' और 'बीस' नाम की सगति नही बैठ रही थी हमारे खयाल से वह इन प्रमाणो के प्रकाश मे अब ठीक बैठ गई है।

माधोराजपुरा के पास ही मौजाद (मौजमाबाद) नाम का प्राचीन ग्राम है वहाँ भी हम दर्शनार्थ गये थे। वहाँ दो मन्दिर और एक नाशियाँ है। जिसमे एक मन्दिर काफी मनोज्ञ और कलात्मक है। इसमे दो भोहरे (भूगृह) है। एक मे अनेक छोटी-छोटी प्रतिमायें है, दूसरे मे तीन विशाल पद्मासनस्थ आदमकद मूर्तियाँ है। प्राय. सब मूर्तियाँ १७वी शताब्दी की है। उन पर 'वि० स० १६६४ मानसिह राज्य प्रवर्त्तमाने मौजावाद' लिखा हुआ है। दूसरे मन्दिर मे सिर्फ एक भोहरा (भूगृह) है जिसमे दो-तीन प्रतिमाये है जो स० १९८५ की प्रतिष्ठित है। यही एक शिलालेख पडा हुआ है जिसमे (केकडी के) प० धन्नालाल जी के द्वारा स० १९८५ के फाल्गुण वुध मे हुई विम्व प्रतिष्ठा का उल्लेख है। मौजाद के मन्दिरो मे कुल मिलाकर छोटी-वडी २००-२२५ प्रतिमायें है। समयाभाव से हम यहाँ का शास्त्रभण्डार नही देख सके।



पंचास्तिकाय की १११ वां गाथा प्रक्षिप्त है

रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई से प्रकाशित भगवद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत पचास्तिकाय के द्वितीय सस्करण मे गाथा न० १११ इस प्रकार है .—

तित्थावर तणु जोगा, अणिलाणल काइया य तेसु तसा ।
मण परिणाम विरहिदा, जीवा एइंदिया णेया ॥१११॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, वनस्पति—तीन स्थावर है और वायु, अग्नि त्रस है । (ये) मनोभाव से रहित एकेन्द्रिय जीव जानने चाहिए ॥१११॥

इस गाथा मे अमृतचन्द्र के टीका रूप वाक्य इस प्रकार दिये हुए है—

"पृथ्वीकायिकादीना पचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽय" ।

परन्तु ये वाक्य टीका रूप नही है, ये तो ११२ वी गाथा के उत्थानिका वाक्य है क्योकि ११२ वी गाथा पर अमृतचन्द्र के और कोई दूसरे उत्थानिका वाक्य नही पाये जाते । इनके सिवा जयसेनाचार्य ने भी अपनी टीका मे ये वाक्य ११२ वी गाथा पर ही दिये है जो इस रूप मे है "अथ पृथ्वीकायिकादीना पचानामेकेन्द्रियत्व नियमयति" ।

इस प्रकार इस १११ वी गाथा पर अमृतचन्द्र की कोई टीका नही पाई जाती और न कोई उत्थानिका वाक्य पाये जाते है अत यह गाथा साफ प्रक्षिप्त मालूम होती है । अगर मूल ग्रन्थकार कृत होती तो अमृतचन्द्राचार्य जरूर इस पर उत्थानिका वाक्य और टीका लिखते, कम से कम तेजोवायु के त्रसत्व का तो समाधान अवश्य ही करते ।

(२) धवलाकार वीरसेनाचार्य ने भी पचास्तिकाय की गाथाओ को अनेक जगह प्रमाण रूप मे उद्धृत किया है इससे यह ग्रन्थ धवलाकार को भी मान्य रहा है । अगर पचास्तिकाय मे १११ वी गाथा होती तो

धवलाकार कभी तेजोवायु के त्रसत्व का खडन नही करते जैसा कि धवला पुस्तक १ पृष्ठ २६६ और २७६ तथा पुस्तक १३ पृष्ठ ३६५ पर पाया जाता है।

(३) दिगम्बर सम्प्रदाय मे कुन्दकुन्द बहुत ही प्राचीन और सर्वाधिक मान्य आचार्य रहे है अगर तेजोवायु को त्रस मानने का उनका मत होता तो वाद के अनेक दि० ग्रन्थकार इसका जरूर अनुसरण करते किन्तु किसी ने भी इसका अनुसरण नही किया है प्रत्युत अनेक दि० ग्रन्थकारो ने इस मान्यता का खण्डन ही किया है। उदाहरण के लिए मोक्षशास्त्र अ० २ सूत्र १२ का अकलकदेव कृत राजवार्तिक भाष्य देखो।

(४) भगवद् कुन्द-कुन्द ने अपने किसी अन्य ग्रन्थ मे भी तेजोवायु को त्रस नही लिखा है। प्रत्युत 'त्रस' द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय जीवो को ही बताया है। देखो मूलाचार अ० ५ गाथा ८ और २१।

(५) 'पचास्तिकाय' की गाथा ३९ मे स्थावर और त्रस जीवो का लक्षण इस प्रकार दिया है—स्थावरो के कर्मफल चेतना होती है अर्थात् स्थावर कर्मोदय के द्वारा आत्मशक्ति से हीन-निरुद्यमी—विकल्प रूप कार्य करने मे असमर्थ होकर अप्रगट रूप से कर्मों के फल को भोगते है। त्रस रागद्वेष मोह की विशेषता लिए उद्यमी होकर इष्टानिष्ट कार्य करने मे समर्थ होते है, इनके कर्म चेतना होती है।

इस कथन से गाथा १११ का कथन विरुद्ध पडता है अर्थात् तेजोवायु त्रस नही हो सकते है। अत १११ वी गाथा क्षेपक प्रमाणित होती है। अगर उसे क्षेपक नही माना जायगा तो ग्रन्थ मे परस्पर विरुद्धता का दोप उत्पन्न होगा।

(६) गाथा ११२ के 'एदे' आदि वाक्यो का सम्बन्ध गाथा ११० से ही ज्यादा उपयुक्त वैठता है १११ से नही, इससे भी यह १११ वी गाथा वीच मे प्रक्षिप्त हो गई सिद्ध होती है।

(७) गाथा १११ की दूसरी लाइन शब्दश वही है जो ११२ वी

गाथा की दूसरी लाइन है। इस प्रकार ग्रन्थ मे पुनरुक्ति दोष भी आता है जो मूल ग्रन्थकार कुन्द-कुन्द के इस ग्रन्थ मे कही नही पाया जाता। इससे भी १११ वी गाथा प्रक्षिप्त होनी चाहिए।

(८) अगर १११ वी गाथा को हटा दिया जाय तो ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय मे कोई खामी नही आती प्रत्युत पुनरुक्ति और परस्पर विरुद्धतादि के दोष भी मिट जाते है।

शका—इस गाथा को हटाने पर त्रस और स्थावर के कथन का ग्रन्थ मे अभाव होगा।

समाधान—त्रस और स्थावर का कथन तो गाथा ३९ मे पहिले ही कर दिया गया है। इसके सिवा त्रस और स्थावर का कथन करना इस ग्रन्थ के लिए कोई आवश्यक अग नही है। दूसरे अधिकार में जीवो का इन्द्रिय भेद से कथन किया है त्रस स्थावर रूप से नही जैसा कि गाथा १२१ से लक्षित होता है यही बात अमृतचन्द्र ने गाथा ११८ के उत्थानिका वाक्य मे कही है।

शका—बालावबोध हिन्दी टीका मे—"आगे पृथ्वीकायादि पाच थावरो को एकेन्द्रिय जाति का नियम करते है" ऐसा उत्थानिका वाक्य देकर गाथा, १११-११२ को युग्म रूप दिया है अत ये गाथाएँ युग्म होनी चाहिए। अन्य हस्तलिखित प्रतियो मे भी इन्हे युग्म ही प्रकट किया है और पूर्वोक्त "पृथ्वीकायिकादीना पचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽय" अमृतचन्द्र के इन वाक्यो को उत्थानिका रूप मे—गाथा न० १११ पर दिया है।

समाधान—ये प्रतियाँ ज्यादा प्राचीन नही है। जयसेनाचार्य (वि० स० १३६९) ने इन दोनो गाथाओ को अलग-अलग माना है, युग्म नही क्योकि उन्होने इनके उत्थानिका वाक्य और टीका वाक्य अलग अलग दिये है। इन गाथाओ को युग्म मानने पर भी जो दोप पहिले बता आये है उनका कोई निरसन नही होता।

शका—जयसेनाचार्य ने १११ वी गाथा के कथन मे व्यवहार से तेजोवायु को त्रस मानना वताया है इसमे क्या वाधा है ?

समाधान—धवलाकार और राजवार्तिककार ने तेजोवायु के त्रसत्व का खण्डन किया है वह व्यवहार से ही किया है अत व्यवहार से भी तेजोवायु का त्रसत्व उचित नही है। मूल गाथा मे भी व्यवहार से मानने की कोई वात नही है। अगर फिर भी व्यवहार का ही आग्रह हो तो जल को भी त्रस वताना चाहिए था उसे स्थावर क्यो वताया ? क्या कुन्दकुन्द ऐसा स्खलन कर सकते है ?

इसके सिवा इस कथन मे एक आपत्ति और है वह यह कि आगे जो द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीवो का वर्णन है उन्हे क्या माना जाय ? त्रस या स्थावर ? या कोई अन्य ? यह कुछ नही वताया गया है।

इस प्रकार के युक्ति और आगम से विरुद्ध तथा अनेक दोषो से युक्त कथन कुन्द-कुन्द के नही हो सकते।

(९) मोक्षशास्त्र अ० २ सूत्र १४ का दिगवरीय पाठ "द्वीन्द्रियादयस्त्रसा' है किन्तु श्वेतावरीय पाठ "तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसा" है इससे तेजोवायु को त्रस कहने की मान्यता श्वेतावरीय ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि—किसी श्वे० विद्वान् ने ११२ वी गाथा के पूर्वार्ध मे अपने मत के अनुसार "तित्थावर तणु जोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा" ये वाक्य वढा दिये। प्रतिलिपिकारादि के द्वारा फिर वे ही २ अलग-अलग गाथाओ के रूप मे निवद्ध हो गये। यह सव अमृतचन्द्र के वाद हुआ है, जयसेन के निम्नाकित कथन से भी इसकी सूचना मिलती है —

जयसेन ने पचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति पृ० ६ पर उपोद्घात मे लिखा है—"मेरे पाठक्रम से पहिले अधिकार मे १११ गाथा है और अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार १०३ गाथाएँ है। दूसरे अधिकार मे मेरे

पाठक्रम से ५० गाथाएँ है और अमृतचन्द्र की टीकानुसार ४८ गाथाएँ है और चूलिका रूप तीसरे अधिकार में २० गाथायें है" ।

इस उपोद्घात से साफ लक्षित होता है कि—अमृतचन्द्र की टीका के अनुसार दूसरे अधिकार मे सिर्फ ४८ गाथायें ही जयसेन के वक्त थी जब कि मुद्रित मे दूसरे अधिकार की गाथाये ४६ दी हुई फलित होती है। इस तरह यह एक बढी हुई गाथा वही १११ वी होनी चाहिए जिस पर न तो अमृतचन्द्र की कोई टीका है और न उत्थानिका वाक्य, (पहले अधिकार मे भी एक गाथा बढी हुई है क्योंकि जयसेन ने अमृतचन्द्र के मत से प्रथम अधिकार मे १०३ ही गाथायें सूचित की है जबकि मुद्रित संस्करण मे १०४ दी गई है।

इस तरह पचास्तिकाय की गाथा न० १११ क्षेपक है यह सिद्ध होता है। अगर प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियो की खोज की जाय तो उसमें यह गाथा कभी नही मिलेगी।

(१०) प्रसगोपात्त त्रस और स्थावर के विषय में नीचे कुछ ज्ञातव्य विवेचन किया जाता है —

(क) "त्रस त्रसनाली मे ही होते है बाहर नही, स्थावर सारे लोक मे व्याप्त है" ऐसा शास्त्रनियम है। अगर तेजोवायु को त्रस माना जायेगा तो शास्त्रनियम गलत हो जायगा क्योकि फिर त्रस भी सारे लोक मे व्याप्त हो जायेगे। इस तरह त्रस स्थावर की भेद रेखा रूप त्रस-नाली ही व्यर्थ हो जायगी अतः तेजोवायु को दि० आचार्यो ने त्रस नही माना है।

(ख) कर्म ग्रन्थो मे नाम कर्म की ९३ प्रकृतियाँ बताई है उनमे त्रस, स्थावर तथा एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक ५ जातिनामकर्म ये ७ अलग-अलग भेद बताये है। तब प्रश्न होता है कि—द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक ४ भेद अलग क्यो बताये वे तो "द्वीन्द्रियादयस्त्रसा" इस सूत्र के अनुसार त्रस मे आ जाते है। इसी तरह एकेन्द्रिय जातिनामकर्म भी अलग क्यो

बताया वह भी स्थावर मे आ जाता है। यह मूल कर्म फिलासफी मे ही गडवड क्यो है ?

समाधान—जो जातिनामकर्म के ५ इन्द्रियभेद बताये है वे पाँचो पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ है। और त्रस तथा स्थावर ये २ अलग नामकर्म बताये है वे जीवविपाकी प्रकृतियाँ है। यही इन दोनो मे खास अन्तर है। इसी को लक्ष्यकर पचास्तिकाय की गाथा ३९ मे स्थावर का लक्षण कर्मफलचेतना का भोक्ता और त्रस का लक्षण कार्य चेतना का भोक्ता बताया गया है जो जीवविपाकित्व की दृष्टि से है। इसमे 'एकेन्द्रिय को स्थावर और २ से ५ इन्द्रिय को त्रस कहते है' इसका भी अन्तर्भाव हो जाता है। पचास्तिकाय का लक्षण सूक्ष्म—आभ्यतरिक है। षट्खडागम तत्त्वार्थसूत्रादि मे द्वीन्द्रियादि को त्रस और एकेन्द्रिय को स्थावर लिखा है वह स्थूल (बाह्य) कथन है लक्षण नही, उसे फलितार्थ मात्र समझना चाहिए। इस प्रकार दोनो कथनो मे कोई विरोध नही है, दोनो अलग-अलग विवक्षा से है।

प० कैलाशचन्द जी का सम्पादकीय नोट—विद्वान् लेखक ने पञ्चास्तिकाय की १११ वी गाथा के प्रक्षिप्त होने के सम्वन्ध मे जो उपपत्तियाँ दी है वे विचारणीय है। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्र के सामने यह गाथा नही थी, अथवा इसे उन्होने मान्य नही किया था। इस गाथा के नीचे जो एक वाक्य छपा है वह आगे की गाथा का उत्थानिका वाक्य ही होना चाहिए। गाथा १११ से उसका कोई सम्वन्ध प्रतीत नही होता।

●

तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है ?

केवलज्ञान के १० अतिशयो मे एक अतिशय "सुभिक्ष" वताया है इस विषय मे जैन शास्त्रो मे दो प्रकार के मतभेद पाये जाते है—एक के अनुसार यह सुभिक्ष एक सौ योजन (चार सौ कोश) तक होता है और दूसरे के अनुसार दो सौ योजन (आठ सौ कोश) तक होता है।

यह मान्यता भेद कैसे हुआ इस पर नीचे कुछ विचार किया जाता है। पहिले उन ग्रन्थो के उद्धरण दिये जाते है जिनमे एक सौ योजन तक सुभिक्ष होना वताया है —

१—तिलोयपण्णत्ति (यतिवृषभ कृत) अधिकार ४ गाथा ८९९।

जोयण सद मज्जादं सुभिक्खदा चउ दिसासु णियथाणा।

(जहाँ तीर्थंकर बैठे हो वहाँ से एक सौ योजन की सीमा मे चारो दिशाओ मे सुभिक्ष होता है)।

२—जम्बू दीव पण्णत्ति (पद्मनन्दि कृत) उद्देश १३, गाथा ९८

गाउय तह सय चउरो सुभिक्ख णिरुवद्दओ हवइ देसो।
जहि-जहि विहरइ अरहो तहि-तहि होइ णायव्वो॥

(जहाँ-जहाँ अरहत भगवान् विहार करते है वहाँ-वहाँ चार सौ कोश (एक सौ योजन) प्रमाण देश सुभिक्ष से सयुक्त और निरुपद्रव होता है)।

गाउय (गव्यूत) का यहाँ जो एक कोश अर्थ लिया है वह ग्रन्थानुसार लिया है देखो उद्देश्य १३, गाथा ३४ जहाँ 'गाउय' का १ कोश ही अर्थ दिया है—

३—प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधर कृत)

सौभिक्ष भवतिस्म योजनशत यत्ससद सर्वत ।। अ० ४, श्लो० १८६
(समवशरण सभा के सब ओर सौ योजन तक सुभिक्ष होता है)

४—पद्म चरित (रविषेण कृत) सर्ग ४, श्लोक ५५
य य देश स सर्वज्ञ प्रयाति गति योगत ।
योजनाना शत तत्र जायते स्वर्गविभ्रमम् ।।

(गति योग से जहाँ-जहाँ सर्वज्ञ जाते है वहाँ-वहाँ सौ योजन तक का क्षेत्र स्वर्ग तुल्य हो जाता है)

५—पउम चरिय (विमलसूरि)
(क) जोयण सय समता मारीइ विवज्जिओ देसो ।।उ० २, गा० ३२
(ख) विहरइ जत्थ जिणिदो सो देसो सग्ग सनिहो होई ।
जोयण सय समता रोगादि विवज्जिओ रम्मो ।। पर्व ४ गा० ३४
(ग) जोयणसय अण्ण जत्थ छइ केवली समुद्देसे ।
वेराणुवधरहिया हवति नियय णरवरिंदा ।। (पर्व ७५, गाथा २५)

(जहाँ जिनेन्द्र विहार करते है वहाँ सौ योजन तक का क्षेत्र स्वर्गतुल्य और रोगरहित हो जाता है एव मनुष्यो के सब वैरभाव मिट जाते है)

६—नन्दीश्वर भक्ति (पूज्यपाद कृत)
गव्यूतिशतचतुष्टयसुभिक्षता (गव्यूति क्रोशमेक गव्यूतीना शतचतुष्टये सुभिक्षता,—प्रभाचन्द्रकृत टीका) चार सौ कोश तक सुभिक्ष ।

७—त्वदास्थानास्थितोद्देश परित शतयोजनम् ।
सुलभासनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ।।३६।। (पर्व २५ आदि पुराण)

आदिपुराण (जिनसेन कृत) पर्व २५, श्लोक २७० ।
सुभिक्षक्षेत्रमारोग्य गव्यूतीना चतु शती ।
भेजे भूर्जिनमाहात्म्यादजातप्राणिहिंसना ।।

(जिनेन्द्र के माहात्म्य से चार सौ कोश तक सुभिक्ष और आरोग्य था)

८—पार्श्वपुराण (प० भूधरदास कृत) ९ वाँ अधिकार ।
चहुँ दिशि चार-चार सौ कोश होय सुभिच्छ सदा निर्दोष ।

९—इष्टछत्तीसी (बुधजनजी कृत) योजन शत इक मे सुभिख ।

१०—रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वचनिका (प० सदासुखजी सा० कृत) "चारो तरफ सौ-सौ योजन सुभिक्षता' (वीरसेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थमाला पृ० ४०६)

११—तिलोयसार वचनिका के अन्त मे समोसरण वर्णन (स्थानीय हस्तलिखित प्रति—पडित प्रवर टोडरमलजी सा० कृत)

'अर चौगिरद सौ-सौ योजन पर्यंत दुर्भिक्ष आदि ईतिभीति का न होना इत्यादि अतिशय वर्ते है ।' (पत्र ३३७)

१२—महापुराण–अपभ्रंश (पुष्पदन्त कृत) गव्वूइ सयाइ चयारिजाम ।
वित्थरइ सुहिक्खु सुखेउ ताम ॥ सधि १०, कडवक २

अव उन ग्रन्थो के उद्धरण दिये जाते है जिनमे दो सौ योजन तक सुभिक्ष होना वताया है —

१३—हरिवशपुराण (जिनसेनकृत)

(क) द्वियोजनशतक्षोणी सुभिक्षत्वोपपादक । सर्ग ३, श्लोक १४

(ख) विहारानुग्रहीताया भूमौ न डमरादय ।
दशाभ्यस्तयुग भर्तुरहोऽत्र महिमा महान् ॥ १०८ ॥

(द्विशत-योजन, इति टिप्पणे) सर्ग ५६

(यह भगवान की महान् महिमा है कि—जहाँ वे विहार करते हैं वहाँ दो सौ योजन तक उपद्रवादि नही होते)

१४—चन्द्रप्रभ चरित (वीरनन्दि कृत) सर्ग १८, श्लोक १३४

व्यहरद् यत्र यत्रासौ तत्र तत्र सुभिक्षता ।
अजायत जनप्रीत्यै योजनाना शतद्वये ।

(जहाँ जहाँ भगवान ने विहार किया वहाँ वहाँ दो सौ योजन तक सुभिक्ष हो गया)

१५—धर्मशर्माभ्युदय (हरिचन्द्र कृत) सर्ग २०, श्लोक ६६

नो दौर्भिक्ष्य नेतयो नोपसर्गा नो दारिद्र्य नोपघातो न रोगा ॥

तन्माहात्म्याद् योजनाना शते द्वे नाभूत् किंचित्क्वापि कर्माऽप्यनिष्टम् ॥

(भगवान के माहात्म्य से दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष, ईति, उपसर्ग, दारिद्रय, उपघात, रोग यानी कुछ भी अनिष्टकर्म कही भी नही होते थे।)

१६—पद्मचरित (रविषेण कृत)

(क) यस्मिन्विहरणप्राप्ते योजनाना शतद्वये ।
दुर्भिक्षपरपीडानामीतीना च न सभव ॥
(सर्ग २, श्लोक ९१)

(ख) तिष्ठति मुनयो यस्मिन्देशे परमलब्धय ।
तथा केवलिनस्तत्र योजनाना शतद्वयम् ॥
पृथ्वी स्वर्गसकाशा जायते निरुपद्रवा ।
वैरानुबन्धमुक्ताश्च भवन्ति निकटे नृपा ॥
(सर्ग ७८, श्लोक ५५-५६)

जहाँ केवली रहते है वहाँ दो सौ योजन तक दुर्भिक्ष, परपीडा, ईति नही होती है तथा पृथ्वी स्वर्गतुल्य और निरुपद्रव हो जाती है तथा राजाओ के वैर छूट जाते है)

१७—पचमगल (रूपचद पाडेकृत) दुइ सै जोजन मान सुभिच्छ चऊँदिसी ॥

अब मान्यता भेद के कारण पर प्रकाश डाला जाता है —

उपर्युक्त प्रमाण न० २, ६, ७, १२ मे प्रयुक्त 'गाउय' (गव्यूत) 'गव्यूति' 'गव्वूइ' शब्दो के कोशग्रन्थो मे २ अर्थ पाये जाते है.—एक कोस एव दो कोस। और इसी से एक सौ योजन व दो सौ योजन की भिन्न-भिन्न मान्यतायें प्रचलित हो गई है। गव्यूति का व्युत्पत्ति परक अर्थ यह है कि—'जहाँ गायें मिलें' और यह दो कोस तथा एक कोस दोनो सभव है इसलिये कोष और साहित्य ग्रन्थो मे उक्त दोनो अर्थ पाये जाते है देखो—'अमर कोष, काड २ भूमिवर्ग श्लोक १८—'गव्यूति स्त्री क्रोशयुग'' (दो कोस को गव्यूति कहते है)

अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र कृत) काड ३, श्लोक ५५१-५५२

चतुर्विंशत्यंगुलाना, हस्त दंडश्चतुष्कर । तत्सहस्रौ तु गव्यूत, क्रोश तौ द्वौ तु गोरुत ॥ गव्या गव्यूतगव्यूती चतुष्क्रोश तु योजनम् ।

(चार हाथ का एक दंड, दो हजार दंडों का एक गव्यूत = कोस तथा दो कोस को 'गोरुत' व 'गव्यूति' आदि कहते हैं और चार कोस का एक योजन होता है)

'शब्दार्णव कोश—

द्वाभ्या धनु सहस्राभ्या गव्यूति पुंसि भाषितम् ।

(दो हजार धनुष अर्थात् एक कोश को 'गव्यूति' कहते हैं)

वाचस्पति कोश—

धन्वन्तरसहस्र तु क्रोश क्रोशद्वय पुन ।

गव्यूत तु गव्यूति गोरुत गोमत च तत् ॥

(दो हजार धनुष को एक कोस तथा दो कोस को 'गव्यूत' 'गव्यूति' 'गोरुत' 'गोमत' कहते हैं)

—शब्दादर्श कोश (संस्कृत गुजराती)

गव्यूत = एक कोश, दो कोस। गव्यूति = दो कोस, दो हजार धनुष की लम्बाई (एक कोस) इसी तरह 'गोरुत' और 'गोमत' शब्द का अर्थ है।

प्राकृतशब्दमहार्णव—गाउ, गाउअ, (गव्यूत) कोस—दो हजार धनुष प्रमाण (औपपादिक सूत्र, जीव विचार गाथा १८, विशेषावश्यक ८२ टीका) २ कोस क्रोशयुग्म (ओघ निर्युक्ति गाथा १२)

—तत्त्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागर कृत) अध्याय ३, सूत्र ३८, पृ० १५२)

(ए) द्विसहस्रदण्डैर्मपिता एका प्रमाणगव्यूति (बी) द्विसहस्रदण्डै· गव्यूतिरुच्यते, चतुर्गव्यूतिभिर्मानवयोजन भवति ॥ (दो हजार दण्डों की एक गव्यूति (एक कोस) होता है और चार गव्यूति (चार कोस) का एक योजन होता है)

ऐसा ही राजवार्तिक मे लिखा है—"द्वे दण्डसहस्रे गव्यूत चतुर्गव्यूत योजन"। पट् खडागम पुस्तक १३, पृ० ३३९ पर भी यही लिखा है—वेहि दडसहस्सेहि एव गाउअ होदि। अट्ठाहि दण्डसहस्से हि जोयण॥

वराग चरित, सर्ग ५, श्लोक ८—योजकार्ध च गव्यूतिर्गव्यूत्यर्ध च मस्तके॥

इसमे भी 'गव्यूति, शब्द का प्रयोग एक कोस के अर्थ मे है, 'तत्त्वार्थ वृत्ति' श्रुतसागर कृत के पृष्ठ ११२ से मिलान करो

इन सब प्रमाणो से स्पष्ट है कि—गव्यूति, गव्यूत, गोरुत, गोमत आदि शब्द एकार्थवाची है और इनके एक कोस दो कोस ये दोनो अर्थ होते है। और इन्ही शब्दो के आधार से एक सौ योजन या दो सौ-योजन तक सुभिक्ष होने की दो मान्यतायें प्रचलित हुई है। यह मान्यता भेद कितना प्राचीन है इसका पता ऊपर दिये 'पद्मचरित' के न० ४ तथा १६ से लगता है जिनमे एक जगह तो रविपेण ने एक सौ योजन बतायी है और दूसरी जगह दो सौ योजन बतायी है। इस तरह दोनो मान्यताओ का उल्लेख उन्होने किया है।

इन दोनो मान्यताओ मे 'एक सौ योजन' वाली मान्यता ज्यादा ठीक और वहु मान्य प्रतीत होती है वह प्राचीन भी है जैसी कि तिलोय पण्णत्ति, जम्बू दीव पण्णत्ती और पउम चरिय के प्रमाण न १, २ से विदित होता है। श्वेतावर सम्प्रदाय मे भी एक सौ योजन की मान्यता है देखो—

१—योगशास्त्र (हेमचन्द्र कृत) ११ वाँ प्रकाश, श्लोक २९—

आयोजनशतमुग्रा रोगा शाम्यन्ति तत्प्रभावेण॥

(तीर्थंकर के प्रभाव से एक सौ योजन तक के उग्र रोगादि शान्त हो जाते है)

समवायागसूत्र मे २५ योजन तक दुर्भिक्षादि का निपेध किया। जैन तत्त्वादर्श (आत्मारामजी कृत) में २५॥ योजन तक चारो ओर दुर्भिक्ष न होने का कथन किया है।

जैनधर्ममीमासा (सत्यभक्त कृत) प्रथम भाग पृ० १५६ पर २५ योजन तक रोगादि न होने का उल्लेख किया है।

पहिले, चारो ओर २५ योजन ही मिलकर कुल १०० योजन की मान्यता हो फिर १०० योजन भी चारो ओर माने जाने लगे हो)

२—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित (हेमचन्द्र कृत) पर्व १, सर्ग ६, श्लोक ५३—

अथ साग्र योजना शतं लोकान् रुजा क्षयात् ।
अनुगृह्यास्तापशात्या, प्रावृषेण्य इवाम्बुद ॥

३—अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र) काड १, श्लोक ६०—

सागे च गव्यूतिशतद्वये रुजा, वैरेतयो मार्यतिवृष्टचवृष्टय ।
दुर्भिक्षमन्यस्वकचक्रतो भय, स्यान्नैत एकादश कर्मघातजा ॥

(स्वोपज्ञ टीका-साग्रे पर्चविंशति योजनाधिके गव्यूति क्रोशद्वयं, गव्यूतीना शतद्वये योजनशत इत्यर्थ रुजा रोगो ज्वरादिर्न स्यात्)

टीका मे सवासौ (१२५) योजन का उल्लेख है यह मान्यता भेद है या कवि की अतिरिक्त कल्पना है कुछ कह नही सकते। मन्त्रराज गुण-कल्पमहोदधि, पृ० १७६ पर भी १२५ योजन तक दुर्भिक्षादि का न होना बताया है। फिर भी श्वे० सम्प्रदाय में एक सौ योजन की ही प्रसिद्ध मान्यता है। इसके लिये पडितवर्य्य कैलाशचन्द्र जी शास्त्री कृत 'नमस्कार मन्त्र' पुस्तिका का पृष्ठ ५५ देखो।

शास्त्रो मे जो अनेक प्रकार के मान्यता भेद देखे जाते है उनमे से बहुत से इसी तरह शब्दार्थो के भेद से उत्पन्न हुए है।

कल्याणक रास और कल्याण माला

विनयचन्द्र मुनिकृत कल्याणक रासु (अपभ्रंश)

सिद्धि सुहकर सिद्धिपहु, पणविवि तिजय-पयासण केवल।
(दोहा) (चौपाई)
सिद्धिहि कारणि थुणमि हउ, सयलवि जिण-कल्यान णिहयमल ॥
(दोहा) (चौपाई) (–ध्रुवक)

१—पढम पक्खि दुइजहि आसाढहि (चौपाई)
रिसह-गब्भु तह उत्तरसाढहि (चौपाई)
अधारी छट्ठिहि तिहिमि, वंदमि वासुपुज्जं-गब्भुच्छउ
(दोहा) (चौपाई)
विमलु सु सिद्धउ अट्ठमिहि, दसमिहि णमिजिण जम्ममु तह तउ
(दोहा) (चौपाई)
—सिद्धि सुहकर सिद्धि पहु—

२—धवल पक्खि तहु मासहु छट्ठिहि
पणवहु-गब्भु वीर-परमेट्ठिहि
णेमि भडारउ अट्ठमिहि, गउ णिव्वाणहि हरिकुल मडणु
सत्त महामह छह दिवस, भवियहो करहु मोहमय खंडणु

३—सावण वहल दुइज दिणि सरियउ
गब्भहि सुव्वउ जिणु सचरियउ
दसमिहि कुंथु तिलोयपहु, जणणिहि उवरि सुहासरा वसियउ
मुत्ताहलु जिम सिप्पि-उडि, णियतणुतेएँ णिरु उल्लसियउ

४—धवलिय दुइज दिवसि जगणेसहु
वदहु गब्भुच्छउ सुमईसहु

छट्ठिहि णेमिहि जम्म तउ, पुण गन्नमिहि पासु जिणु सिद्धउ
पुण्णिम दिणि गेयमसिउ, छट्टमि रिनि[1] गन्मागड सिद्धउ

५—भद्दवि जा ॐ यारो नसमि
नति-गन्तु नहि गम्हू मरानमि
गम्नु गुपानहु घट्टि सिव, सिद्धउ नवगउ यारमनउ जिगु
घवडिय-अट्ठमि-नउदमिहि नाहि महा-मह एरेफाउ दिणु

६—माम गुवारहु दुउज अधारी
णमिजिण गम्भदिवसि मा मारी
णेमि-णाणु सिय पडिय दिणि अट्ठमि दिवसहि सिद्धउ सीयलु,
तिहि दिवसहि फग्गाणउ कम्मिाण मामि मरहू मुन मीयलु।

७—कत्तिय गन्नु जणता पडिवहि
सभव णाणु चउत्थिहि तमयहि
पउमप्पह जिण जम्मुनउ अंगारो तेरसिहि णमसहु,
वीरजिणिदहु सिव गमणु सिद्धउ देसासिर अम्मावसि।

८—णिम्मल दुद्दाहि सुविहि सु मेवहु
णेमिहि छट्ठिहि गम्नु सुमगलु।
अरजिण-णाणु दुवारसिहि समव-संभउ पुण्णिम वासरि
णव कल्लाणह अट्ठदिण इय सिहि पक्खहि कत्तिय अवसरि

९—अगहणि बहुल दसमि तउ वीरहु
सुविहि जम्मु तउ सिर पडिवहि तहु
दसमिहि सजमु अरजिणहु एयारसिहि मल्लितव-जम्मणु
णमि केवलु तरयट दिवसि अरजिण जम्मु चउद्दसि मानणु

१०—तहिमि मासि आगहणि पसिद्धउ
सभव-तउ पुण्णिमदिणि सिद्धउ

---

१ रिनि = सप्तमि ७

कल्लाणइ णव दिवस छह मग्गसिरह दुहु पक्खहि आयइ
भावे वदहु जिणवरह अक्खयसोक्खहेउ सजायइं

११—पूस-तिमिरभर दुइजहि केवलु
मल्लिजिणहु समदसण सुह वलु
एयारसिहि सु जम्मु-तउ दुण्हवि जिण चदप्पह पासहु
सीयल-केवलु चउदसिहि भावे पूज करेवि पससहु

११—सतिणाणु सिय दसमिहि पूसहु
अजियहु एयारसिहि सुहासहु
लद्धउ चउदसि पुण्णिमहि अहिणदण जिणधम्महिं केवलु
दस जिण-उच्छव सन्त दिण वंदिवि माणहु सिवसुह अविचलु

१३—माहहु छट्ठि गब्भु पउमाहहु
सयिल जम्मुदिक्ख वारसि तहु
रिसह मोक्खु तम-चउदसिहि अम्मावसि केवलु सेयसह
अवर पक्खि सिय दुइजदिणि केवल दिवसु वासुपुज्जेसहु

१४—विमल जम्मु तउ विमल चउत्थिहि
तासु जि केवलु उज्जल छट्ठिहि
णवमि दसमि अजियहु भणमि तउ जम्मु वि वारसि अहिणदहु
तेरसि धम्महु जम्मु तउ दिणएयारह उच्छव पणरह

१५—कसिण चउत्थिहि सिउ पउमाहहु
फग्गुण छट्ठिहि णाणु सुपासहु
णाणु मोक्खु चदप्पहहु मोक्खु सुपासहु सत्तमि तिण्णिवि
सुविहि-गब्भु णवमिहि तिहिमि तिमिर पक्खि णिसुणाहु मह अण्णवि

१६—सेयसहु तउ जम्मु वि पविमलु
एयारसिहि रिसह जिण केवलु
सुव्वउ सिद्धउ वारसिहि चउदसि वासुपुज्ज तउ जम्मणु
धवल तीजि अर-गब्भु पुणु पचमि मल्लि मोक्खु हयकम्मणु

१७—ससि णिम्मलयरि फग्गुणि अक्खमि
सभव गब्भ-दिवसु सिय अट्ठमि
उच्छव पणरह दिवस दस ण्हवण पुज्ज समलहणु करेप्पिणु
पणवहु भावे तित्थयर मन्थय मउलि कर जोडेप्पिणु
१८—चइति चउत्थिहि केवलु पासहु
पचमि गब्भासउ ससिभासहु
अट्ठमि सीयल गब्भदिणु णवमिहि रिसह जम्मु सजमु तहु,
अरणिव्वाणु अणंतजिण-णाणु मोक्खु पणरसि तम चइतहु
१९—सिय पडिवहि मल्लिहि गब्भुच्छउ
कुंथुहि केवलु तीजहि सुच्छउ
अजियहु पचमि मोक्ख दिणु सिद्धउ सभव जिणु सिय छट्ठिहि
जम्मु णाणु णिव्वाणु तसु सुमईसहु एयारसि दिट्ठउ
२०—तहिमि मासि चइतहि सिय पक्खहु
वीरजम्मु तेरसिहि णमसहु
पउमप्पह जिण णाणु तहि पुण्णिम वासरि भावे वदहु
वारस दिवसह जिणवरह सत्तारह उच्छव अहिणदहु
२१—दुइजहि पास गब्भु वइसाहहु
णवमिहि सुव्वय णाणु तमाहहु
दसमिहि सुव्वय जम्मु तउ णमिहि मोक्खु चउदसिहि कहिज्जइ
वइसाहहु सिय पडिवदिणि कुंथु जम्मु तउ मोक्खु णविज्जइ
२२—छट्ठिहि गब्भु मोक्खु अहिणदहु धम्मु गब्भु अट्ठमिहि पवदहु
सुमइहि संजमु णवमि दिणि वीरणाणु दसमिहि उप्पण्णउ
लोयालोय पयासयरु णवदिण तेरह उच्छव पुण्णउ
२३—जेट्ठ कसिण छट्ठिहि सेयसहु गब्भु विमल जिण दसमि पससहु
दिक्ख जम्मु पुणु वारसिहि देव अणतहु भणइ महामुणि
जम्मु सिद्धि तउ चउदसिहि सतिहि अजिय गब्भु पणरसिदिणि

२४—धवल चउत्थि मोक्खु धम्मेसहु तउ जम्मु वि वारसिहि सुपासहु
एयारह मह सत्तदिण विहिं पक्खहिं जेट्ठहु गणि कहियइं
ऊणणवदि दिण जिणवरह वीसोत्तरु सउ उच्छव महियइ
२५—एयभत्तु एक्किकजि कल्लाणइ, चिहि णिव्वियडि अहव इग ठाणइ।
तिहि आयविलु जिणु भणइ, चउहि होइ उववासु गिहत्थह ।
अहवा सयलह खवणविहि, विणयचदमुणि कहिउ समत्थह ।।
सिद्धि सुहकर सिद्धिपहु०

(अर्थ—एक मिती मे अगर एक कल्याणक हो तो 'एक भक्त' करे दो कल्याणक हो तो 'निर्विकृति' या 'एकस्थानक' करे। तीन हो तो 'आचाम्ल' करे। चार हो तो उपवास करे। अथवा सभी कल्याणक दिवस मे एक उपवास ही करे यह उपवास का कथन समर्थ-सबल के लिये है)

।। इति कल्याणक विधि समाप्त ।।

मास नाम	कल्याणक संख्या	दिन (मिती) सख्या
आषाढ	७	६
श्रावण	७	६
भाद्रपद	४	४
आश्विन	३	३
कार्तिक	६	८
मार्गशीर्ष	६	६
पौष	१०	७
माघ	१५	११
फाल्गुण	१५	१०
चैत्र	१७	१२
वैशाख	१३	६
ज्येष्ठ	११	७
कुल योग—	१२०	८६

नोट —यह दोहा चौपाई के मेल से बनाया गया रासा (गेय काव्य) आशाधर से कुछ पूर्व १३ वी शताब्दी की रचना है ।

यह कृति डेराटू ग्राम के वि० स० १५२६ के एक गुटके से तथा वि० स० १४५५ के एक अन्य गुटके से उतारी गई है इसके सहयोग के लिए हम प० दीपचन्द जी पाडचा के आभारी है ।

श्रीमत्पंडिताशाधरविरचिता कल्याण-माला

पुरुदेवादिवीरान्तजिनेन्द्राणा ददातु न ।
श्रीमद्गर्भादिकल्याणश्रेणी निश्रेयस श्रियम् ॥ १ ॥
शुचौ कृष्णे द्वितीयाया वृषभो गर्भमाविशत् ।
वासुपूज्यस्तथा षष्ठ्यामष्टम्या विमल शिवम् ॥ २ ॥
दशम्या जन्मतपसी नमे शुक्ले तु सन्मते ।
षष्ठ्या गर्भोऽभवन्नेमे सप्तम्या मोक्षमाविशत् ॥ ३ ॥
सुव्रत श्रावणे कृष्णे द्वितीयाया दिवच्युत ।
कुन्थुर्दशम्या शुक्ले तु द्वितीये सुमतिस्थितौ ॥ ४ ॥
जन्मनिष्क्रमणे षष्ठ्या नेमे पार्श्व सुनिर्वृत्त ।
सप्तम्या पूर्णिमाया तु श्रेयान्नि श्रेयसं गत ॥ ५ ॥
भाद्रे कृष्णस्य सप्तम्या गर्भ शान्तिरवातरत् ।
गर्भावतरणं षष्ठ्या सुपार्श्वस्य सितेऽभवत् ॥ ६ ॥
पुष्पदन्तस्य निर्वाण शुक्लाष्टम्यामजायत ।
श्रित शुक्लचतुर्दश्या वासुपूज्य पर पदम् ॥ ७ ॥
आश्विनेऽभूद्द्वितीयाया कृष्णे गर्भो नमे सिते ।
नेमे प्रतिपदि ज्ञान सिद्धोऽष्टम्या च शीतल ॥ ८ ॥
अनन्तः कार्तिके कृष्णे गर्भेऽभूत्प्रतिपद्दिने ।
चतुर्थ्या शभवाधीश केवलज्ञानमापिवान् ॥ ९ ॥

पद्मप्रभस्त्रयोदश्या प्राप्तो जन्मव्रते शिवम् ।
दर्शे वीरो द्विनीयाया कैवल्य सुविधि स्थित ॥ १० ॥
षष्ठ्या गर्भोऽभवन्नेमेद्वादिश्या केवलोद्भव ।
अरनाथस्य पक्षान्ते सभवेशस्य जन्म च ॥ ११ ॥
मार्गे दशम्या कृष्णेऽगाद्वीरो दीक्षा जनिव्रते ।
सुविधे पक्षतौ शुक्ले दशम्या त्वरदीक्षणम् ॥ १२ ॥
एकादश्या जनुर्दीक्षे मल्लेर्ज्ञानि नमेस्तथा ।
अरजन्म चतुर्दश्या पद्मान्ते सम्भवव्रतम् ॥ १३ ॥
पौपकृष्णे द्वितीयाया मल्लि कैवल्यमासदत् ।
चद्रप्रभस्तथा पार्श्व एकादश्या जनिव्रते ॥ १४ ॥
शीतलस्तु चतुर्दश्या कैवल्यमुदमीमिलत् ।
शातिनाथो दशम्यान्तु शुक्ले कैवल्यमापिवान् ॥ १५ ॥
एकादश्यान्तु कैवल्यमजितेशोऽभिनन्दन ।
चतुर्दश्या पूर्णिमाया धर्म्मश्च लभते स्म तत् ॥ १६ ॥
माघे पद्मप्रभ कृष्णे पष्ठ्या गर्भमवातरत् ।
शीतलस्य जनुर्दीक्षे द्वादश्या वृपभस्य तु ॥ १७ ॥
मोक्षोऽभवच्चतुर्दश्या दर्शे श्रेयासकेवलम् ।
शुक्लपक्षे द्वितीयाया वासुपूज्यस्य केवलम् ॥ १८ ॥
चतुर्थ्या विमलो जन्मदीक्षे पष्ठ्या च केवलम् ।
नवम्यामजितो दीक्षा दशम्या जन्म चासदत् ॥ १९ ॥
अभिनदननाथस्य द्वादश्या जन्मनिष्क्रमौ ।
धर्म्मस्य जन्मतपसी त्रयोदश्या बभूवतु ॥ २० ॥
चतुर्थ्यां फाल्गुने कृष्णे मुक्ति पद्मप्रभो गत ।
पष्ठ्या सुपार्श्व कैवल्य सप्तम्या चाप निर्वृतिम् ॥ २१ ॥
सप्तम्यामेव कैवल्यमोक्षौ चन्द्रप्रभोऽभजत् ।
नवम्या सुविधिर्गर्भमेकादश्या तु केवलम् ॥२२॥

वृषो, जन्मव्रते तद्वच्छ्रेयान्मुक्ति तु सुव्रत ।
द्वादश्या वासुपूज्यस्तु चतुर्दश्या जनिव्रते ॥२३॥
अर शुक्ले तृतीयाया गर्भ मल्लिस्तु निर्वृतिम् ।
पचम्या प्रापदष्टम्या गर्भ श्रीसभवोऽपि च ॥२४॥
चैत्रे चतुर्थ्या कृष्णेऽभूत्पार्श्वनाथस्य केवलम् ।
पचम्या चन्द्रभो गर्भमष्टम्या शीतलोऽश्रयत् ॥२५॥
नवम्या जन्मतपसी वृषभस्य बभूवतु ।
दर्शेऽनतस्य कैवल्य मोक्षोऽरस्याऽभवत्तथा ॥२६॥
शुक्लप्रतिपदा गर्भे मल्लि कुन्थुस्तृतीयया ।
ज्ञानेऽजितोऽभूत्पचम्या मोक्षे षष्ठ्या च सभव ॥२७॥
एकादश्या जनिर्ज्ञानमोक्षान्सुमतिरुद्भवम् ।
वीर प्राप्तस्त्रयोदश्या पद्माभोऽत्येऽह्नि केवलम् ॥२८॥
पार्श्व कृष्णे द्वितीयाया वैशाखे गर्भमाविशत् ।
नवम्या सुव्रतो ज्ञान दशम्या च जनिव्रते ॥२९॥
धर्मो गर्भ त्रयोदश्या चतुर्दश्या नमि शिवम् ।
शुक्ले प्रतिपदि प्राप कुन्थुर्जन्मतप शिवम् ॥३०॥
प्राप्तोऽभिनन्दन षष्ठ्या गर्भमोक्षे तु दीक्षणम् ।
नवम्या सुमतिर्वीरो दशम्या ज्ञानमक्षयम् ॥३१॥
श्रेयान् ज्येष्ठेऽसिते षष्ठ्या दशम्या विमलोऽपि च ।
गर्भ समाश्रितोऽनन्तो द्वादश्या जन्मनिष्क्रमौ ॥३२॥
शान्ति श्रितश्चतुर्दश्या जन्मदीक्षाशिवश्रिय ।
अमावास्या दिने गर्भमवतीर्णोऽजितेश्वर ॥३३॥
शुक्ले चतुर्थ्यां निर्वाण प्राप्तो धर्मो जिनेश्वर ।
सुपार्श्वनाथो द्वादश्या जनिप्रव्रजिते स्थित ॥३४॥

इतीमा वृपभादीना पुण्यरकल्याणमालिकाम् ।
करोति कण्ठे भूपा य स स्यादाशाधरेडित ॥३५॥

॥ इत्याशाधरविरचिता कल्याणमाला ॥

यह कल्याणमाला १३ वी शताव्दी के अत की रचना है और कल्याण रास इससे पहिले की १३ वी शताव्दी के मध्यान्तर की रचना है। दोनो की वर्णनशैली एक सी है सिर्फ भापा का भेद है। दोनो मे क्रमश (आपाढादि) मास (कृष्ण शुक्ल) पक्ष और (प्रतिपदादि) तिथिया दी है जिससे मास पक्ष तिथि की कोई इधर-उधर गड-वड हो तो झट पकड मे आ सकती है। कल्याणक रास मे इसके सिवा एक खूबी और पाई जाती है—उसमे प्रत्येक मास की साथ-साथ कल्याणक सख्या और दिन सख्या भी दे दी है।

दोनो रचनाओ मे पच कल्याणक तिथियाँ समान होते हुए भी एक जगह अन्तर पाया जाता है—कल्याणक रास में धर्मनाथ का गर्भ वैशाख शुक्ला ८ दिया है जव कि कल्याणमाला मे वैशाख कृष्ण १३ दिया है। वैशाख कृष्ण १३ (रेवती नक्षत्र) ही उत्तर पुराण और धर्मशर्माभ्युदय मे दिया है अत यही प्रामाणिक है। उत्तर पुराण मे तिथि के साथ नक्षत्र भी दिये है जिनके द्वारा—ज्ञानपीठादि से प्रकाशित उत्तर पुराण के एतद्विषयक पाठ और अर्थ मे जो कही-कही गलतियाँ पाई जाती है उनका समुचित सशोधन हो सकता है।

आशाधर ने उत्तर पुराण ही की तिथियो को उनके साथ दिये नक्षत्र से मिलान कर अपनी कल्याणमाला मे दिया है अत कल्याणमाला का पाठ शुद्ध और प्रामाणिक है।

हिन्दी सस्कृतादि के पूजा पाठो और नकशो आदि मे परस्पर विभिन्न पचकल्याणक तिथियाँ पाई जाती है वे काफी अशुद्ध है आगे पचकल्याणक तिथियो का एक शुद्ध नकशा दिया जाता है पाठक लाभ उठावे —

—पञ्चकल्याणक शुद्ध तिथियाँ—

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष
ऋषभ	आषा कृ २	चै कृ ९	चै कृ ९	फा कृ ११	मा कृ १४
अजित	जे कृ १५	मा शु १०	मा शु ९	पौ शु ११	चै शु ५
सभव	फा शु ८	का शु १५	मृग शु १५	का कृ ४	चै शु ६
अभि	वै शु ६	मा शु १२	मा शु १२	पौ शु १४	वै शु ६
सुमति	श्रा शु २	चै शु ११	वै शु ९	चै शु ११	चै शु ११
पद्म	मा कृ ६	का कृ १३	का कृ १३	चै शु १५	फा कृ ४
सुपार्श्व	भा शु ६	ज्ये शु १२	ज्ये शु १२	फा कृ ६	फा कृ ७
चन्द्र	चै कृ ५	पौ कृ ११	पौ कृ ११	फा कृ ७	,, ,, ,,
पुष्प	फा कृ ९	मृग शु १	मृग शु १	का शु २	भा शु ८
शीतल	चै कृ ८	मा कृ १२	मा कृ १२	पौ कृ १४	आश्वि शु ८
श्रेयास	ज्ये कृ ६	फा कृ ११	फा कृ ११	मा कृ १५	श्रा शु १५
वासु	आषा कृ ६	फा कृ १४	फा कृ १४	मा शु २	भा शु १४
विमल	ज्ये कृ १०	मा शु ४	मा शु ४	मा शु ६	आषा कृ ८
अनत	का कृ १	ज्ये कृ १२	ज्ये कृ १२	चै कृ १५	चै कृ १५
धर्म	वै०कृ०१३	मा शु १३	मा शु १३	पौ शु १५	ज्ये शु ४
शाति	भा कृ ७	ज्ये कृ १४	ज्ये कृ १४	पौ शु १०	ज्ये कृ १४
कुन्थु	श्रा कृ १०	वै शु १	वै०शु०१	चै शु ३	वै शु १
अर	फा शु ३	मृग शु १४	मृग शु १०	का शु १२	चै कृ १५
मल्लि	चै शु १	मृग शु ११	मृग शु ११	पौ कृ २	फा शु ५
सुव्रत	श्रा कृ २	वै कृ १०	वै कृ १०	वै कृ ९	फा कृ १२
नमि	आश्वि कृ २	आषा कृ १०	आषा कृ १०	मृग शु ११	वै कृ १४
नेमि	का शु ६	श्रा शु ६	श्रा शु ६	आश्वि शु १	आषा शु ७
पार्श्व	वै कृ २	पौ कृ ११	पौ कृ ११	चै कृ ४	श्रा शु ७
वीर	आषा शु ६	चै शु १३	मृग कृ १०	वै शु १०	का कृ १५

कुछ श्लोको के अर्थ पर विचार

१—दीक्षा योग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता ।
मनोवाक्कायधर्माय, मता सर्वेऽपि जतव ॥ ७९१ ॥
(यशस्तिलक चपू उत्तरखड—पृष्ठ ४०५)

प० जुगुलकिशोर जी मुख्तार ने इस श्लोक के द्वितीय चरण को "चतुर्थश्च विधोचित" इस रूप मे वदल कर अनेकात वर्प १ पृ० ११, वर्प ११ पृष्ठ १३ एव 'महावीर का सर्वोदय तीर्थ' पुस्तिका पृष्ठ २१-२२ तथा 'सूर्य प्रकाश परीक्षा' पृष्ठ ११८ मे निम्न प्रकार अर्थ किया है—"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये तीनो वर्ण (आम तौर पर) मुनि दीक्षा के योग्य है और चौथा शूद्र वर्ण विधि के द्वारा दीक्षा के योग्य है।"

समीक्षा—मुख्तार साहव ने जो द्वितीय चरण को वदला है वह निराधार प्रतीत होता है क्योकि मुद्रित व प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे ऊपर मुजव ही पाठ पाया जाता है। और फिर विधि के द्वारा जो शूद्र को मुनि दीक्षा के योग्य वताया है वह विधि भी किसी जैन शास्त्र मे देखने मे नही आती अत जो सर्वोदय (?) की भावनावश मन कल्पित पाठ व अर्थ की योजना की गई है वह समुचित प्रतीत नही होती। यह प्रकरण 'दानविधि' नाम के ४३वे कल्प का है अत मेरे खयाल से इसका ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण दीक्षा के योग्य है और सच्छूद्र को सम्मिलित कर चार वर्ण विधोचित आहार (दान) के योग्य है।

प्रश्न—'विघा' शब्द का अर्थ 'आहार' कैसे होता है ?

समाधान—इसी यशस्तिलक के पृष्ठ ४०४ पर "विघा विशुद्धिश्च नवोपचारा" पद देखिये वहाँ 'विधा' का अर्थ 'आहार' ही किया है। सागार

धर्मामृत मे भी 'विधा' शब्द 'आहार' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। देखो अध्याय ७ श्लोक ३९ की स्वोपज्ञ टीका।

प्रश्न—शूद्र आहारदान कैसे कर सकता है ?

समाधान—सच्छूद्र उत्तम श्रावक (क्षुल्लक) तक हो सकता है अत अष्टमूल-गुणादि को धारण कर श्रावक सज्ञा को प्राप्त हुए सच्छूद्र के आहार दान देने मे कोई वाधा प्रतीत नही होती।

२—अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थित ॥ ८५५ ॥

(यशस्तिलक चपू उत्तरखड पृष्ठ ४१०)

प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अनेकान्त वर्ष १० कि० ११–१२ मे 'ऐलक पद कल्पना' शीर्षक लेख मे तथा पं० हीरालालजी सिद्धात शास्त्री ने वसुनन्दि श्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना मे पृष्ठ ५० पर इसका निम्न प्रकार अर्थ किया है—"पूर्व पूर्व प्रतिमारूप व्रत मे स्थित होकर अवधि व्रत पर आरोहण करे। सोमदेव 'अवधि व्रत' पद के द्वारा श्वेताबर परम्परा के समान प्रतिमाओ के नियत काल रूप अवधि का उल्लेख कर रहे है या अन्य कोई अर्थ है ?' (निश्चित नही) ॥

समीक्षा—अनेकान्त वर्ष ५ कि० १ मे प० दीपचन्दजी पाड्या ने 'यशस्तिलक का सशोधन' नाम के अपने महत्त्वपूर्ण लेख मे आज से कई वर्ष पूर्व 'अवधि' के स्थान पर साधार 'अध्यधि' शुद्ध पाठ को सुझा दिया था पर खेद है कि विद्वान् ध्यान ही नही देते, अगर ध्यान दिया जाता तो श्वेताबरोक्त कल्पना करने की जरूरत ही नही होती। पाठ को शुद्ध कर लेने पर अर्थ इस तरह सुसगत हो जाता है—"पूर्व-पूर्व के व्रतो (प्रतिमाओ) को पालन करते हुए आगे-आगे के व्रतो को धारण करना चाहिये" यही बात कविकुल गुरु आचार्य समन्तभद्र ने कही है देखो रत्नकरण्ड कारिका १३६ "स्वगुणा पूर्वगुणै सह संतिष्ठते क्रमविवृद्धा ॥

३—विमोचसुख चैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिका
क्रिया वहुविधासुभृन्मरणपीडनाऽहेतव ॥

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किन्तु ता-
स्त्वयि प्रसृतभक्तिभि स्वयमनुष्ठिता, श्रावकै ॥

(पात्रकेसरी स्तोत्र, ३७)

जैन सिद्धान्त भास्कर वर्ष २, किरण १, पृष्ठ ६ मे श्री कामता प्रसाद जी ने, चर्चा सागर समीक्षा पृ० १२४ मे प० परमेष्ठीदास जी ने, सूर्य प्रकाश परीक्षा पृ० ५९ मे, युगवीर निबन्धावली पृ० २०२ मे पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने, अनेकात वर्ष १२ किरण १० पृ० ३२१ मे प० परमानन्दजी शास्त्री ने तथा 'जैनमित्र' माघ सुदी ५ वीर स० २४५८ मे सुरेशचन्दजी न्यायतीर्थ ने इस श्लोक का निम्न प्रकार अर्थ किया है—"सर्वज्ञ देव ने मुक्ति-सुख के लिए चैत्य–निर्माण, दान, पूजनादि क्रियाओ का उपदेश नही दिया है क्योकि ये क्रियायें प्राणियो के मरण और पीडन की कारण है, किन्तु गुणानुरागी श्रावको ने स्वय ही उनका अनुष्ठान कर लिया है।"

समीक्षा—यह अर्थ ग्रन्थसन्दर्भानुकूल और आगम समत प्रतीत नही होता, इससे तो उल्टा मूर्ति-पूजन विरोधी तारणपन्थी और स्थानकवासी सप्रदाय के मतव्य का समर्थन होता है जो किसी तरह उचित नही, अत मेरे खयाल से इस श्लोक का वास्तविक अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—मोक्ष और अभ्युदय की कारणीभूत चैत्य निर्माण, दान, पूजनादि क्रियाये जो अनेक प्राणियो के मरण और पीडन की हेतु है उनका आप सर्वज्ञ देवने उपदेश नही दिया है 'तो क्या' भक्ति से भरे हुए श्रावको ने स्वय ही उनका विधान कर लिया है ?

यहाँ[1] कवि ने "किन्तु (अव्यय)" पद देकर इस श्लोक को प्रश्नात्मक ढग मे बनाया है और उसका उत्तर आगे के श्लोक मे दिया है जो निम्न प्रकार है—

---

१ कोई यहाँ 'किम् तु' पाठ माने तो भी उसका अर्थ "तो क्या' (प्रश्नात्मक) ही है, "किन्तु-परन्तु" अर्थ नही है।

त्वया त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा केनचिद्
कथचिदुपदिश्यतेस्म जिन ! चैत्यदानक्रिया ॥
अनाशकविधिश्च केशपरिलुचन चाथवा ।
श्रुतादनिधनात्मकादधिगत प्रमाणातरात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—आपने या आपके धर्म प्रचारक गणधर देवादि ने चैत्य निर्माण, दान, उपवास, केशलोचादि (प्राणीवधात्मक) क्रियाओ का कथचिद् उपदेश दिया है अथवा अनादि निधन श्रुत रूप प्रमाणातर से भक्त लोगो ने यह सब जान लिया है।

ऐसी प्रश्नोत्तरात्मक शैली इस ग्रन्थ मे अन्यत्र भी बहुत पाई जाती है। इस श्लोक के 'त्वया' शब्द से साफ सिद्ध हो जाता है कि—सर्वज्ञ देव ने ही इन क्रियाओ का उपदेश दिया है। आगे के श्लोक मे फिर बताया है कि—ऐसा प्राणी पीडात्मक उपदेश देने वाले भगवान् के पाप-बन्ध क्यो नही होता ? उत्तर—प्राणी पीडा न तो नियमत पाप की और न सर्वथा पुण्य की ही कारण है, तप-दानादि भी एकातत पुण्य प्रसाधक नही है, इस तरह हे सत्यवाक् ! आपका मत विचित्र नय रूपी भग-जालो से गहन—दुर्गम है ॥ ३९ ॥

समस्त ब्रह्माड सूक्ष्म जीवो से भरा हुआ है अत हिंसा से नही बचा जा सकता तथा तप भी स्व और पर जीवो के सताप का कारण होने से हिंसात्मक ठहरता है इस तरह सर्वथा ही पाप बन्ध माना जायगा तो मुक्ति असभव ही हो जायगी, पर ऐसा नही है, प्रमाद रहित प्रवृत्ति करने वाले वीतराग पुरुषो के (द्रव्य) हिंसा होते हुए भी पापबन्ध नही होता। देखो श्लोक ४५, ४६ ।

प्रश्न—तीर्थंकर भगवान् ने गृहस्थावस्था मे भले ही जिनपूजा का उपदेश दिया हो, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद उपदेश दिया हो ऐसा कोई उल्लेख अभी तक किसी ग्रन्थ मे देखने मे नही आया। (अनेकान्त वर्ष १२ पृष्ठ १२१)

समाधान—तीर्थंकर छद्मस्थावस्था मे धर्मोपदेश नही देते, केवलज्ञान होने पर ही धर्मदेशना करते है। तीर्थंकरो ने द्वादशाग का उपदेश दिया है उसमे प्रथम ही 'आचाराग' और सातवें 'उपासकाध्ययनाग' मे मुनि व श्रावको के आचार का विधान किया है और श्रावको का मुख्य धर्म कुन्दकुन्दादि आचार्यों के मत मे दान और पूजा है तब वह कैसे सर्वज्ञ कथित नही है ? अवश्य है। अनेक शास्त्रो मे सर्वज्ञ देशना के अन्तर्गत मुनि व श्रावको के आचार का कथन पाया जाता है, अमितगति ने अपने श्रावकाचार मे स्पष्ट लिखा है कि—"दान पूजादि श्रावक धर्म जिनदेव सम्मत है" देखो अध्याय ९ श्लोक १। अगर दान पूजा तपसयमादि का उपदेश दोषास्पद होता तो महाव्रती मुनीश्वर क्यो ऐसे (मूलाचार रत्नकरण्ड श्रावकाचारादि) ग्रन्थो का निर्माण करते ? अनेक शास्त्रो में यह कथन पाया जाता है कि—तीन लोक मे ऐसे बहुत से जैन मन्दिर और प्रतिमाये है जो श्रावक निर्मित न होकर अकृत्रिम और अनादि निधन है। तथा आगम मे जिन बिम्ब दर्शन को तिर्यंचो तक के लिये सम्यक्त्व का कारण बताया है, अत यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि—श्रावको ने सर्वथा अपने आप ही चैत्य पूजादि क्रियाओ की कल्पना नही कर ली है बल्कि वे अनादि निधन, आगम सम्मत और सर्वज्ञ कथित है।

प्रश्न—स्वयं भगवान अपने मुँह से अपनी पूजा का उपदेश कैसे दे सकते है ? यह तो सभ्यता के विरुद्ध है।

समाधान—भगवान सामान्य तौर से भूत भविष्यतादि के सिद्ध और अरहन्त वगैरह के परिपूजन का उपदेश देते है। किसी एक को या अपने को लक्ष्य करके ऐसा उपदेश नही देते।

भगवान वस्तुतत्त्व का निरूपण करते हुए वीतरागभाव से चैत्य, पूजा, दान, तप सयमादि सागार अनगार धर्म का उपदेश देते है, आदेश नही देते। उपदेश और आदेश मे बहुत अन्तर है, एक सेवक भी हित की दृष्टि से अपने स्वामी को कर्तव्यज्ञापन (उपदेश) कर सकता है पर

आदेश—हुकुम नही कर सकता अतः उपदेश देना दोपात्मक नही है,—आदेश देना दोपात्मक हो सकता है।

४—उद्योगिन पुरुपसिंहमुपैति लक्ष्मी , दैवेन देयमिति कापुरुषा वदति। दैव निहत्य कुरु पौरुपमात्मशक्त्या, यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोष ॥

(हितोपदेश-प्रस्ताविका श्लोक ३१, पचतत्रमित्रसम्प्राप्ति श्लोक १३७)

इस श्लोक का प्राय सभी विद्वान् यह अर्थ करते हैं कि—उद्योगी पुरुप को ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। कायर पुरुप ही ऐसा कहते हैं कि—'भाग्य से ही सव कुछ मिलता है, अत भाग्य को ठोकर मारकर आत्मशक्ति के साथ पुरुपार्थ करना चाहिए। यत्न करने पर भी अगर कार्यसिद्धि न हो तो इसमे किसका दोप ?

समीक्षा—इसी अर्थ मे जहाँ भाग्य को ठोकर लगाकर पुरुपार्थ चैतन्य करने कराने की वात कही गई है वही आगे जाकर यह भी कह दिया गया है कि—यत्न करने पर भी कार्य-सिद्ध न हो तो इसमें किसका दोप ? इस तरह अनुपाय, निराशा और अनुत्साह को प्रश्रय दिया गया है। पर जव हम प्रकरण को देखते है तो उसमे अन्य अनेक ऐसे श्लोक है जिनमे उद्यम को खूव पुष्ट किया गया है अतः यह अर्थ कवि-समत प्रतीत नही होता। मेरे खयाल से अगर अतिम चरण का अर्थ इस प्रकार किया जाय तो और भी ज्यादा अच्छा रहे—"यत्न करने पर भी अगर कार्यसिद्धि न हो तो कोऽत्र दोपः = इसमे कोई (अपूर्व) दोप है (यह समझना चाहिए और फिर पुरुपार्थ करना चाहिए, ऐसा कोई कारण नही कि—उद्यमी को सिद्धि वरण न करे)

इस लेख का सिर्फ इतना उद्देश्य है कि—विद्वद्गण और भी साव-धानी के साथ लेखनी चलाये, तथा अपने किसी अभिलषित मतव्य की पुष्टि के लिए शास्त्रविपर्यास न करें। जव मजे हुए विद्वान् ही अन्यथा लिखेगे तो प्रामाणिक लेखन की किससे उम्मेद की जायेगी।



'विधा' के 'आहार' अर्थ पर
पं० फूलचन्द जी का पत्र और उसका उत्तर
तथा
श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री की आपत्तियों का निरसन

श्रीयुक्त प० रतनलाल जी सा० सप्रेम जयजिनेन्द्र

'जैन-सदेश' ता० २४-४-५८ मे आपका लेख देखा। उसमे आपने 'विधा' का अर्थ 'आहार' किया है। यह ठीक नही है। सागारधर्मामृत ७-३९ मे विध शब्द प्रकारवाची है, आहारवाची नही। 'चतुर्विध उपवास' इसका अर्थ चार प्रकार के आहार का त्याग जिसमे है ऐसे उपवास को किया है कोई इसका अर्थ चार प्रकार का उपवास न करले इसलिए अपनी टीका मे उन्होने 'चतुर्विध' का, चतस्रो विधा आहारा· त्याज्या यस्मिन् असौ चतुर्विध , यह अर्थ कर दिया।

यशस्तिलक चपू मे 'चत्वारश्च विधोचिता:, यह पाठ है यह ठीक है। यह भी सभव है कि हस्तलिखित प्रतियो मे यही पाठ मिलता हो पर उसका सम्वन्ध 'दीक्षायोग्या ' पद के साथ है दान के साथ नही। अर्थ करते समय जिसको जितना अर्थ इष्ट हो उतना ही करे यह अन्य वात है अस्तु, ये प्रासगिक सूचनाये है। उपयुक्त लगे तो स्वीकार करलें अन्यथा छोड दें। मुझे आपसे जो मुख्य वात पूछनी है कि—शूद्र क्षुल्लक तक के व्रत धर सकता है यह आपने किन-किन ग्रन्थो मे देखा है। कृपया प्रमाण सहित अवश्य ही लिखने की कृपा करें। व्यक्तिगत जिज्ञासावश ही आपसे यह पृच्छा की है। आशा है, उत्तर यथासभव शीघ्र देने की कृपा करेंगे।

आपका—फूलचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

उत्तर

'विघ' नही 'विधा' स्त्रीलिंग शब्द है। जैसा कि आशाधर जी के 'चतस्रो' स्त्रीलिग विशेपण से ससूचित होता है। 'विधा' का अर्थ स्पष्ट रूप से आशाधार जी ने आहार ही किया है, जो कि उन्हे अभिप्रेत था। 'विधा' का अर्थ अगर 'आहार' नही होता तो आशाधर जी जैसे बहुश्रुत विद्वान् उसका उस अर्थ मे कभी प्रयोग नही करते। अमितगति-श्रावकाचार परि० १२ श्लोक १२३—"चतुर्णां तत्र भक्ताना त्यागोवर्ज्य श्चतुर्विधा." मे भी 'चतुर्विधा' का यही अर्थ किया गया है।

मैंने अपने लेख मे यशस्तिलक उत्तरखण्ड पृष्ठ ४०४ का भी एक प्रमाण दिया था, जिस पर फूलचन्द जी सा० का ध्यान गया नही दिखता है, किन्तु वहाँ दिये हुए 'विधा-विशुद्धि' शब्द से स्पष्टतया 'विधा' का अर्थ आहार ही सिद्ध होता है और कोई दूसरा अर्थ वहाँ सम्भव नही, क्योकि 'विधा-विशुद्धि' शब्द नवधा-भक्ति के अन्तर्गत आहार शुद्धि नाम की ९ वी भक्ति के रूप मे वहाँ प्रयुक्त किया गया है।

यशस्तिलक चम्पू से ही एक और प्रमाण देता हूँ। देखो—पूर्व खण्ड, पृष्ठ १३८, श्लोक १२७ की श्रुतसागरी टीका जिसमे साफ तौर से 'विधा-वृत्ति' का अर्थ 'आहारप्रवृत्ति' दिया हुआ है।

ये तो हुआ साहित्यिक प्रमाण। अब कोशो से भी इसकी पुष्टि की जाती है। देखो—(क) अमरकोप, काण्ड ३, नानार्थ वर्ग क्षीरस्वामी कृत टीका—च शब्दाद् हस्त्यश्वादि भोजने वेतने च विधा।

(ख) अमरकोप की भानुजी दीक्षित कृत व्याख्या सुधा—"विधा गजान्ने ऋद्धौ च प्रकारे वेतने विधौ" इति विश्व।

(ग) अनेकार्थ सग्रह (हेमचन्द्र कृत) द्वितीय काड श्लोक २५२—विद्ध सदृग्वेधितयो क्षिप्ते विवर्द्धिमूल्ययो। प्रकारेभान्नविधिपु विधि-र्ब्रह्मविधानयो॥

२—मुख्तार साहब के कल्पित 'चतुर्थञ्च' पाठ को जो फूलचन्द जी

सा० ने ठीक न मानकर 'चत्वारश्च' पाठ को ही ठीक माना है वह समुचित है, किन्तु उसका सम्बन्ध जो 'दीक्षायोग्य' पद के साथ बताया है वह किसी तरह उचित नही। क्योकि जब पूर्व पद मे दीक्षा के योग्य तीन वर्ण ही बताये है तो फिर आगे के पद मे चारो वर्णो को विधि के द्वारा योग्य कैसे बनाया जा सकता है? सम्भवत इसी आपत्ति को लक्ष्यकर मुख्तार सा० ने 'चतुर्थश्च' पाठ की योजना की है, किन्तु यह सब 'विधा' शब्द के ठीक अर्थ को न समझने का परिणाम है अगर 'विधोचिता' का अर्थ प्रकरणानुसार 'आहार दान के योग्य' कर लिया जाता है तो फिर कोई असगति नही रहती। यह श्लोक दानविधि नाम के ४३ वें कल्प का है, इसके 'चत्वारश्च विधोचिता' पद मे दान के स्वामी—अधिकारी बताये है। यही बात अनगारधर्मामृत अ० ४, श्लोक १६७ की टीका मे दिये हुए—"अन्यै—ब्राह्मणक्षत्रियवेश्यसच्छूद्रै स्वदातृगृहात्" वाक्य से जानी जाती है। इसके सिवा एक बात और है—भट्टारक सोमदेवाचार्य का वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध लिखना सभव नही, इस दृष्टि से भी शूद्र को दीक्षा योग्य बताना उनकी प्रकृति के विरुद्ध ज्ञात होता है अतः यहाँ 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' ही है यह भली-भाँति सिद्ध होता है।

'चत्वारश्च' का अर्थ चार होता है न कि एक, इससे 'जिसको जितना अर्थ इष्ट हो उतना ही करे' यह नही हो सकता।

अन्त मे फूलचन्द जी सा० ने 'शूद्रक्षुल्लक तक के व्रत धर सकता है, इस विपय मे मुझसे प्रमाण पूछे है अत नीचे कुछ प्रमाण दिये जाते है।

(१) आदिपुराण पर्व ४०, श्लोक १७०-१७१ सच्छूद्रो को दीक्षा के अयोग्य बताते हुए उन्हे एक शाटकधारी (क्षुल्लक) तक होना बताया है।

(२) पर्व ३९, श्लोक १५८ मे कुलगोत्रादि से विशुद्ध को ही दीक्षायोग्य बताया है।

(३) पूज्यपादकृत जैनेन्द्रव्याकरण,–वर्णनार्हद्‌हरूपायोग्याना' सूत्र और उसकी अभयनदिकृत महावृत्ति ।

(४) प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १५४–भोज्येष्वेव प्रदातव्य सर्वदा क्षुल्लकव्रतम् ।

(५) छेदपिण्ड गाथा २१९ से २५५ तथा प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १०६ से ११३ सटीक ।

(६) यशस्तिलकचम्पू—"दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णा ।"

(७) उत्तरपुराण पर्व ७४, श्लोक ४९३–तीन वर्णो को ही शुक्लध्यान का अधिकारी बताया है शूद्र को नही ।

(८) ब्राह्मण क्षत्रिया वैश्या योग्या सर्वज्ञदीक्षणे ।
कुल हीने न दीक्षास्ति जिनेन्द्रोदिष्टशासने ॥१०६॥
न्यक्कुलानामचेलैकदीक्षादायी दिगम्बर ।
जिनाज्ञा कोपतोऽनंतसंसार. समुदाहृत ॥१०७॥

प्रायश्चित्तचूलिका ।

(९) प्रवचनसार अ० ३ गा० २५ की जयसेन कृत टीकान्तर्गत "वण्णेसु तीसु एक्को" गाथा जिसका सस्कृत रूपान्तर प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १०६ की टीका मे है, दोनो मे देखो ।

(१०) ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृष्ठ ६३-६४ स्पर्शशूद्र (क्षुल्लक) लोहे का पात्र राखे है । (यह उसका वाह्य चिन्ह है) अरि ऐलक अजिकाजी तो क्षत्री, वैश्य, ब्राह्मण ऊँच कुली ही नियम करि उत्कृष्ट श्रावक के व्रत धारे है । अर अस्पर्शशूद्र के प्रथम प्रतिमा का धारक जघन्य श्रावक ता को भी व्रत नाही सभवे है ।

(११) दौलतक्रियाकोश—श्रीगुरु तीनवर्ण विन कदे, नहिं मुनि ऐलि-तनें व्रत दे । ९२९ ।

(१२) अन्य भाषा के पडितो ने भी यही लिखा है । देखो श्रावक-धर्म सग्रह (प० दरयावसिंहजी सोधिया कृत) व प० टोटलमलकृत

मोक्षमार्ग प्रकाशक में 'शूद्रमुक्ति निषेध' प्रकरण एव अन्य आचार्यों का शूद्रमुक्ति-निषेध विवेचन।[1]

६ मई ५८ के 'जैनदर्शन' पत्र में इन्द्रलाल शास्त्री ने भी यशस्तिलक के पूर्वोक्त श्लोक पर अपने विचार प्रकट किये हैं नीचे उनकी समीक्षा की जाती है।

इन्द्रलालजी—श्री रतनलालजी ने जो 'विधा' का 'आहार' अर्थ किया है वह उचित नही है, आहार अर्थ करने से श्लोक की अर्थ सगति भी नही बैठती। वास्तव मे यहाँ 'विधा' का अर्थ समृद्धि अथवा वेतन (भरण) है। यशस्तिलक और सागारधर्मामृत दोनो मे 'विधा' शब्द का अर्थ 'प्रकार' है आहार नही। यशस्तिलक मे जो 'विधा विशुद्धि' शब्द है उसका अर्थ भी प्रकार (विधि) की विशुद्धि ही है।

समीक्षा—पूर्व मे अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है कि—विधा का अर्थ आहार है और वह यहाँ सर्वथा प्रकरण सगत एव सदर्भानुकूल है। सारे श्लोक का अर्थ इस प्रकार सुसगत है—"दीक्षा के योग्य तीन वर्ण हैं और आहारदान के योग्य चार वर्ण है एवं मनवचनकाय से धर्म करने के अधिकारी सभी प्राणी है।"

इन्द्रलाल जी द्वारा किये गए 'विधा' शब्द के समृद्धि, वेतन अर्थ के साथ इस श्लोक की कोई सगति नही बैठती वह सब प्रकरण विरुद्ध और असवद्ध है। इसी तरह 'विधाविशुद्धि' का अर्थ जो 'प्रकार की विशुद्ध' गया हे वह और भी इन्द्रलालजी के सस्कृतज्ञान की तथा दुराग्रह की अच्छी तरह कलई खोल देता हे। पूरा श्लोक इस तरह है—

---

१. निम्न ग्रन्थो को भी देखिये—

भावसग्रह गाथा १००। मेधावीकृत धर्म सग्रह श्रावकाचार अ० ६ श्लोक २५२ से २५५। अनगार धर्मामृत अध्याय ६ श्लोक ८८।

प्रतिग्रहोच्चासनपाद्यपूजाप्रणामवाक्कायमन प्रसादा ।
विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा कार्या मुनीना गृहसश्रितेन ॥

इसमें बताया है कि—"प्रतिग्रह, उच्चासन, पाद्य = पादोदक, पूजा, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और विधा (आहार) शुद्धि ये ९ उपचार-भक्तियां मुनियों की गृहस्थो को करना चाहिये। इससे साफ सिद्ध है कि—विधाविशुद्धि शब्द यहाँ आहार शुद्धि नाम की ९ वी भक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसी हालत में इन्द्रलालजी मा० बताने का कष्ट करें कि प्रकार (विधि) की शुद्धि क्या चीज है? इसी तरह सागार-धर्मामृत मे भी विधा का साफ साफ आहार अर्थ दिया गया है, देखो अध्याय ७ श्लोक ३९ की टीका।

अब मैं इस विषय में एक प्राचीन प्रमाण पेश करता हूँ—अनगार-*धर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ६६ की टीका में प० आशाधरजी ने यशस्ति*-लक के २ श्लोको को निम्न-प्रकार उद्धृत किया है—दत्त। केन? गृहिणा गृहस्थेन ब्राह्मणाद्यन्यतमेन न शिल्प्यादिना तदुक्त—(यशस्तिलक उत्तरार्ध पृष्ठ ४०५) शिल्पिकारुकवाक्पण्यसभली पतितादिपु। देहस्थिति न कुर्वीत लिगिलिंगोपजीविपु ॥ दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता। मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जतव ॥

इसमे बताया गया है कि "शिल्पी, कारु, भाट कुटनी, पतित-भ्रष्ट, पाखडी और साधुवेश से आजीविका करनेवाले के यहाँ मुनि देहस्थिति (आहार) न करे। दीक्षा योग्य तीन वर्ण है और आहार योग्य (जिनके यहाँ मुनि आहार कर सके या जो मुनि को आहार दे सकें) चार वर्ण हैं एव मनवचनकाय से धर्म-साधन के लिये सभी प्राणी अधिकारी है।" प्रथम श्लोक मे उन शूद्रादि का निपेध किया है जो अभोज्य है और दूसरे श्लोक मे वे शूद्रादि ग्रहण किये गये है जो भोज्य है। प्रायश्चित्त-चूलिका श्लोक १५४ की टीका मे भोज्य का अर्थ इस प्रकार किया है—यदन्नपान ब्राह्मण-क्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते। अर्थात् भोज्यशूद्र उन्हे कहते है जिनके यहाँ चारो

वर्णवाले आहार कर सकते है। धर्मसग्रह श्रा० अध्याय ६, श्लोक २२६ मे भी शूद्र को दानादि का अधिकारी वताया है। अनगार धर्मामृत अ० ४, श्लोक १६७ की टीका मे भी यही लिखा हे। इस तरह चारो वर्णो को आहारदान का अविकारी वताना सोमदेव का उचित ही है। इन श्लोको को उद्धृत कर आशाधरजी ने भी अपना समर्थन जाहिर किया है—इसके सिवा इससे एक वात का और पता चलता है कि–"चत्वारश्च विधोचिता" पाठ ही प्रामाणिक और सही है 'चतुर्थश्च विधोचित' जो मुख्तार सा० का कल्पित पाठ है वह ठीक नही है। आशाधरजी ने आहारदाता के प्रकरण मे इन श्लोको को उद्धृत कर यह सिद्ध कर दिया है कि—'विधोचिता' मे विधा का अर्थ आहार ही है।

इद्रलालजी—यदि आज कोई वीतरागी आचार्य भी असगतपाठ को सगत कर देता है तो उसे गिराने के लिये कितना होहल्ला मचाया जाता है जिसका उदाहरण सजद पद की चर्चा है। आचार्य श्री शान्तिसागरजी को भी लोगो ने भला-वुरा कहने मे सकोच न किया।

समीक्षा—सजद पाठ को असगत बताना भगवन्त पुष्पदन्तभूतवलि तथा आचार्य वीरसेन के साथ भी अनौचित्य करना है। आचार्य शान्तिसागरजी ने सजदपाठ को सगत नही किया वल्कि उसे निकाल दिया है जो एक प्रकार की अनधिकार चेष्टा कही जानी चाहिए। अगर लोगो ने इसका विरोध किया तो वह समुचित ही था, अपनी तुच्छवुद्धि से जिनवाणी का अङ्गच्छेद करना और समझाने पर भी निजाग्रह नही छोडना श्रुत का महान् अनादर है, जो भाई किसी व्यामोहवश गलत वातो का भी समर्थन करते कराते है वे भी श्रुतापराधी है। ऐसी ही प्रवृत्तियो से हीन आदेशो की परम्परा पडती है।

इस पर २६ जून के 'जैन दर्शन' मे इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर वालो ने एक लेख और लिखा है, नीचे उसकी भी समीक्षा की जाती है।

इस लेख मे इन्द्रलाल जी ने मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी सा० पर

फिर छीटाकशी की है और उनकी ग्रथपरीक्षाओ को अयुक्त कहा है किंतु आजतक इन्द्रलाल जी ने या उनकी मडली ने ग्रथपरीक्षाओ का जरा भी प्रतिवाद करने की हिम्मत तक नही की है, सोमसेन त्रिवर्णाचार के प० पन्नालाल जी सोनी कृत अनुवाद की जो ग्रथपरीक्षा के तीसरे भाग मे समालोचना की गई है उसका भी जवाब आजतक नही लग पाया है, हिम्मत क्या करें और जवाब क्या लगे ! ये परीक्षायें लिखी ही बडी सावधानी और अकाट्य प्रमाणो के साथ गई है। बडे-बडे पुरुषो ने उन परीक्षाओ का लोहा माना है। जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद मे ही पंडितो के पडित श्री गोपालदास जी बरैया ने त्रिवर्णाचारो को विद्यालयो के पाठ्यक्रम मे निकाल दिया था एवं इन परीक्षालेखो से प्रसन्न होकर दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् सेठ हीराचन्द जी नेमीचन्द जी सोलापुर वालो ने इनको मराठी मे प्रकाशित कराया था।

इसमे कोई शक नही कि इन परीक्षालेखो ने जनता की स्वाभाविक बुद्धि को काफी प्रभावित किया है, और कूटलेखको का अच्छी तरह पर्दाफाश कर दिया है—जब ४ पैसे की हाडी को भी भली प्रकार ठोक-बजाकर खरीदा जाता है तो जिसके साथ इस लोक और परलोक का हित सन्निहित हो उसे आँख मूँदकर कैसे मान्य किया जा सकता है—इस तथ्य को अब लोग बहुत कुछ समझने लग गये हैं। ग्रथो के विषय में जो यह सम्यग्दर्शन लोगो मे पैदा हुआ है इसका बहुत बडा श्रेय प्राय इन परीक्षालेखो को ही है, इस समय अत्यन्त आवश्यकता है कि इनके परिवर्धित नूतन भव्य सस्करण सभी भाषाओ मे प्रकाशित कराये जायें। अगर इस पुनीत कार्य को सिद्धान्त सरक्षिणी सभा व शास्त्री प्ररिषद् अपने हाथ मे ले ले तो वह बहुत हद तक अपना नाम सार्थक कर सकती है।

इन्द्रलाल जी —'विघोचिता' मे 'विधा' का अर्थ भोजन भी माना जाय तो उसकी पूर्व वाक्य से सगति बिठाते हुए यही अर्थ हो सकता है

कि—जिनदीक्षा देने के योग्य तो तीन वर्ण है और चारो वर्ण आहारदान के योग्य है। तीन वर्ण को दीक्षा देने के योग्य वतलाया है उसी प्रकार चारो वर्णो को भोजन देने के योग्य बताया है, जब तीन वर्णो से दीक्षा लेने की वात नही किन्तु उन्हे देने की वात है तो चारो वर्णों के हाथ से यहाँ आहार लेने की वात कैसे टपक पडी ? परन्तु इन्हे तो यह सिद्ध करना है कि शूद्र के यहाँ भी खाया पीया जा सकता है और न खाना पीना शास्त्रप्रतिकूल है।''

समीक्षा—दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णा चत्वारश्च विधोचिता (दीक्षा-योग्य तीन वर्ण है और आहार-योग्य चार वर्ण हैं) इन मूल वाक्यो मे कही भी सोमदेव ने 'देने' या 'लेने' की वात नही जोडी है, पर आपने इनके साथ सिर्फ 'देने' का ही सवध जोडकर जहाँ मुनि को तीन वर्णों के लिए दीक्षा देने का अधिकारी वताया है वहाँ मुनि को ही चार वर्ण के लिए आहार देने का भी अधिकारी वता दिया है सो क्या मुनि भी आहार देते है ? वताने का कष्ट करें। अगर नही देते है तो स्पष्टत वे चारो वर्णो से आहार लेने के ही तो अधिकारी ठहरते है फिर आप इसे टपकना कैसे वताते है ? इनके सिवा ''चारो वर्णो को भोजन देने के योग्य वताया है'' आपके इन वाक्यो से भी तो यह अर्थ निकलता है कि—चारो वर्ण वाले मुनि आदि को आहार देने के योग्य है फिर आप इसका निपेध कैसे करते है ? अत जो कुछ अर्थ घटित किया जाय वह शास्त्र समत और प्रकरणानुसार होना चाहिये। इस अपेक्षा को ध्यान में लेने पर मूलवाक्यो से 'देने' और 'लेने' की दोनो वाते निम्न प्रकार सुघटित होती है, इससे श्रावक और साधु दोनो का एतद्विपयक कर्त्तव्यकर्म भी स्पष्ट हो जाता है —

१—तीन वर्णो को ही मुनि दीक्षा दें = तीन वर्ण वाले ही मुनि-दीक्षा लें।

२—चारो वर्ण वाले आहार दे सकते है = मुनि चारो वर्णो से आहार

ले सकते है। अर्थात्–जहाँ एक पक्ष के लिए देने की वात होती है वहाँ दूसरे पक्ष के लिए स्वत ही लेने की वात घटित हो जाती है। इस साधारण वात को भी आप नही जानते दिखते है।

प्रायश्चित्तचूलिका श्लोक १५४ की टीका मे कारु शूद्र के भेद भोज्य शूद्र के विपय मे इस प्रकार लिखा है "तदन्नपान ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते" अर्थात्–जिनका भोजनपान चारो वर्णवाले करते है वे 'भोज्य शूद्र' है ऐसे शूद्रो को ही क्षुल्लक दीक्षा दी जानी चाहिए। इससे साफ फलित होता है कि–भोज्य शूद्र (कारु) जो क्षुल्लक दीक्षा का अधिकारी है वह मुनि को आहार देने के योग्य है–फिर आप कैसे इसका निषेध करते है? या तो आप इस ग्रथ को मानने से इन्कार कीजिये या फिर अपनी मान्यता मे सशोधन कीजिये।

यह प्रमाण मैंने अपने पूर्व लेख मे भी दिया है पर आप उस पर क्यो ध्यान देने लगे, आप तो 'सत्' का अर्थ 'त्रिवर्ण' करके 'सच्छूद्र' को तीन वर्णमे से मानते है जव कि यह प्रमाण आपकी उस निर्मूल मान्यता का स्पष्ट खडन करता है क्योकि इसमे 'भोज्यशूद्र' को कारुशूद्र के भेद मे दिया है इससे आप जो 'सत्' का विचित्र अर्थ करते है वह भी निरस्त हो जाता है

सोचने की वात है 'सच्छूद्र' मे साफ 'शूद्र' शव्द पडा हुआ है जो चौथे शूद्र वर्ण को द्योतित कर रहा है, फिर भी न जाने किस व्यामोहवश उसका गलत अर्थ किया जा रहा है। मै पूछना चाहता हूँ कि–क्या क्षुल्लक दीक्षा भी त्रिवर्ण को ही दी जाती है? भोज्यशूद्र (चौथे वर्ण) को नही? प्रायश्चित्तचूलिका के उपर्युक्त प्रमाण पर ध्यान देने की कृपा करे।

ता० ६-५-५८ के 'जैनदर्शन' मे आपने लिखा है—जो जाति वर्ण से सत् (त्रैवर्णिक) होते हुए भी शूद्रवृत्ति करे वह 'सच्छूद्र' है। सो -ऐसी व्याख्या किस ग्रंथ मे दी हुई है? इस वक्त ऐसे शूद्र कौन है? वताने का कष्ट करें। शास्त्रकारो ने तो 'सच्छूद्र' को स्पृश्यभोज्य और शोभन शूद्र ही लिखा है कही भी त्रैवर्णिक नही लिखा है। क्या आपका यह 'सच्छूद्र'

शूद्रवृत्ति बदलने पर शूद्रसंज्ञा से मुक्त हो जायेगा ? और फिर त्रिवर्ण मे से कौनसे वर्ण को प्राप्त होगा ? और क्या यह मुनि दीक्षा भी ले सकेगा ? वृत्ति से वर्ण बदलने की वात आपको मान्य है क्या ? इन सब वातो का स्पष्ट उत्तर देने का कष्ट करे। इन्द्रनन्दिसहिता मे शूद्र के कारु-अकारु भेद मे सच्छूद्र असच्छूद्र भेद किये है और सच्छूद्र को पात्रदान का अधिकारी वताया है इससे स्पष्टत 'सच्छूद्र' चौथा शूद्रवर्ण सिद्ध होता है। इन्द्रनदि-सहिता का वह उल्लेख इस प्रकार है —

सकृद्विवाहनियता व्रतशीलादिसद्गुणा ।
गर्भाधानाद्युपेता ये सच्छूद्रा कृपिजीविकाः ॥
पात्रदान तु सच्छूद्रै क्रियते विधिपूर्वकम् ।
शीलोपवासदानार्चा सच्छूद्राणा क्रियाव्रतै ॥

इन्द्रलालजी—'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' जो अपने अभिप्राय की पुष्टि के लिये निकाला जा रहा है वह सर्वथा अनुचित है। यदि 'देहस्थिति' से सोमदेवाचार्य का प्रयोजन 'आहार' होता तो वे सीधा योही क्यो न लिख देते कि–'आहार नैव कुर्वीत।' परन्तु 'देहस्थिति' का अर्थ यह है कि—ऐसे लोगो के घर पर खडे भी न रहे। 'स्थिति' का अर्थ चलते-चलते ठहर जाना होता है... ..।

समीक्षा—आपको हर सही अर्थ मे भी अभिप्राय की पुष्टि नजर आती है पर वह क्या है यह आपने नही बताया। वतावें क्या, कोई हो तव न। कविगण एक अर्थ के लिये अनेक विशिष्ट शब्दो का प्रयोग करते है अगर सोमदेव सीधा ही लिख देते तो श्रुतसागर को इस ग्रथ की टीका करने की जरूरत ही क्या थी ? सोमदेव ने अनेक ऐसे जटिल प्रयोग किये है कि–अच्छे-अच्छे साहित्यशास्त्री भी उनका अर्थ नही लगा पाते है। उदा-हरणार्थ—यशस्तिलकचपू उत्तरखड पृष्ठ ३८३ देखिये। वहाँ सिहासन के विशेषण मे लिखा है—'लक्ष्मीश्रुतागमनवीजविदर्भगर्भे' अर्थात्—'लक्ष्मी' कहिये शास्त्रज्ञान का कारण—'अक्षर'की 'विदर्भगर्भे' कहिये

रचना है गर्भ मे जिसके यानी जिस पर 'श्री' अक्षर लिखा गया है ऐसा सिंहासन। कैसा शब्द पाण्डित्य है।

इसी तरह 'देहस्थिति' शब्द है जिसका अर्थ है—जिससे देह बनी रहे यानी 'आहार'। सागारधर्मामृत अ० ६, श्लोक १७ मे भी ऐसा ही 'तनुस्थिति' शब्द ह जिसका देवकीनन्दन जी मा० ने और लालारामजी ने 'आहार' अर्थ किया है। मुनिसुव्रत काव्य (अर्हद्दासकृत) सर्ग ८ श्लोक २३ मे 'तनुस्थिति' तथा उत्तर पुराण पर्व ७३ श्लोक १३२ व पर्व ६८ श्लोक ३७५ मे 'कायस्थिति' शब्द का प्रयोग आहार अर्थ मे ही है।

देहस्थिति या तनुस्थिति शब्द का प्रयोग और भी अनेक ग्रथो मे पाया जाता है पर कही भी 'चलते-चलते ठहर जाना' उसका अर्थ नही किया गया है। इसी तरह कोशो के अन्दर 'भोजन' के नामो मे एक 'देहयात्रा' शब्द है उसका भी यही अर्थ है कि—जिससे देह चले यानी 'आहार'।

अगर सोमदेव को ठहरना अर्थ ही अभीष्ट होता तो वे केवल 'स्थिति' शब्द ही देते जो पर्याप्त था, उनके जैसे महान् शब्दशास्त्री कभी उसके 'देह' शब्द का गलत और व्यर्थ पुछल्ला नही लगाते, इससे साफ जाना जाता है कि—'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' ही है जो प्रकरण सङ्गत भी है उसका अर्थ ठहरना नही है। आशाधर ने भी अनगार-धर्मामृत अ० ५, श्लोक ६६ की टीका मे इस श्लोक को आहार के प्रकरण मे उद्धृत किया है। इस 'शिल्पीकारुकवाक्पण्य' श्लोक के आधार पर ही इन्द्रनन्दि ने 'नीतिसारसमुच्चय' मे लिखा है—

गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविन मद्यविक्रयिणो मद्यपान-संसर्गिणश्च न। क्रियते भोजन गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना, एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीय स्वचेतसा ॥ ३८ से ४० ॥

यहाँ 'देहस्थिति' की जगह 'भोजन' पद का प्रयोग किया गया है। इस तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि 'देहस्थिति' का अर्थ 'आहार' ही है।

शिल्पी वेश्या आदि के घर पर मुनि न रुके ऐसा जो आपने लिखा है वह अयुक्त है। परिस्थितिवश या धर्मोपदेश के कारण ऐसे स्थानो पर मुनि के रुकने मे कोई अयुक्तता नही है, देखो उत्तरपुराण पर्व ५९, श्लोक २५९ से २६१।

आपने जो 'पतित' शब्द के व्यापक अर्थ 'भ्रष्ट' की जगह सकुचित अर्थ 'जातिपतित' किया है वह भी समुचित नही है।

इन्द्रलालजी—'विधा' शब्द का सीधा अर्थ आहार नही है, कटारिया जी द्वारा शब्दकोशो के जो प्रमाण दिये गये है उनसे भी सिद्ध नही होता। इन प्रमाणो मे 'विधा' का अर्थ हाथी घोडो का खाद्य अवश्य किया गया है। 'विधा' शब्द 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' धातु से बना है—विशेषेण धीयते इति 'विधा'। इससे विधा का अर्थ भोजन भी हो सकता है पर यह प्रकरणोपात्त लक्षित और व्यजित ही है शक्त नही। 'विधाविशुद्धि' का शक्त अर्थ विधि की विशुद्धि ही है, आहार के प्रकरण मे जब विधि की विशुद्धि होगी तो भोजन की शुद्धि बिना कैसे होगी? इसलिये विधि की विशुद्धि से भोजन की शुद्धि व्यजित है।

समीक्षा—एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं कौन-से सीधे होते है और कौन-से बॉके-टेढे यह आपकी विलक्षणबुद्धि ही जाने। क्षीरस्वामी टीकागत—'हस्त्यश्वादिभोजने विधा' वाक्य मे 'आदि' शब्द से यह सूचित होता है कि—विशेषरूपेण 'विधा' शब्द हाथी और घोडो के भोजन मे प्रयुक्त होता है पर सामान्यतया वह सभी के 'आहार' का वाची है 'विशेषरूपेण—जिसके द्वारा शरीरपुष्टि होती है' (विशेषेण धीयतेऽनया इति विधा) इस आपकी व्युत्पत्ति मे भी 'विधा' शब्द केवल गज, अश्व के भोजन का द्योतक नही है किन्तु वह सभी के भोजन का द्योतक सिद्ध होता है इसलिए यशस्तिलक पूर्वखण्ड पृ० १३८ मे 'विधावृत्ति' का अर्थ श्रुतसागर ने 'आहारप्रवृत्ति' किया है। इसके सिवा और क्या स्पष्ट प्रमाण होगा पर आप न जाने किस दुराग्रह के वशीभूत होकर इस पर

ध्यान देने का कष्ट नही करते, अस्तु। एक और स्पष्ट प्रमाण आप ही की मण्डली के विद्वान् का प्रस्तुत करता हूँ—पण्डित खूबचदजी शास्त्री, वीरसागरजी महाराज की पूजा मे लिखते है—विरसभुक्तिरसस्य तपस्विनो, रसवतीषु विधासु न ते स्पृहा। तदपि भक्तिवशेन समर्प्यते बहुविध सघृत सरसञ्चरु ॥ इति नैवेद्यम् ॥ इसमे स्फुटतया 'विधा' शब्द भोजन के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। मै पूछना चाहता हूँ कि—इन प्रमाणो के अर्थ को आप शक्त मानेंगे या रूड ? अथवा व्यजित ? कुछ भी मानिये 'विधा' का आहार अर्थ दिनकर की तरह स्पष्ट है। आपने जो 'विधा' के आहार अर्थ को लक्षित और व्यंजित ही बताया है, अभ्युपगमसिद्धात से उसे मान भी लिया जाय तो लक्षित और व्यंजित अर्थ भी तो साहित्यशास्त्र में उपादेय ही बताये है मुख्यार्थ बाधित होने पर वे ही तो वास्तविक अर्थ के द्योतक होते हैं फिर आप उनकी अवहेलना कैसे करते है ? अभी तो आपको यह पाठ बनारस के श्री मुकुन्दजी और महादेवजी शास्त्री ने पढाया ही हैं और आप अभी से उसे भूल रहे है ? यशस्तिलकचपू मे ऐसे सैकडो शब्द है जो किसी कोश मे नही पाये जाते यह भी ध्यान मे रखने योग्य हैं।

'विधाविशुद्धि' नवधा भक्ति का भेद है (विधाविशुधिश्च नवोपचारा) आहार का भेद नही है। अगर विधि की विशुद्धि उसका अर्थ किया जायेगा तो विधि तो सारी ९ ही भक्तियो मे है फिर आहारशुद्धि नाम की ९ वी भक्ति के लिये ही विधि की विशुद्धि कैसे ? किसी भी शास्त्रकार ने ९ वी भक्ति का नाम विधि की विशुद्धि नही दिया है। सभी ने आहारशुद्धि ही दिया है फिर आप सोमदेव जैसे कवि के शब्दो का क्यो गलत और बेतुका अर्थ करके उनके गौरव को विनष्ट करते हैं ?

'विधा' शब्द का प्रकरणानुसार और कवि सम्मत अर्थ 'आहार' ही है आप जो कभी 'वेतन' कभी 'समृद्धि' और कभी 'प्रकार' करते है वह सर्वथा असङ्गत है।

इन्द्रलालजी—पण्डित फूलचन्दजी शास्त्री ने भी जो कटारियाजी के ही है 'विधा' का अर्थ 'आहार' नही माना है।

समीक्षा—ता० १५-६-५८ को श्री पंडितवर्य फूलचन्दजी सा० का पत्र आया है वे लिखते है—श्रीयुत प० रतनलाल्जी सा० ! सप्रेम जय-जिनेन्द्र, हमारे पत्र के उत्तर मे आपके लेख को पढा। सागारधर्मामृत मे 'विधा' शब्द का जो अर्थ आपने किया है वह उचित है, उस ओर सचमुच मे हमारा ध्यान नही गया था। जिस प्रयोजन से हमने पत्र लिखा था उसका उत्तर मिल जाने से प्रसन्नता है। आपका फूलचन्द्र शास्त्री। मैं यहाँ पाठको को यह बताना चाहता हूँ कि—एक ओर तो बहुश्रुत विद्वान् श्री फूलचन्दजी सा० की भद्रता देखिये जो सही अर्थ का निर्देश करने पर अपनी समझ मे सशोधन कर लेते है और दूसरी तरफ श्रीमान् इन्द्रलालजी सा० को देखिये जो विशद विवेचन किये जाने पर भी अपने असद् आग्रह को नही छोडना चाहते, खैर ! अपनी-अपनी परिणति है।

अब मै समाज के दो और प्रख्यात विद्वानो का इस विषय मे मत प्रस्तुत करता हूँ—

१—ता० २२-६-५८ के पत्र मे सागर से प० पन्नालालजी साहित्याचार्य लिखते हैं—श्री प० रतनचन्दजी कटारिया ! सादर जयजिनेन्द्र, आपका 'चत्वारश्च विधोचिता.' वाला लेख उत्तम है। आपने इस पर अच्छा विचार किया है। भवदीय—पन्नालाल जैन साहित्याचार्य।

२—ता० ३ जुलाई ५८ के 'वीरवाणी' पत्र मे पूज्य प० चैनसुखदासजी सा० लिखते है—दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णा ' इत्यादि श्लोक मे 'विधा' शब्द का आहार अर्थ जो केकडी के अध्ययनशील विद्वान् श्री रतनलालजी कटारिया ने किया है वह मर्वथा सगत है यहाँ इसके अतिरिक्त अन्य कोई अर्थ हो ही नही सकता।'

इन्द्रलालजी—'चतुर्विध' शब्द मे यदि 'विधा' शब्द का अर्थ आहार किया जाय तो 'चारआहार' यह अर्थ होगा, चार प्रकार का आहार

यह अर्थ कैसे होगा ? 'प्रकार' फिर किस शब्द का अर्थ होगा ? जब कि उपवास मे चार प्रकार के आहार का त्याग अपेक्षित है चार आहार का अर्थ अपेक्षित नही।

समीक्षा—सागारधर्मामृत अ० ७, श्लोक ३९ के 'चतुर्विध' शब्द मे 'चतुर' का अर्थ ४ प्रकार का उसी तरह है जिस तरह निम्नाकित कारिकाओ मे है—

१—चतुरभ्यवहार्याणा प्रत्याख्यान ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०६।

२—चतुराहारविसर्जनमुपवास ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार १०९।

३—चतुराहारहान यन्निरारम्भस्य पर्वसु ॥ हरिवशपुराण सर्ग ५८, श्लोक १५४।

४—प्रोपध पर्ववाचीह चतुराहारवर्जनम् ॥ धर्मसग्रहश्रावकाचार।

५—चतुर्भुक्त्युज्झन सदा ॥—सागारधर्मामृत अ० ५, श्लोक ३५।

समास मे 'चतुर्' का अर्थ चार प्रकार का, चार बार, या चार जैसा सङ्गत तथा इष्ट हो किया जा सकता है इसमे कोई बाधा नही है। यह बात 'चतुर्गति' 'चतुर्वर्ण' 'चतुर्निकाय' चतुरावर्त्त (चार बार आवर्त्त—चतुरावर्त्तत्रितय—रत्नकरण्डश्रावकाचारे) आदि शब्दो से भी समझी जा सकती है। हिन्दी और सस्कृत दोनो भाषाओ मे 'चार' से 'चार प्रकार' का अभिप्राय भी लिया जाता है इसमे कोई आपत्ति नही है।

सागारधर्मामृत के उक्त 'चतुर्विध' शब्द का अर्थ अगर 'चार प्रकार' का किया जायेगा तो वह 'उपवास' शब्द का विशेषण होने से उसका अर्थ 'चार प्रकार का उपवास' हो जायेगा जो असगत होगा अत आशाधर ने जो 'चतस्रो विधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्त' (चतुर्विध पद की) इस व्युत्पत्ति मे 'विधा' का 'आहार' अर्थ दिया है वह समुचित है। ऐसा ही उन्होने अ० ७, श्लोक ४५ के 'प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्' पद मे किया है। इसी बात को अमितगति ने—'चतुर्णा तत्र भुक्ताना त्यागो वर्ज्यश्चतुर्विध' के रूप मे कहा है। संस्कृत भाषा की ये सब

खूबियाँ है। शब्दसिद्ध कवि, शब्दो का अनेक प्रकार से प्रयोग करते है, हमे उनकी शैलियो और विशिष्टताओ को भली प्रकार समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि—यशस्तिलकचपू के 'चत्वारश्च विधोचिता' और 'विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा' एव सागारधर्मामृत के 'उपवास चतुर्विध' पद मे प्रयुक्त 'विधा' शब्द का अर्थ 'आहार' ही है।

अन्त मे मै इन्द्रलालजी सा० से आशा करता हूँ कि वे इस लेख को सदाशयता से ग्रहण करेंगे और 'वादे वादे जायते तत्त्ववोध' की उक्ति को सार्थक करेंगे।

मै यहाँ यह और वताना चाहता हूँ कि—मुख्तार सा० ने जो यशस्तिलक चपू के 'चत्वारश्च विधोचिता' पाठ को वदला है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि—उन्हे 'विधोचिता' का ठीक अर्थ भान नही हो सका पर प० पन्नालालजी सोनी ने तो यशस्तिलकचम्पू उत्तरखण्ड पृ० ३९७ के 'ता शासनाधिरक्षार्थ कल्पिता परमागमे' इस श्लोक मे 'कल्पिता' के स्थान पर जान-वूझकर 'मानिता' पाठ वदल दिया है देखो 'शासनदेवपूजा के अनुकूल अभिप्राय' नाम का ट्रेक्ट पृष्ठ ३२। सोमदेव ने 'कल्पिता' शब्द देकर व्यतरादि शासनदेवो को कल्पित ठहराया है—इससे अपनी मान्यता मे खलल पडती देखकर श्री सोनीजी ने 'मानिता' पाठ वदला है ऐसा प्रतीत होता है। आशा है इन्द्रलालजी सा० सोनीजी के इस पाठपरिवर्तन पर भी अपना मत जाहिर कर कुछ निष्पक्षता का परिचय देगे।

एक रहस्य की वात और वताना चाहता हूँ—वासुपूज्यकृत 'दानशासन' पृ० १२० मे भी यशस्तिलक का यह "विधाविशुद्धिश्च नवोपचारा, श्लोक पाया जाता है उसके हिन्दी अनुवादक श्री वर्धमानजी पार्श्वनाथजी शास्त्री ने भी वहाँ 'विधाविशुद्धि' का अर्थ आहार की शुद्धि ही किया है। आगे पृ० १२२ मे भी ऐसा ही किया है। ये वर्धमानजी शास्त्री उस जैनदर्शन

के प्रवन्ध सम्पादक ओर सर्वेसर्वा थे जिसमे इन्द्रलालजी शास्त्री के ये लेख छपे है किन्तु उन्होने न तो इन्द्रलालजी के लेखो पर कोई नोट दिया और न कोई अपनी सम्मति इस विपय मे प्रकट की वल्कि इन्द्रलालजी के उन व्यर्थ के लेखो को छापते रहे यह गुट्टवाजी का एक जीवन्त प्रमाण है। विद्वानो के लिए यह शोभाजनक नही ।



मूलसंघ में पंचामृताभिषेक का अभाव

श्री जिन भगवान की प्रतिमा का अभिषेक घृत-दुग्धादि पचामृत से करने की रीति मूलसघ-आम्नाय की नही है। मूलसघ के प्रसिद्ध ग्रथ आदिपुराण और उत्तरपुराण मे कही पर भी पंचामृताभिपेक का उल्लेख नजर नही आता है। भगवज्जिनसेन के आदिपुराण मे अनेक जगह पूजाओ का प्रसग तथा श्रावको के क्रियाकाड का विस्तार से वर्णन पाया जाता है। इतना होते भी जिनसेनाचार्य ने उसमे कही पर भी पंचामृत से अभिपेक करने का कथन नही किया है। इससे स्पष्टत यही तथ्य प्रगट होता है कि इन जिनसेन महर्षि की गुरु परम्परा मे भगवान् का अभिपेक पचामृत से किये जाने की पद्धति कतई नही थी।

राजा भरत को अशुभ स्वप्न आये थे। भगवान् से उनका अशुभ फल जानकर भरत ने शातिकर्म किया था। इसका वर्णन करते हुये आदि-पुराण पर्व ४१ मे ऐसा लिखा है--

शातिक्रियामतश्चक्रे दु स्वप्नारिष्टशातये।
जिनाभिपेकसत्पात्रदानाद्यै पुण्यचेष्टितै. ॥८५॥
गोदोहै प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्पय ।
महादानानि दत्तानि प्रीणित प्रणयीजन ॥८६॥

अर्थात्—भरत ने खोटे स्वप्नोरूप अरिष्ट (अशुभ सूचक उत्पात) की शाति के लिये जिनेन्द्र का अभिपेक, सत्पात्रो को दान इत्यादि पुण्य कार्यो से शान्ति कर्म किया। तथा गायो को दुहाकर भूमि का सिंचन कराया, महर्षियो की पूजा की, बडे बडे दान दिये और प्रेमीजनो को सतुष्ट किया।

कुछ लोग यहाँ के ८६वें श्लोक के प्रथम चरण—'गोदोहै प्लाविता

धात्री' मे गायो के दुग्ध से भगवान् का अभिषेक किया—अर्थ निकालते हैं, वह ठीक नही है। यहाँ आचार्य ने स्पष्ट 'धात्री' शब्द लिखकर यह व्यक्त किया है कि पृथ्वी पर दूध दुहाया गया था। साथ का 'गोदोहैं' वाक्य भी ध्यान देने योग्य है। इस वाक्य मे ग्रथकार का आशय यह है कि—गायों का दूध वर्तनो मे नही दोहा गया था किन्तु गायो को जमीन पर ही दोहा गया था। इसीलिये उन्होने 'गोदुग्धै' वाक्य प्रयोग न करके 'गोदोहैं' प्रयोग किया है। वात दरअसल यह है कि—अरिष्ट की शान्ति के लिये इस प्रकार की क्रिया की जाती है। यह क्रिया भरतजी ने उस वक्त जैनविधि के अनुसार की थी। ऐसी क्रिया वैदिकधर्म मे भी वैदिक विधि से की जाती है। इसके लिये वाराही संहिता अध्याय ४६ का यह श्लोक देखिये—

दिव्यमपि शममुपैति प्रभूतकनकान्नगोमहीदानैः।
रुद्रायतने भूमौ गोदोहात् कोटिहोमाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ—शिवालय की भूमि में गोदोहन और कोटि होम करने से, वहुत सा सुवर्ण, अन्न, गौ और पृथ्वी का दान करने से दिव्य उत्पात भी शांत हो जाते हैं।

श्वेतांवराचार्य हेमचंद्र अपने योगशास्त्रस्वोपज्ञ टीका के पृष्ठ ३२० पर लिखते हैं—

"भूमिगोदोह-करणाद् रिष्ट शान्तिकमानिनाम्।"

पुष्पदंतकृत अपभ्रंशमहापुराण के पृष्ठ ४३१ मे भी आदिपुराण के इसी कथन का छायानुवाद करते हुये लिखा है कि—

"भूमि दोहकय गोदुहसत्थहिं।" (सत्थहिं—सार्थैः समूहैः)

वहुत से ग्वालो ने भूमि पर गायो को दोहा यह इसका अर्थ हुआ। यहाँ के 'गोदुह' शब्द का अर्थ टिप्पणी मे "गोदोहका" किया है। जिसका मतलब होता है गायो को दोहने वाले गुवाले। ("गोप गोदुह वल्लवा" त्रिकाड शेषे)

इन उद्धरणो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि—रिष्ट शांति के अर्थ ऐसी भी क्रिया होती है जिसमे गायो को जमीन पर दोहकर दूध से जमीन तर की जाती है। इसी क्रिया का उल्लेख आदिपुराण मे किया गया है। उससे जिन प्रतिमा का दुग्धाभिषेक अर्थ निकालना गलत है। आदिपुराण के उक्त दोनो श्लोको मे दो क्रियाओ का वर्णन किया है। श्लोक न० ८५ मे तो शाति क्रिया का कथन किया है। जिसमे 'भगवान् का अभिषेक करने और सुपात्रो को दान देना' आदि पुण्य कार्यों के करने को कहा है। और श्लोक न० ८६ मे दूसरी 'भूमि गोदोहन क्रिया' का कथन किया है। इस किया मे भूमि पर गोदूहन करने के साथ ही साथ महर्षियो की पूजा का पाठ करने, सार्धमियो को ठाडे-ठाडे दान देने और बाधवो को भोजनादि से तृप्त करने को कहा है। इस क्रिया के विषय मे पुष्पदत ने बहुत ही स्पष्ट कर दिया है। अत अब किसी शका को स्थान ही नही रहा है।

आदिपुराण पर्व ४४ मे जन्म सस्कार के मत्रो का कथन करते हुये निम्न श्लोक लिखा है—

जन्मसस्कारमत्रोऽयं एतेनार्भकमादित ।
सिद्धाभिषेकगधाम्बुससिक्त शिरसि स्पृशेत् ॥११०॥

अर्थ—प्रथम ही सिद्ध प्रतिमा के अभिषेक के गधोदक से सिंचन किये हुये बालक के शिर पर जन्म सस्कार के मत्रो से स्पर्श करे।

इस श्लोक मे आये "सिद्धाभिषेकगधाबु" वाक्य से कोई-कोई कहते है कि—जिनसेन ने जिनप्रतिमा का अभिषेक सुगधित जल से करना बताया है। किन्तु इस वाक्य से गधाभिषेक अर्थ प्रगट नही होता है। क्योकि यहाँ गन्ध शब्द अभिषेक के पूर्व मे नही है, बाद मे है। इसलिये यहाँ इसका फलितार्थ ऐसा है कि—जिस स्वाभाविक जल से भगवान् का अभिषेक किया गया है उस जलको यहाँ गन्धोदक नाम से बताया है। इसी के पर्व ३८ श्लोक ९९ मे भी केशवाप क्रिया का वर्णन करते हुये लिखा है कि—"केशो को गधोदक से गीला कर उनका मुण्डन करना

चाहिये।" भगवान् के शरीर मे स्वाभाविक सुगन्ध होती है। अत अभिषेक मे उनके शरीर से स्पर्शित जल भी सुगन्धित वन जाता है। इस भावना को लेकर अभिषेक में काम आया स्वच्छ स्वाभाविक जल भी भक्तो द्वारा गन्धोदक नाम से कहा जाता है। आचार्य जिनसेन ने भी इसी दृष्टि से यहाँ 'गन्धाबु' शब्द का प्रयोग किया है।

कोई कहे कि—"जिनसेन ने पचामृत से अभिषेक करना नही बताया तो शुद्ध जल से अभिषेक करना भी तो उन्होने नही लिखा है।" इसका उत्तर यह है कि—अभिषेक का अर्थ है स्नान। स्नान जल से ही किया जाता है यह आबाल गोपाल प्रसिद्ध है। यही प्रसिद्ध अर्थ जिनसेन को इष्ट था इसीलिये उन्होने यत्र-तत्र सामान्य अभिषेक शब्द का प्रयोग किया है। यदि उन्हे अभिषेकार्थ दधि-दुग्धादि इष्ट होते तो वे विशेष शब्दो का प्रयोग कर सकते थे। और सर्वथा यह भी बात नही उन्होने आदिपुराण में समवशरण के वर्णन मे अभिषेक का कथन करते हुए जल का नाम भी दिया है—

हिरण्मयी जिनेन्द्रार्चास्तेषा बुध्नप्रतिष्ठिता।
देवेन्द्रा पूजयन्ति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥९८॥ पर्व २२

अर्थ—उन मानस्तभो के मूल में स्थित सुवर्णमयी जिन प्रतिमाओ को इन्द्रलोग क्षीरसागर के जल के अभिषेको के साथ पूजते थे।

यहाँ कृत्रिम जिनबिंबो का जल से अभिषेक करना लिखा है।

इस प्रकार आदिपुराण मे न तो दुग्धाभिषेक लिखा है और न गधाभिषेक लिखा है बल्कि जलाभिषेक लिखा है यह सुस्पष्ट है।

वरांगचरित

जटासिंहनदि कृत यह वरागचरित, जिनसेन के आदिपुराण से भी पहिले का कथा ग्रन्थ है। उसमे राजा वराग ने एक नूतन जिन मन्दिर का निर्माण कराके जिनबिम्ब की प्रतिष्ठा कराई थी। उसके महोत्सव का

वर्णन करते हुए पर्व २३ मे लिखा है कि—प्रतिष्ठामे काम आने वाली विविध सामग्री को लेकर अपनी रानियो और श्रावको के साथ राजा वराग वडे जुलूस से जिनमन्दिर को गया। वहाँ जिनप्रतिमाका अभिपेकादि विवान किया गया उसी प्रसग मे जिनप्रतिमा को आभूपण पहिनाना भी लिखा है। यथा—

सुवर्णपुष्पैर्विविधप्रकारै रत्नावलीभिस्तडिदुज्ज्वलाभि ।
विभूपणानि प्रतिभूपयन्ती विभूषयामास तदा जिनार्चाम् ॥६७॥ पर्व २३

अर्थ—नाना प्रकार के सोने के वने पुष्पो से और विजली की तरह चमकते हुए रत्नमयी हारो से उस समय जिनप्रतिमाको भूषित किया गया था। उन आभूषणो से वह प्रतिमा भूपित न हुई। किन्तु प्रतिमा से उल्टे वे आभूषण ही भूषित हो उठे थे।

फिर आगे लिखा है कि राजा ने वहुत काल तक मन्दिर की स्थिति वनी रहने के लिये उस मन्दिर को १०८ गाँव आदि भेट मे दिये। इसी पर्व के श्लोक ७ मे नादीमुख का भी उल्लेख है। इत्यदि कथनो से यही ज्ञात है कि यह प्रकरण प्रतिष्ठा विपय का है। मार्के की बात फिर भी यहाँ यह है कि इस प्रकरण मे भी जिनप्रतिमा का अभिपेक स्वच्छ जल से ही करने का विधान किया है। इसके लिये इस पर्व के निम्न दो श्लोक देखिये—

पयोदधिक्षीरघृतादिपूर्णा, फलाग्रपुष्पस्तवकाऽपिधाना ।
घटावली दामनिबद्धकण्ठा सुवर्णकारैर्लिखिता रराज ॥२५॥

अर्थ—जिनके मुख फलो और पुष्पो के गुच्छो से ढके हुये है। मालाओसे जिनके गले बँधे हुए है और सुवर्णकारो के द्वारा जिन पर नक्कासी का काम किया हुआ है। ऐसे जल-दही-दूध-घृत से भरे कलश वहाँ शोभायमान हो रहे थे।

अष्टोत्तरा शीतजलै. प्रपूर्णा सहस्रमात्रा कलशा विशाला ।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः ॥२६॥

अर्थ—वहाँ बडे-बडे एक हजार आठ कलश ऐसे भी थे जो शीतल जलो से भरे हुए थे और जिनके मुख फूले हुए नील कमलो से ढके हुए थे। वे कलश एकमात्र जिनप्रतिमा के अभिषेक के ही काम मे आने के लिये थे।

(इस कथन से साफ जाहिर होता है कि ग्रन्थकार ने यहाँ जिनप्रतिमा के अभिषेक के लिए खासतौर से उन्ही कलशो को बताया है जिनमे शीतल जल भरा हुआ था। और जो दुग्धादि से भरे कलश थे वे किसी अन्य ही काम के वास्ते थे। फिर आगे जब अभिषेक किया गया तो श्लोक ६५ मे साफ लिख दिया है कि—"स्वच्छ जल से भरे कलशो से भगवान् का अभिषेक किया।" इस प्रकार जटासिहनन्दि कृत वराग चरित से पचामृताभिषेक की कुछ भी सिद्धि नही होकर उल्टे जलाभिषेक की ही सिद्धि होती है।)

पद्मपुराण

रविषेण का बनाया हुआ सस्कृत का पद्मपुराण एक प्राचीन कथा ग्रथ है। इसमे पचामृताभिषेक का विधान है। किन्तु यह पुराण मूलसघ का नही है। (क्योकि जिस प्राकृत पउमचरिय के आधार पर इसकी रचना हुई है वह पउमचरिय मूलसघ का नही है तो उसकी प्राय. छायाको लेकर बना यह पद्मपुराण भी मूलसघ का कैसे हो सकता है? इसीलिये इसके बहुत से वृत्तान्त मूलसघ के ग्रन्थो से नही मिलते है। पउमचरिय के विषय मे चर्चा इस लेख मे आगे की गई है।)

यह तो विदित ही है कि—मूलसघ के प्रसिद्ध आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण मे लिखी रामकथा से रविषेण की रामकथा नही मिलती है। इसे भी छोडिये, अन्य भी त्रेषठशलाकापुरुषो की कथाये जो जिनसेन गुणभद्र ने लिखी है, उनमे की कितनी ही कथाओ से भी रविषेण की लिखी कथाये भिन्न रूप से दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के तौर पर

यहाँ हम पद्मपुराण और उत्तरपुराण की भिन्न कथाओ के कुछ नमूने पेश करते है—

दोनो ही पुराणो मे सगर चक्रवर्ती के पूर्व भव लिखे है किन्तु वे एक दूसरे से बिल्कुल ही नही मिलते हैं। इसके अलावा पद्मपुराण मे सगर के ६० हजार पुत्रो मे से दो को छोड बाकी सबो का नागकुमार देव के कोप से भस्म हो जाना लिखा है। किन्तु उत्तरपुराण मे इन सब पुत्रो का मोक्षगमन बताया है।

सजयत मुनि की कथा भी दोनो पुराणो मे एक समान नही है। पद्मपुराण मे यह कथा ५ वें पर्व मे और उत्तर पुराण मे ५९ वें पर्व मे लिखी है वहाँ देखिये।

पद्मपुराण पर्व ८ मे हरिषेण चक्रवर्ती को कापिल्यनगर के राजा सिंह-ध्वज और राणी वप्रा का पुत्र बताया है और उसकी मोक्षगत्ति लिखी है। जबकि उत्तरपुराण पर्व ६७ मे हरिषेण को भोगपुर के राजा पद्मनाभ और राणी ऐरा का पुत्र लिखा है और उसे सर्वार्थसिद्धि गया बताया है।

पद्मपुराण पर्व २० मे मघवा चक्रवर्ती को सौधर्म स्वर्ग गया बताया है। जबकि उत्तरपुराण मे उसकी मोक्षगति लिखी है। इसी तरह सन-त्कुमार चक्री की गति पद्मपुराण मे तीसरा स्वर्ग लिखी है और उत्तर-पुराण मे उसकी मोक्षगति लिखी है। उत्तरपुराण मे सुभौमचक्री को महाशुक्र स्वर्ग से आया लिखा है जबकि पद्मपुराण पर्व २० मे उसे जयत विमान से आया लिखा है। सुभौम चक्री नरक गया है। जयत विमान से आने वाला नरक नही जा सकता है। अत पद्मपुराण का कथन अयुक्त है। विष्णुकुमार मुनि की कथा मे हस्तिनापुर के राजा महापद्म ने अपने पुत्र विष्णुकुमार के साथ दीक्षा ली थी। इस महापद्म को पद्मपुराण पर्व २० में चक्रवर्ती लिखा है। उत्तरपुराण मे इसे चक्रवर्ती नही बताया है। इसके अलावा पद्मपुराण मे एक मजेदार बात यह लिखी है कि—

"एक बार भरतचक्री मुनियो के अर्थ बनाया भोजन लेकर समव-

शरण मे गया और वहाँ मुनियो को भोजन जीमने के लिये प्रार्थना करने लगा। तब भगवान् ऋषभदेव ने कहा—"हे भरत! मुनि लोग उद्दिष्ट भोजन नही लेते है। और न तेरी ऐसी रीति ही मुनियो को आहार देने की है।" यह वर्णन पद्मपुराण पर्व ४ श्लो० ९१ आदि मे है। पद्मपुराण के इस कथन के पढने वालो को हँसी आये विना न रहेगी कि क्या भरत जी को इतना भी बोध नही था जो वे मुनियो को जिमाने के लिये भोजन सामग्री लेकर भगवान् के समवशरण मे ही पहुँच जावे। जब कि श्रेयास के द्वारा दिये गये मुनिदान को वे अच्छी तरह जान चुके थे। वात वास्तव मे कुछ ऐसी जँचती है कि जिस पउमचरिय से यह वृत्तात नकल किया गया है उस पउमचरिय के वनानेवाले का ऐसा सप्रदाय होगा जिसमे केवली भगवान् आहार ग्रहण करते है। आहार वे समवशरण मे भी जीमते होगे इस कथा से यही सभावना प्रगट होती है। और इसीलिये भरतजी के सम्बन्ध मे ऐसी कथा लिखी गई है कि वे भोजन लेकर समवशरण मे पहुँच गये।

इसी तरह निर्वासित अंजना जब सखी के साथ वनमे घूमती हुई गुफा मे पहुँची। उस प्रसग मे पद्मपुराण पर्व १७ श्लो० २६८ मे "गधर्व देव ने मद्यपान किया" लिखा है। देव तो मद्यपान क्या दूसरा पेय भी नही पी सकते है। क्योकि उनके मानसिक आहार होता है। फिर यहाँ ऐसा कैसे लिखा ?

इसी प्रकार भगवान् महावीर का सौधर्मेन्द्र की शका निवारणार्थ अपने अगूठे से मेरु को कपित करना। (पर्व २ श्लो० ७६) युगलिया से हरिवश की उत्पत्ति बताना (पर्व २१ वाँ) देशभूषण कुलभूषण केवलीद्वयका साथ-साथ चलना, दोनो का एक ही स्थान पर बैठना, दोनो के साथ ही केवलज्ञान होना। राम और कृष्ण के ६४ हजार वर्षो का अन्तर वतलाना (पर्व १०९ श्लो० २८) श्री रामचन्द्रजी के शरीर का न्यग्रोधपरिमडल नाम का सस्थान वताना।

इत्यादि अनेक अमान्य कथनो के देखने से कहना पडता है कि रविषेण कृत पद्मपुराण ग्रन्थ मूलसघ का नही है। आधुनिक भट्टारक इन्द्रनन्दि तक ने रविषेण को प्रामाणिक आचार्य नही माना है। उन्होने नीतिसार ग्रन्थ मे जहाँ प्रामाणिक आचार्यो की सूची लिखी है उसमे रविषेण का नाम नही दिया है। तथा आशाधरजी ने भी अपने ग्रन्थो की स्वोपज्ञ टीकाओ मे ग्रन्थान्तरो के प्रचुर पद्य 'उक्त च' रूप से प्रस्तुत किये है उनमे वे जिनसेन के आदिपुराण के तो अनेक उद्धरण देते है परन्तु पद्मपुराण का एक भी उद्धरण नही देते है। और प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय २ मे आशाधरजी ने "महर्षिपर्युपासन" लिखा है उसमे वे वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्रादि अनेक आचार्या के तो नाम लिखते है किन्तु रविषेण का उल्लेख नही करते है। इससे साफ विदित होता है कि प० आशाधरजी की दृष्टि मे भी रविषेण की गणना मान्य आचार्यों मे नही थी। ऐसी हालत मे पद्मपुराण मे पचामृताभिषेक का विधान पाया जाना मानने योग्य नही है।

हरिवंशपुराण

इस पुराण के कर्ता जिनसेन है। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्ता जिनसेन से भिन्न है। और उनके समय मे ये भी हुए है। इस हरिवंश पुराण मे भी पचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये जिनसेन भी मूलसघी नही है। ये तो खुद ही अपने को पुन्नाटसघी लिखते है। पुन्नाटसघ काष्ठासघ का ही एक उपभेद है। काष्ठासघ की गणना जैनाभासो मे की जाती है। काष्ठासघ में चार गच्छ है—माथुरगच्छ, वागडगच्छ, लाडवागडगच्छ, और नदीतट गच्छ। 'भट्टारक सप्रदाय' पुस्तक के पृ० २५७ में लिखा है कि—"लाडवागड गच्छ के आचार्य पहिले पुन्नाट अर्थात् कर्णाटक प्रदेश मे विहार करते थे इसलिये इसका नाम पुन्नाट था। बाद मे उनका प्रमुख कार्य क्षेत्र लाडवागड अर्थात् गुजरात प्रदेश हुआ इसलिये

इसका नाम लाडवागड गच्छ पडा। इसी का सस्कृत रूप लाटवर्गट है।" भट्टारक सप्रदाय के लेखाक न० ६३१ मे जो पट्टावली का सस्कृत उद्धरण दिया है उससे प्रकट होता है कि पुन्नाटगच्छ का ही नामातर लाटवर्गट गच्छ है। "सूरत और उसके जिले के मूर्तिलेख सग्रह" नाम की पुस्तक के पृ० ७४ पर नदीतटगच्छ की पट्टावली छपी है उसमे भी काष्ठासघ के चार गच्छो मे पुन्नाट गच्छ का नाम लिखा है। जैनशिलालेखसग्रह भाग २ पृ० १३७ मे जिन अर्ककीर्ति मुनि को शक स० ७३५ मे ग्राम, दान मे दिया है उनको यापनीय—नन्दिसघ पुनागवृक्ष मूलगणका बताया है। सभवत पुंनागवृक्ष मूलगण का ही रूपातर पुन्नाट सघ है। इस उल्लेख से पुन्नाटसघ यापनीय सघ का कोई उपभेद भी हो सकता है। यह तो सब जानते ही है कि—यापनीय सघ, काष्ठासघ, द्राविडसघ आदि जैनाभास माने जाते है। हरिवश पुराण मे जिनसेन ने इन तीनो ही सघो के आचार्यो का स्मरण किया है। द्राविडसघ के स्थापक वज्रसूरि, काष्ठासघ के प्रवर्तक कुमारसेन और यापनीय सघ के आचार्य विशेषवादी इन तीनो ही का स्मरण हरिवश पुराण मे किया है। यापनीयसघ के आचार्य शाकटायन अपने एक सूत्र मे कहते है कि—

"उपविशेषवादिन कवय" मारे कवि विशेषवादी से नीचे है। शाकटायन के इस कथन से सिद्ध होता है कि "विशेषवादी" यापनीय थे जिनका स्मरण हरिवशपुराण मे किया गया है। इन जैनाभासो का स्मरण करने से यही फलितार्थ निकलता है कि हरिवशपुराण के कर्ता को ये आचार्य मान्य थे। और स्वय भी वे इन जैनाभासों मे से कोई थे। ऐसी हालत मे हरिवश पुराण मे लिखा पचामृताभिषेक का कथन मूलसघ आम्नाय का नही हो सकता है। यही नही अन्य भी कई एक वर्णन हरिवंशपुराण के मानने योग्य नही है। (जैसे पउमचरिय और और पद्मपुराण मे भगवान् के गर्भकल्याणक मे देवो का आगमन नही लिखा है। ऐसे ही हरिवंशपुराण मे भी महावीर ऋषभदेव, मुनिसुव्रत

और नेमिनाथ का चरित्र लिखते हुए कही भी गर्भकल्याणक मे देवो का आगमन नही लिखा है।) हरिवशपुराण सर्ग ६५ मे लिखा है कि— "वलदेव मरकर ब्रह्मस्वर्ग गया वहाँ अवधिज्ञान से उसने जाना कि मेरा भाई कृष्ण नरक मे गया है। अत उसे लाने के लिये वह नरक में जाकर कृष्ण के जीव को वहाँ से उठा लाने लगा पर वह उसे ला न सका। तव कृष्ण के जीव के कहने से वलदेव के जीव ने भरतक्षेत्र मे अपनी और कृष्ण की मूर्तिको पूजा का प्रचार लोगो मे करवाया।" हरिवशपुराणका यह कथन कुछ ठीक मालूम नही देता है। जिसे तीर्थकर प्रकृति का वन्ध हो रखा है ऐसा कृष्ण का जीव भी सम्यग्दृष्टि था और ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र वलदेव का जीव भी सम्यग्दृष्टि था। ऐसे दोनो ही सम्यग्दृष्टियो ने अपनी प्रतिष्ठा वढाने को ऐसे मिथ्यातत्त्व का प्रचार किया यह वात वुद्धि मे वैठने जैसी नही है।

इसी पुराण के सर्ग १८ श्लोक १६४ आदि मे वसुदेव के पूर्व भवो का वर्णन करते हुए लिखा हे कि—"सौधर्मेन्द्र ने नदिषेण मुनि के वैय्यावृत्य की बहुत प्रशसा की जिसे सुनकर उनकी परीक्षा के लिये एक देव रोगी मुनिका वेष वनाकर नदिषेण मुनि के पास आया। नदिषेण ने उस मुनिको देखकर उससे पूछा कि तुम्हारी इच्छा कौन सा भोजन करने की है? उत्तर मे मुनिरूप धारी देवने कहा कि— पूर्व देश के चावलो का सुगधित भात, पाचाल देश की मूंग की स्वादिष्ट दाल, पश्चिम देश की गायो का तपाया हुआ घृत, कलिंग देश की गायो का मधुर दूध और नाना प्रकार के व्यजन इन सव के खाने की मेरी इच्छा है। यह सुन नदिषेण मुनि ने वह सव उक्त आहार लाकर गोचरी वेला मे उस कृत्रिम मुनि को दे दिया।" इसी सर्ग के श्लोक १३८ में लिखा है कि—उन नन्दिषेण मुनि को वडी-वडी सिद्धियाँ प्राप्त थी। उन सिद्धियो के प्रभाव से वैयावृत्त्य मे काम आनेवाली वस्तुयें जो चाहते वे उन्हें प्राप्त हो जाया करती थी।

मुनियो के आचार शास्त्रो मे निर्ग्रंथ मुनियो की जैसी कुछ चर्या लिखी है उसकी सगति इस कथा से कैसे वैठ सकेगी यह एक सोचने की चीज है। नवकोटि से विशुद्ध आहार लेनेवाले जैन मुनि के लिए क्या ऐसा करना योग्य कहा जा सकता है? क्या इसमे उद्दिष्ट दोप नही आता? और क्या कोई जैन मुनि इच्छानुसार भोजन पाने की वात कह सकते है? इस कथा से तो ऐसा जाहिर होता है कि रोगी मुनि चाहे कितना ही आचारहीन क्यो न हो तव भी उसकी वैयावृत्य करनी। और वैय्यावृत्य करनेवाले मुनि को भी यह छूट हो जाती है कि वह भी इस वैय्यावृत्य के काम मे जो चाहे सो कर ले—उसे आचारशास्त्र के नियमो के पालने की भी जरूरत नही है। चाहिये तो यह कि रोगी मुनि अपना चरित्र अधिक से अधिक निर्दोष वनावे ताकि रुग्णावस्था मे न जाने कब प्राण छूट जावें तो उसका असयम अवस्था मे मरण न होने पावे। किंतु हरिवश पुराण में इस कथा के द्वारा उल्टा उपदेश दिया गया है।

यह एक शास्त्रप्रसिद्ध वात है कि—पदवीधारी नारद सव नरकमे जाते है। किन्तु इसके पर्व ६५ श्लो० २४ मे नारद को मोक्ष गया लिखा है। श्वेतावरमत मे भी नारद की मोक्षगति लिखी है।

(हरिवशपुराण मे यह भी लिखा है कि—बाहुवली केवलज्ञानी हुये वाद भगवान् ऋषभदेव के समवशरण मे जा वहाँ के सभासद हुये। देखो सर्ग ११ श्लोक १०२ वाँ और सर्ग १२ श्लोक ३८ वाँ।)

इत्यादि कथनो से हरिवशपुराण मूलसघ का ग्रंथ मालूम नही होता है इसीसे भट्टारक इद्रनदि ने रविपेण की तरह इन जिनसेन का भी नाम प्रामाणिक आचार्यो की लिस्ट मे नही दिया है। और आशाधर ने भी इनका कही कोई उद्धरण नही दिया है।

यशस्तिलक चंपू

श्री सोमदेव का वनाया यह एक चपूग्रथ है। यह ग्रथ वि० स० १०१६ मे बना है। इसके उत्तर खंड मे श्रावकाचार का कथन है। उसमे जिना-

भिषेक की विधिका वर्णन करते हुये पंचामृत से अभिषेक करना बताया है। इसके कर्ता सोमदेव भी मूलसघ के मालूम नही होते हैं। परमार्थत वे कोई शायद यथार्थ मुनि भी नहीं थे। हमारे यहाँ मध्यकाल मे ऐसे कुछ गृहत्यागी साधुओ का समुदाय हो चुका है जो भट्टारक कहलाते थे। वे चादर ओढते थे, पालकी छत्र चामरादि का उपयोग करते थे। कूवाँ खेत आदि जागीरें रखते थे, मन्त्रतन्त्र चिकित्सा आदि करते थे, मठमदिर मे रहते थे और प्रतिष्ठा आदि कार्य करते थे। वे राजाओ की तरह श्रावक–गृहस्थो पर शासन करते हुये बडे ठाठ-बाट से रहते थे। वे सब ठाठ-बाट उनके बाद उनके पट्टाधिकारी शिष्यो को मिलता था। इसलिये राज्यसिहासन की तरह उनकी गद्दियो के भी उत्तराधिकारी बनते थे। इतना होते भी ये भट्टारक अपने को मूलसघी कहते हुये मुनि, यति, मुनीद्र, आचार्य आदि नामो से पुकारे जाते थे। क्योकि इस पद को ग्रहण करते हुये प्रारम्भ मे ये नग्न होकर ही दीक्षा लेते थे। उपरात हीन सहनन और तत्काल पचो की आज्ञा की आड लेकर वस्त्रादि धारण कर लेते थे। सुनते है आहार भी वे नग्न होकर ही लेते थे। पीछी कमडलु रखकर श्वेतावर यतियो से अपनी भिन्नता व्यक्त करते थे। इनमे से कोई कोई भट्टारक नग्न भी रहते थे। और नग्न रहकर भी पालकी आदि का उपयोग करते हुए दूसरे 'सब ठाठ उनके सवस्त्र भट्टारको जैसे ही रहते थे। यह बात श्वेताम्बरो के साथ जो कुमुदचन्द्र का शास्त्रार्थ हुआ था उससे प्रकट होती है। यह शास्त्रार्थ वि० स० ११८१ मे गुजरात के राजा सिद्धराज की सभा मे श्वेताम्बर यति देवसूरि के साथ दिगम्बर भट्टारक कुमुदचन्द्र ने किया था। उस शास्त्रार्थ का हाल बताते हुए श्वेताम्बरो ने कुमुदचन्द्र के बाबत लिखा है कि—"वे पालकी पर बैठे थे, उनपर छत्र लगा हुआ था, और वे नग्न थे।" पहले पहले इस प्रकार के भट्टारक नग्न ही रहते होगे। वस्त्रधारण सभवत. बाद मे चला हो। इसके भी पहले कुछ ऐसे मुनि भी विचरते थे जो वस्त्र, पालकी, छत्र

चामरादि का उपयोग तो अपने लिये नही करते थे। किन्तु जागीरी रखना, मत्र-तत्र चिकित्सा करना, मठ-मन्दिर मे आराम से रहना और उनका प्रवन्ध करना, राजसभाओ मे जाना और राजाओ द्वारा सन्मान पाने की आशा से उनको प्रभावित करना आदि चरित्र उनका भी था। ये साधु महर्षि कुदकुद की वताई हुई मुनिचर्या का पालन पूर्णरूप से नही करते हुये भी उनके अन्य सिद्धान्तो को प्राय मान्यता देनेसे अपने को मूलसघी ही कहते थे। ऐसे साधुओने मुनिचर्या के साथ साथ श्रावको की पूजापद्धतिको भी विकृत किया है। जो पूजा पद्धति अल्पसावद्यमय, वीतरागता की द्योतक, और निरर्थक आडम्वरो से मुक्त होनी चाहिये थी उनके स्थान मे इन्होने उसे वहुसावद्यमय व सरागताकी पोषक वनाकर उसमे व्यर्थके आडम्वर भर दिये। दही, दूध घृतादि खानेके पदार्थों को स्नान के काम मे लेना, मिट्टी गोवर राख से भगवान् की आरती करना, ये व्यर्थ के आडवर नही तो क्या है? जव से मदिरोपर इन भट्टारको के अधिकार हुए है तभी से पूजापद्धति मे ये आडंवर वढे है। इस प्रकारके विधान सोमदेवने भी यशस्तिलक मे लिखे है। अतः इन सोमदेव की गणना भी ऐसे ही नग्न भट्टारको मे की जा सकती है। इनको जैन मन्दिर की स्थिति वनाये रखने के लिए राजा अरिकेसरी ने एक ग्राम भी दान दिया था। (इस दान के ताम्रपत्र की प्रतिलिपि श्री प० नाथूरामजी प्रेमी कृत "जैन-साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ के पृ० १९३ पर छपी है। अगर ये सोमदेव शास्त्रोक्त जैनमुनि होते तो न तो इनको ग्राम दान मे दिया जाता और न ये उसे स्वीकार ही करते। (तिलतुष मात्र का भी प्रसग न रखनेवाले और अहर्निश ज्ञान ध्यान तपमे लवलीन रहनेवाले दिगम्बर जैन ऋषियोको इस प्रकार के दानो से कोई प्रयोजन नही है)। इन्ही सोमदेव ने एक नीति-वाक्यामृत नामक ग्रन्थ भी वनाया है। वह ग्रन्थ सस्कृत-गद्यसूत्रो मे रचा गया है। उसकी टीका मे अनेक ब्राह्मण ग्रन्थो के उद्धरण दिये गये है। जो वातें सूत्रो मे कही गयी है वे ही वातें टीका मे दिये उद्धरणो मे हैं।)

इससे सहज ही ज्ञात होता है कि–सोमदेव ने यह ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थो के आधार पर बनाया है। जैनधर्मसे इस ग्रन्थ का कोई सम्बन्ध नही है। इसे जैन ग्रन्थ कहना ही नही चाहिए। इसीलिए इसकी टीका भी किसी अजैन विद्वानने की है। मूल ग्रन्थ के कुछ नमूने देखिये—

"औरस क्षेत्रजो दत्त कृत्रिमो गूढोत्पन्नोऽपविद्ध ऐते षट् पुत्रा दायादो पिण्डदाश्च ॥४१॥" प्रकीर्णक समुद्देश।

इसमे लिखा है कि औरस आदि ६ पुत्र पैत्रिक धन के और पिण्डदान के अधिकारी होते है। (यहाँ पिण्डदान वैदिक रीति को बताता है।)

सवत्सा धेनु प्रदक्षिणीकृत्य धर्मोपासन यायात् ॥७३॥"

"दिवसानुष्ठान समुद्देश"

अर्थ—वछडेवाली गाय की परिक्रमा देकर धर्मोपासन को जावे।

(यहाँ गाय की पूज्यता बताई है।)

"य खलु यथाविधि जानपदमाहार ससारव्यवहार च परित्यज्य सकलत्रोऽकलत्रो वा वने प्रतिष्ठते स वानप्रस्थ ॥२२॥"

"विवाहसमुद्देश"

अर्थ—जो विधिपूर्वक ग्राम्य भोजन और सासारिक व्यवहारको त्यागकर स्त्रीसहित या स्त्रीरहित वन मे रहता है वह वानप्रस्थ कहलाता है। वन मे वहाँ वह ग्राम्य भोजन को छोड जगली फलफूल खाता है।)

(वानप्रस्थ का यह स्वरूप जैनशास्त्र सम्मत नही हैं)

इस प्रकार के कथन एक मान्य जैनाचार्य की कलम से लिखे जाने के योग्य नही है। क्योकि सत्य महाव्रत का धारी जैनमुनि जिसके लिये जैनशास्त्रो मे अनुवीचिभाषण यानी सूत्रानुसार बोलने की आज्ञा दी है वह–इस प्रकार का सूत्रविरुद्ध वचन मुँह से भी नही बोल सकता है तब ऐसी साहित्यिक रचना तो भला वह कर ही कैसे सकता है? यहाँ यह बात ध्यानमे रखने की है कि सोमदेव ने इस नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ की प्रशस्ति मे यशस्तिलक का उल्लेख किया है। इसलिए यशस्तिलक की

रचना के बाद नीतिवाक्यामृत की रचना हुई है। अतः सोमदेव की प्रामाणिकता जब नीतिवाक्यामृत के निर्माण के वक्त ही नही रही तो उसके पहिले यशस्तिलक के निर्माण के वक्त कैसे हो सकती है ?

सोमदेव ने आधुनिक मुनियो के बाबत जो उद्‌गार प्रकट किये है वे भी विचारणीय है। वे लिखते है—

यथा पूज्य जिनेन्द्राणा रूप लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्या सप्रति सयता. ॥१॥
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्त सत्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥२॥
सर्वारम्भप्रवृत्ताना गृहस्थाना धनव्ययः।
बहुधाऽस्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥३॥

अर्थ—(जैसे लेप पाषाणादि मे बनाया हुआ अर्हतो का रूप पूज्य है वैसे ही वर्तमान काल के मुनि भी पूजनीय है। (चाहे वे आचार भ्रष्ट ही हो) क्योकि बाहर मे उनका रूप भी वही है जो प्राचीनकाल के मुनियो का था।)

(भोजनमात्र देने मे तपस्वियो की क्या परीक्षा करनी ? वे अच्छे हो या बुरे, गृहस्थ तो दान देने से ही शुद्ध हो जाता है।)

(गृहस्थ लोग अनेक आरम्भ करते रहते है जिनमे उनका बहुत प्रकार से धन खर्च होता रहता है। अत साधुओ को आहार देने मे उन्हे सोच विचार नही करना चाहिये।)

(इस प्रकार सोमदेव ने आचारहीन मुनियो को मानने की प्रेरणा की है। सोमदेव के वक्त भी ऐसे सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ श्रावक थे जो परीक्षा करके देव शास्त्र गुरुओ को मानते-पूजते थे, यहाँ तक कि शिथिलाचारी जैन मुनियो को आहारादि देने मे भी सकोच करते थे। उन्ही को लक्ष्य मे रख कर सोमदेव ने ऐसी बातें कही है।) सोमदेव ने जो इस विषय मे दलीलें

दी है वे सव नि'सार है। प्रथम श्लोक में हेतु दिया है कि—"जैसे पापाणादि मे अकित जिनेन्द्र की आकृति पूजनीय है उसी तरह वर्तमान के मुनियो की आकृति भी पूर्व मुनियो जैसी होने से वह भी पूजनीय है" सोमदेव का ऐसा लिखना ठीक नही है। क्योकि यहाँ जो दृष्टान्त दिया है वह विषम है। पाषाणादि मे अकित जिनेन्द्र की आकृति की तरह पाषाणादि मे अकित मुनि की आकृति भी पूजनीय है ऐसा लिखा जाता तो दृष्टान्त वरावर वन जाता और वह ठीक माना जा सकता था। किन्तु यहाँ अचेतन से चेतन की तुलना की गई है इसलिये दृष्टान्त मिलता नही है। प्रत्युत उल्टे यह कहा जा सकता है कि—जैसे सचेतन किसी पुरुष विशेष को जिनेन्द्र की आकृति का वनाकर उसे पूजना अनुचित है। उसी तरह सचेतन पुरुपविशेष मे केवल मुनि की आकृति देखकर—मुनि जैसे उसमे गुण न हो तब भी उसे पूजना अनुचित है। प्रथा भी ऐसी ही है कि—जैनी लोग पार्श्वनाथ जी की मूर्त्ति को तो पूजेंगे परन्तु किसी आदमी को पार्श्वनाथ मानकर नही पूजेंगे। लोक मे भी यह देखा जाता है कि—किसी देश के राजा की मूर्ति वनाकर सम्मान करे तो राजा उसपर खुश होता है। किन्तु किसी अन्य ही पुरुप को उस देश का राजा मानकर उसका सम्मान करे तो वे राजा द्वारा दडनीय होते हैं। इस तथ्य के विपरीत लिखकर सचमुच ही सोमदेव ने वडा अनर्थ किया है। इन्ही सोमदेव ने इसी ग्रन्थ के "शुद्धे वस्तुनि सकल्प कन्याजन इवोचित।" इस श्लोक ४८१ मे कहा है कि—किसी शुद्ध वस्तु मे परवस्तु का सकल्प होता है। जैसे कन्या मे पत्नी का सकल्प। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान के अशुद्ध मुनियो मे पूर्व मुनियो का सकल्प भी नही हो सकता है। इस तरह सोमदेव का कथन पूर्वापर विरुद्ध है।

दूसरे श्लोक मे सोमदेव ने कहा है कि—"अच्छा हो या वुरा कैसा भी साधु हो गृहस्थ को तो दान देने से मतलव है। दान का फल तो अच्छा ही लगेगा गृहस्थ तो दान देने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है।"

ऐसा लिखना भी ठीक नही है। अगर ऐसा ही हो तो अन्य जैन शास्त्रो मे सदसत् पात्र का विचार क्यो किया गया है ? और क्यो कुपात्र को दान देने का निषेध किया है ? अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १० मे लिखा है कि—

जैसे कच्चे घडे मे जल का भरना बेकार है उसी तरह कुपात्र को दान देना निष्फल है। (श्लो० ५१) जैसे सर्प को दूध पिलाना विष का उत्पादक है उसी तरह कुपात्र को दान देना दोषो का उत्पादक है। (श्लो० ५३) असयमी को दान देकर पुण्य चाहना वैसा ही है जैसे जलती अग्नि मे बीज डालकर धान्य होने की वाछा करना। (श्लो० ५४) कडवी तुम्बी मे रक्खे दूध की तरह कुपात्र मे दिया दान किसी काम का नही रहता है। (श्लो० ५६) लोहे की बनी नाव की तरह कुपात्रदानी संसार समुद्र से नही तिर सकता है। (श्लो० ५७) जो अविवेकी फल की इच्छा से कुपात्रो को दान देता है वह मानो वन मे चोरो के हाथो मे धन देकर उनसे उस धन के पुन मिलने की आशा करता है। (श्लो० ६०) अपात्र दान का फल पाप के सिवाय अन्य कुछ नही है। बालू रेत के पेलने से खेद के सिवा और क्या फल मिल सकता है ? (११ वा परिच्छेद श्लो० ९०)

तत्त्वार्थसूत्र मे भी "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेष" इस सूत्र मे बताया है कि—जैसा-जैसा द्रव्य, विधि, दाता, और पात्र होगा वैसा-वैसा ही उसका फल मिलेगा।

श्लो० ३ मे सोमदेव ने लिखा है कि—"यो भी गृहस्थ के अनेक खर्च होते रहते है। तब साधु को भोजन जिमाने मे क्यो सोच विचार करना ?" ऐसा लिखना भी योग्य नही है। साधारण आदमी को भोजन जिमाने और जैनमुनि को भोजन जिमाने मे बडा अन्तर है। जैनमुनि को पूज्य गुरु मानकर जिमाया जाता है और जिमाने के पूर्व नवधा भक्ति की जाती है। इसलिये यहाँ सवाल आर्थिक खर्च का नही आता पूज्य-अपूज्य का

आता है। एक सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आचारहीन मुनि की पूजा-वंदना कैसे कर सकता है? क्योंकि आचार्य कुदकुंद स्वामी ने दर्शन पाहुड मे ऐसा कहा है—

अस्संजद ण वदे तत्थविहीणो वि सो ण वदिज्जो।
दोण्णिवि होंति समाणा रागोवि ण संजदो होदि ॥२६॥

अर्थ—जो सकल सयमी नही है गृहस्थ है उसकी वदना न करे। और जो वस्त्र त्याग कर नग्न साधु वन गया है परन्तु सकल सयम का पालन नही करता है वह भी वदने योग्य नही है। दोनो ही यानी गृहस्थ और मुनिवेषी एक समान हैं। दोनो मे एक भी सयमी—महाव्रती नही है। भावार्थ—गृहस्थ तो वैसे ही वंदना योग्य नही है किन्तु वह मुनि भी वंदना योग्य नही है जो नग्नलिंग धारण करके सकल सयम की विराधना करता है।

यहाँ पर आचार्य श्री कुदकुंद ने शिथिलाचारी मुनियो की वंदना तक न करने का आदेश दिया है। तव एक सम्यग्दृष्टि ऐसे श्रमणाभासो की नवधा भक्ति तो कर ही कैसे सकता है? (नवधा भक्ति मे तो वदना के साथ पूजा भी करनी होती है। और चरण धोकर उनका चरणोदक भी मस्तक पर चढाना पडता है।)

जहाँ सोमदेव ने "यथा पूज्यं जिनेन्द्राणा" श्लोक कहकर केवल मुनि के वेषमात्र को ही पूजनीय वताया है वहाँ कुंदकुद ने उसका निषेध किया है। कुंदकुद का कहना है कि—मुनिजन उसी हालत मे पूजनीय है जवकि वे मुनि के चरित्र का यथावत पालन करते हो। इस तरह सोमदेव और कुंदकुद के उपदेश मे वहुत वडा अन्तर है। सोमदेव ने तो जो नाम निक्षेप से मुनि हो उसे भी मानने को कहा है।

उन्होने यशस्तिलक मे लिखा है कि—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्र यदद्यापि जिनरूपधरा नरा. ॥
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो, न लभ्यो वा यथागमम्।

अर्थ—चित्त जहाँ चचल रहता है और शरीर अन्न का कीडा बना हुआ है। ऐसे कलिकाल मे आज जिनलिंग के धारी मुनियो का दिखाई देना आश्चर्य है। इस काल मे शास्त्रोक्त चरित्र के धारी मुनि कोई एक हो तो हो वर्ना नही ही है।

सोमदेव ने ऐसा लिखकर अपने समय मे यथार्थ मुनियो को अलभ्य बताया है इसलिये इस कलिकाल मे जैसा भी जैन मुनि मिल जावे उसी को मान लेना चाहिये ऐसा आदेश दिया है। मतलब कि किसी देश में हस नही हो तो काग को ही हंस मान लेना चाहिये ऐसा सोमदेव का कथन है किन्तु इस काल मे यथार्थ मुनियो का मिलना अलभ्य ही हो ऐसा भी सर्वथा नही है। सोमदेव के वक्त भी श्रेष्ठ मुनियो का सद्भाव था। देवसेन ने वि० स० ९९० मे दर्शनसार ग्रथ बनाया और सोमदेव ने वि० सं० १०१६ मे यशस्तिलक बनाया। इससे देवसेन भी सोमदेव के वक्त हुये है। (और इसी काल मे गोम्मटसार के कर्ता नेमिचंद्र और उनके सहवर्ती वीरनदी, इद्रनदी, कनकनदी और माधवचंद्र हुये है। ये सब माननीय आचार्य सोमदेव के समय के लगभग ही हुये हैं।) इतना होते भी सोमदेव ने जो उस वक्त के मुनियो के अस्तित्व मे आश्चर्य प्रगट किया है और यथार्थ मुनियो को अलभ्य बताया है। उससे ऐसा झलकता है कि—सोमदेव स्वय यथार्थ मुनि नही थे और न उनमे इतना साहस था जो वे यथार्थ मुनि बन सके इसीलिये उन्होने ऐसा लिखा है सो ठीक ही है जो जैसा होता है वैसा ही वलवूते की प्ररूपणा करता है।

यशस्तिलक मे राजा यशोधर का चरित वर्णन करते हुये चडमारी देवी के अनेक पशु युगल और मनुष्य युगल को बलि चढाने का वृत्तात लिखा है। यह चडमारी देवी कोई धातुपाषाण की बनी देवी की मूर्ति नही थी। किन्तु देवलोक की कोई देवी थी। ऐसा यशस्तिलक चपू उत्तरार्द्ध पृष्ठ ४१८ (निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित) के निम्न श्लोक से प्रगट होता है—

रत्नद्वयेन समलंकृतचित्तवृत्ति सा देवतापि गणिनो महमारचय्य ।
द्वीपान्तर-द्युनग-जातजिनेन्द्रसद्मवदारुताऽनुमतकामपरायणाऽभूत् ॥

अर्थ—उस समय वह चण्डमारी देवी भी सुदत्ताचार्य गणी की पूजा करके रत्नद्वय कहिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से जिसकी चित्तवृत्ति अलकृत हो गई है ऐसी वह देवी द्वीपान्तरो, स्वर्गों और पर्वतो पर स्थित जिन-चैत्यालयो की वन्दना मे प्रवृत्त हुई।

(दिगम्बर जैनागम के अनुसार देवलोक की कोई भी देवी मदिरा मास का सेवन करती नही। तव फिर उक्त चडमारी देवी अपने लिये जीवो की बलि किस अर्थ चढवाती थी। ऐसा करने का उसका अन्य कारण क्या था? जिसका स्पष्टीकरण सोमदेव ने कथा भर मे कही भी क्यो नही किया? कथा पढनेवाले को तो यही प्रतिभासित होता है कि—जैनधर्म मे भी देवलोक की देवी मास खाती है और तदर्थ जीवोकी वलि चढवाती है)।

इत्यादि बातो से सोमदेव मूलसघ के ऋषि मालूम नही होते है। अत उनका पंचामृताभिषेक लिखना मानने योग्य नही है।

वसुनन्दि

इनका वनाया हुआ प्राकृत मे श्रावकाचार ग्रन्थ है। जिसका प्रचलित नाम वसुनन्दिश्रावकाचार है। उसमे भी पचामृताभिषेक का उल्लेख है। ये वसुनन्दि भी मूलसंघ के नही हैं। इन्होंने इस श्रावकाचार की प्रशस्ति मे अपनी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—श्रीनन्दि-नयनन्दी-नेमिचन्द्र और वसुनन्दी। इस परम्परा मे वसुनन्दी ने अपने दादा गुरु का नाम नयनन्दी लिखा है। एक नयनन्दी वे भी हुये हैं जिन्होने अपभ्रश भाषा मे सुदर्शन चरित रचा है। उसमें वे अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार देते है—नन्दनन्दी-रामनन्दी-माणिक्यनन्दी-नयनन्दी। इस परम्परा मे नयनन्दी ने अपने गुरु का नाम माणिक्यनन्दी लिखा है। और श्रीनन्दी की परम्परा

में कही कोई नाम ही नही है। जव कि वसुनन्दी ने नयनन्दी के गुरु का नाम श्रीनन्दि लिखा है। अत. सुदर्शन चरित के कर्ता नयनन्दी वसुनन्दी के दादा गुरु नही हो सकते हैं। एक श्रीनन्दि वे हुये है जिनके शिष्य श्रीचन्द्र ने पुराणसार ग्रन्थ और उत्तरपुराण तथा पद्मचरित पर टिप्पण लिखा हैं। पद्मचरित पर टिप्पण श्रीचन्द्र ने वि० स० १०८७ में धारा नगरी के राजा भोजदेव के राज्य मे लिखा है। इस टिप्पण की प्रशस्ति मे श्रीचन्द्र ने अपने गुरु श्रीनन्दि को वलात्कारगण का आचार्य वताया है। (देखो भट्टारक संप्रदाय पुस्तक पृ० ३९) वसुनन्दी ने अपनी गुरु परम्परा में जिन श्रीनन्दि का नाम लिखा है संभवत वे श्रीनन्दी और श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनन्दी दोनो अभिन्न हो सकते हैं। (वलात्कारगण के भट्टारक अपने को कुन्दकुन्द की परम्परा के वतलाया करते हैं। वसुनन्दी ने भी श्रावकाचार की प्रशस्ति में ऐसा ही लिखा है। वलात्कारगण यह नाम भट्टारको का चलाया हुआ है। पूर्वाचार्यो ने कही भी अपने को वलात्कारगण का नही लिखा है। इस गण का उल्लेख विक्रम की ११-१२ वी शताव्दी से पूर्व नही मिलता है। इस गण के साधु ११-१२ वी शताव्दी मे ही भूमिदान लेने लग गये थे।) जैन शिलालेख सग्रह भाग २ पृ० २२० मे वलात्कारगण के आचार्य केशवनन्दी को वि० स० ११०५ में दिये भूमिदान का उल्लेख है। उसी दूसरे भाग के पृ० ३३६ में वलात्कारगण के आचार्य पद्मप्रभ को वि० सं० ११४४ मे दिये गए दान का उल्लेख है। विक्रम की १४ वी सदी से इस गण के साथ "सरस्वती-गच्छ" नाम भी जुडने लगा है। इसी वलात्कारगण मे कारजा शाखा, लातूर शाखा के भट्टारक हुये हैं तथा उत्तर शाखा के भट्टारक हुये हैं। उत्तर शाखा के भट्टारको मे वि० स० १३८५ के लगभग पद्मनन्दि भट्टारक हुए। जिनके तीन शिष्य—शुभचन्द्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति हुये। शुभचन्द्र से दिल्ली जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चली। सकलकीर्ति से ईडर की गद्दी चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की गद्दी चली। इस प्रकार

ये भट्टारक जो अपने को मूलसघी और कुन्दकुन्द के अन्वय के वतलाते है ये सब वलात्कारगण मे हुए है। इसी वलात्कारगण मे लगभग विक्रम की १२ वी शताब्दी मे श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनन्दी हुये है ये भी भट्टारक ही थे। अत इन्होने जो पंचामृताभिषेक लिखा है वह मान्य किये जाने के योग्य नही है।

इस वसुनन्दि ने श्रावकाचार मे कुछ अन्य भी कथन विलक्षण किये है। जैसे दूसरे गुणव्रत स्वरूप (गाथा २१५ मे) ऐसा वताया है—"जिस देश मे जाने से व्रतो का भग होता हो उस देश में जाने का त्याग करना इसे देशव्रत नाम का दूसरा गुणव्रत कहते है।" यह कथन अन्य पूर्ववर्ती सभी जैन शास्त्रो से विलक्षण है। उनमें ("दिग्व्रत मे की हुई मर्यादा के भीतर किसी काल प्रमाण से अल्पक्षेत्र की मर्यादा करके उससे वाहर न जाने को देशव्रत कहा है।" यह त्याग उत्कृष्ट है, ऐसा त्यागी सीमा के वाहर महाव्रती के तुल्य हो जाता है और इसका किसी अन्य व्रतो मे अन्तर्भाव भी नही होता है। यह जुदा ही एक स्वतत्र व्रत है) किन्तु वसुनन्दि ने देशव्रत का जैसा स्वरूप लिखा है उससे वह एक स्वतत्र व्रत सिद्ध नही होता है। जहाँ जाने से अहिंसादि व्रतो की विराधना होती हो ऐसे स्थान मे नही जाना यह तो अणुव्रतो का ही पालन हुआ ऐसा प्रयास तो अणुव्रती हरदम करेगा ही उसे ही एक जुदा देशव्रत वतलाना निरर्थक है, स्वकल्पित है और पूर्वाचार्यो की परिपाटी से भिन्न है।

इसी तरह वसुनन्दी ने (गाथा ३१२ मे) देशव्रती को सिद्धान्त शास्त्रो के पढने का अनधिकारी वताया है। (इनका कथन भी ठीक नही है। लौकातिक देवो को शास्त्रो मे द्वादशाग के ज्ञाता वताये है और ये सव देव चतुर्थ गुणस्थानी होते है। जब कि चौथे गुणस्थान के धारी अगपूर्वो के पाठी हो सकते है तो पचम गुणस्थानी देशव्रती क्यो नही हो सकते है?) आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण पर्व ३९ मे श्रावकीय क्रियाओ का वर्णन करते हुए लिखा है कि—पाँचवी पूजाराध्य क्रिया में श्रावक

अंगो के अर्थ समूह को सुनता है। और छठवी पुण्ययज्ञ क्रिया मे पूर्वों के अर्थको सुनता है। (श्लोक ४९-५०) ऐसी अवस्था मे वसुनन्दी का यह लिखना कि "देशव्रती श्रावक को सिद्धान्ताध्ययन का अधिकार नही है।"—उचित नही है। उसका समर्थन पूर्वाचार्यों के शास्त्रो से नही होता है।

वसुनदि ने उक्त श्रावकाचार की गाथा २३४ मे तीनो पात्रो को नवधा भक्ति से आहार देने का आदेश दिया है। और इन्हो ने ही गाथा २२२ मे अविरत सम्यग्दृष्टि को पात्र का तीसरा भेद—जघन्य पात्र बताया है। तो क्या आहार देते समय जघन्य पात्र की भी नवधा भक्ति की जावे ? नवधा भक्ति मे वसुनदी ने गाथा २२६ आदि मे प्रणाम-अर्चन और पात्र के पादोदक, को मस्तक पर चढाना भी बताया है। तो क्या जघन्य पात्र का भी अर्चनादि किया जावे ? वसुनदि का ऐसा कथन बिल्कुल अयुक्त है। कहाँ तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द की यह आज्ञा कि "एक मुनि-लिङ्ग ही वदने योग्य है। इसके सिवा अन्य लिङ्ग जो दर्शन ज्ञान से सहित हो पर वस्त्रधारी हो ऐसे क्षुल्लकादि भी वंदना योग्य नही है—इच्छाकार योग्य है।" (सूत्रपाहुड़ गाथा १३) और कहाँ वसुनदीका उक्त कथन। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रथ मे वसुनदि की तरह कथन है परन्तु वहाँ सक्षिप्त कथन होने से ऐसा लिखा गया है। वसुनदी ने तो दान का ५० गाथाओ में विस्तार से कथन किया है फिर उन्होने यहाँ ऐसा सामान्य कथन क्यो किया ? बात यहाँ कुछ ऐसी ज्ञात होती है कि भट्टारक साधुओ की गणना उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्रो मे से किस भेद मे की जावे ? ये भट्टारक न तो पूरी मुनि की क्रियाये पालते है और न प्रतिमाधारी श्रावको की ही। फिर भी ये अपना आदर सम्मान मुनियो जैसा ही चाहते है इसी अभिप्राय से वसुनंदी ने यहाँ गोलमाल उपदेश दे दिया है और भी कथन इनके विलक्षण है। जैसे इन्होने श्रावक के बारह व्रतो के अतीचार ही नही लिखे है। जब कि इनसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यो ने अतीचार लिखे

है। इन वसुनदी का समय १२ वी शताब्दी है। जो श्रीनदी श्रीचन्द्र के गुरु हुए वे ही नयनदी के गुरु हुए। श्रीचन्द्र का समय ऊपर वि० स० १०८७ वता आये हैं। और चूँकि वसुनदी के नयनदी दादागुरु होते हैं इस हिसाब से वसुनदी का समय विक्रम की १२ वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी हो सकता है।

अभयनन्दी

इनका वनाया सस्कृत मे लघुस्नपन अपर नाम 'श्रेयो विधान नाम का अभिपेक पाठ है। यह अभिपेक पाठ सग्रह मे छपा है। इसमें पचामृत से अभिपेक करने की विधि लिखी है। ये कव हुए व इनकी गुरु परिपाटी क्या थी इसका कोई पता इस पाठ पर से नही लगता है। जैनेन्द्र व्याकरण की महावृत्ति के कर्त्ता भी अभयनदी हुए है जिनका समय वि० की ८-९ वी शताब्दी के वाद और १२ वी शताब्दी से पूर्व का माना जाता हैं। लघुस्नपन के टीकाकार भावशर्मा ने इन्ही महावृत्तिकार अभयनदी को लघुस्नपन का कर्त्ता माना है। परन्तु ऐसा मानने मे कोई आधार नही लिखा है। लघुस्नपन की टीका का रचना काल राजस्थान ग्रथ सूची द्वि० भाग के पृ० १४ मे वि० स० १५६० लिखा है। महावृत्तिकार अभयनदी से लगभग पाँचसौ से भी अधिक वर्षो वाद होने वाले भावशर्मा के विना आधार लिख देने मात्र से ही ऐसा कैसे मान लें कि महावृत्तिकार अभयनदी ही इस लघुस्नपन के निर्माता है। गोम्मटसार के कर्त्ता नेमिचन्द्र के गुरु का नाम भी अभयनदी है। सेठ माणिकचन्दजी जौहरी का जीवन चरित्र पृ० २८ मे प्रतिमा लेख छपा है उसमे भी वि० स० १३८७ के समय के एक अभयनंदी का उल्लेख हुआ है। और भी अभयनदी हुए होगे। इन सव में कौन अभयनदी लघुस्नपन के कर्त्ता है ऐसा कोई निश्चित नही है। ऐसी अवस्था में विना पुष्ट प्रमाण के नेमिचन्द्र के गुरु अभयनदी को या महावृत्ति के

कर्त्ता अभयनंदी को लघुस्नपन का कर्त्ता कह देना उच्छृंखलता है। इसलिए जब तक लघुस्नपन के कर्त्ता अभयनंदी का समय पूर्ण निश्चय न हो जाये तबतक वह ग्रंथ और उसमे लिखा पचामृत का विधान मूलसंघ का नही माना जा सकता है।

पूज्यपाद और गुणभद्र

अभिषेक पाठसग्रह मे इन दोनो के बनाये प्रतिष्ठापाठ भी छाप रक्खे है। इन दोनो पाठो मे भी पचामृत से अभिषेक करने का विधान लिखा है। ये पूज्यपाद और गुणभद्र वे आचार्य नही है जिन्होने सर्वार्थसिद्धि और उत्तरपुराण ग्रथ रचे है। किन्तु ये दूसरे ही पूज्यपाद-गुणभद्र हुए है जो भट्टारक थे और आशाधर के बाद हुए है। इस सम्बन्ध मे हम ने इसी पुस्तक मे जुदे लेखो मे विस्तृत विचार किये है, उन्हे देखें।

देवसेन

इनका बनाया प्राकृत मे भावसग्रह नाम का ग्रथ है। उसमे भी पंचामृत का उल्लेख है। ये देवसेन वे प्राचीन देवसेन नही है जिन्हो ने दर्शनसार, आराधनासार आदि ग्रथ लिखे है। भावसग्रहकार देवसेन तो आशाधर के बाद हुए है। इनके सम्बन्ध मे भी हम ने अपने विस्तृत विचार इसी पुस्तक मे अन्यत्र प्रकट किये है, वहाँ देखें।

मल्लिषेण

इनका बनाया संस्कृत मे नागकुमार चरित है। जिसमे पंचामृत का उल्लेख है। ये मल्लिषेण मन्त्रवादी मठपति साधु थे। इन्होने "भैरव पद्मावती कल्प" नाम का मन्त्र शास्त्र लिखा है जो छप चुका है। उसमे मारण, मोहन, वशीकरण आदि के प्रयोग लिखे है। कई प्रयोग बड़े घृणित है। एक यथार्थ जैनमुनि अपनी कलम से ऐसा नही लिख सकता है। ये विक्रम की १२ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हुए है। इनके गुरु का

नाम जिनसेन था। (एक दूसरे मल्लिषेण वे हुए है जो 'मलधारि' पद के धारी थे और जिनकी समाधि श्रवणवेलगोल मे वि० स० ११८५ मे हुई थी। ऐसा मल्लिषेणप्रशस्ति मे लिखा है। ये अजितसेन के शिष्य थे और बडे भारी योगी जितेन्द्रिय थे।) इस तरह दोनो मल्लिषेण भिन्न-भिन्न थे। एक अजितसेन के शिष्य थे और दूसरे जिनसेन के शिष्य थे। इस प्रकार नागकुमार चरित के कर्त्ता मल्लिषेण मूलसघ के नही है।

वर्द्धमान कवि

इनका बनाया हुआ सस्कृत मे वराग चरित्र है। उसमे भी पचामृत का विधान है। इनके शिष्य धर्मभूषण ने न्यायदीपिका ग्रंथ बनाया है। इनके समय वि० सं० १४४२ मे विजयनगर मे एक जिनमन्दिर बनाया गया था। उसके शिलालेख मे धर्मभूषण की गुरुपरपरा (भट्टारक सप्रदाय पृ०–४२) इस प्रकार लिखी है—धर्मभूषण-अमरकीर्ति, अमरकीर्ति के दो शिष्य सिहनदि और धर्मभूषण। सिहनदि के वर्द्धमान और वर्द्धमान के धर्मभूषण। ये ही धर्मभूषण न्यायदीपिका के कर्ता है। इन्होने अपने गुरु का नाम वर्द्धमान लिखा है और अपने को अभिनव-धर्मभूषण लिखा है। इनकी गुरु परपरा मे दो धर्मभूषण और हुए है इसलिये उनसे पृथक् बोध कराने के लिये इन्होने अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण दिया है। इनके विषय मे विशेष जानना चाहे तो वीरसेवामदिर से प्रकाशित न्यायदीपिका की प्रस्तावना देखना चाहिये। इनका समय उक्त शिलालेख मे वि० स०१४४२ लिखा है। इन धर्मभूषण के गुरु वर्द्धमान का विध्यगिरि के शिलालेख मे उल्लेख हुआ है। (देखो भट्टारक सप्रदाय पृ०–४२) वहाँ इनका समय वि० स० १४२० लिखा है। उक्त विजयनगर के शिलालेख मे इन वर्द्धमान को वलात्कारगण-सरस्वती गच्छ का लिखा है। (और वरागचरित के कर्ता वर्द्धमान भी अपनेको बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ का लिखते है अत शिलालेख वाले वर्द्धमान और वरागचरित के कर्ता

वर्द्धमान दोनो एक ही है जिनका समय वि० स० १४२० है। इनको हरिवशपुराणकार जिनसेन से पूर्व का बताना भारी ऐतिहासिक अज्ञानता है और दूसरो को धोखा देना है। हम ऊपर लिख आये है कि बलात्कार-गण और सरस्वती गच्छ का नामोल्लेख भट्टारको के साथ होता है। अत ये वर्द्धमान भी भट्टारक ही हुये है। (उक्त विध्यगिरि के शिलालेख मे इन वर्द्धमान की गुरु परम्परा मे वसतकीर्ति का नाम आया है। इन वसत-कीर्ति के बावत श्रुतसागर ने पट्पाहुड की टीका पृ० २१ मे लिखा है कि—"इन्होने नग्न मुनियो को यह आदेश दिया है कि—चर्यादि के लिये जब वे बस्ती मे आवें तो तट्टीसारादि (आवरणविशेष) से शरीर को ढक कर आवे यह अपवाद वेप है।" ऐसा शिथिलाचार का उपदेश देने वाले वसतकीर्ति की शिष्यपरम्परा मे वर्द्धमान कवि हुये है जिन्होने वराग-चरित्र बनाया है। अत ये मूलसघ के त्रृपि नही थे, भट्टारक थे।

पंचामृताभिषेक के समर्थन मे और भी प्रमाण दिये जाते है। उनमे से कितने ही तो स्पष्टत भट्टारकीय ही है और कुछ गृहस्थ या ब्रह्मचारी विद्वानो के हे अत सब अमान्य है। उनका कुछ इतिहास यहाँ बता देते है—

(१) ब्रह्मसूरि—ये १६ वी शताब्दी मे हुये है। गृहस्थ विद्वान् है। नेमिचद्रकृत प्रतिष्ठातिलक ग्रथ की प्रशस्ति के अनुसार इन नेमिचद्र के ब्रह्मसूरि मामा लगते है।

(२) एकसधि—ये भट्टारक थे। इनका समय १४ वी शताब्दी है। इनके विपय मे इस पुस्तक मे अन्यत्र भी लिखा गया है।

(३) सोमसेन—त्रिवर्णाचार के कर्ता। ये सेनगण के भट्टारक थे। इनका समय १७ वी शताब्दी है। इनके त्रिवर्णाचार की परीक्षा श्री मान-नीय प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने 'ग्रथ परीक्षा, भाग ३' मे की है उसमे इनका विशेष हाल देखे।

(४) सावयधम्म दोहा—इसे योगीद्रदेवकृत श्रावकाचार बताया

जाता है। कोई इसे देवसेन कृत बताते है। ये सब मिथ्या कल्पनाये है। दरअसल यह भट्टारक लक्ष्मीचद्र की १६ वी शताब्दी की रचना है। यह ग्रथ हमारे केकडी नगर से प्रकाशित हुआ है। जिसका सपादन और हिन्दी अनुवाद स्थानीय विद्वान् प० दीपचंद जी पाडया शास्त्री ने किया है। इस ग्रथ के कर्ता के विषय मे विशेष हाल उसकी प्रस्तावना मे देखें।

(५) सकलकीर्ति—श्रीपाल चरित और रत्नत्रयाद्यभिषेक पाठ के कर्ता (एक प्रसिद्ध सकलकीर्ति वे हुये जो भट्टारक पद्मनदि के शिष्य थे। और ईडर की गद्दी के भट्टारक थे। ये वि० की १५ वी शताब्दी मे हुये है) जिस श्रीपाल चरित मे पंचामृत का अभिषेक लिखा है उसके कर्ता ये ही सकलकीर्ति है या दूसरे? एक दूसरे सकलकीर्ति वि० सं० १६०५ मे भी हुये है। (देखो भट्टारक सप्रदाय मे लेखाक ४७१) क्या पता उक्त दोनो ग्रन्थो के कर्ता ये दूसरे सकलकीर्ति ही हो?

(६) उमास्वामी श्रावकाचार। इस श्रावकाचार मे पचामृत का विधान है। इसे तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता प्रसिद्ध आचार्य उमास्वामी का रचा हुआ कहते है जो सरासर गलत है और अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये धोखा देते है। इस ग्रंथ मे यशस्तिलक, पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय, आदि-पुराण, पं० मेधावी, प० आशाधर के श्लोक पाये जाते है। अत यह हरगिज भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वामी की कृति नही है। किसी ने उमास्वामी के नाम पर यह ग्रथ रचकर अपना कुत्सित आम्नाय चलाने का प्रयत्न किया है। (कुन्दकुन्द श्रावकाचार, जिनसेन त्रिवर्णाचार, भद्रबाहुसहिता आदि और भी ग्रथ इस किस्म के दिगबर जैनधर्म में मिलते है जिनकी श्री मुख्तार सा० प० जुगलकिशोर जी ने ग्रथ-परीक्षा के भागो मे अच्छी कलई खोली है उन्हे देखना चाहिये।

(७) मडलाचार्य धर्मचन्द्र और कवि दामोदर —

धर्मचन्द्र ने गौतमचरित्र लिखा और कवि दामोदर ने सवत् १७२७ मे चंद्रप्रभचरित्र लिखा। इन दोनो ग्रथो मे पचामृत का विधान है।

गौतमचरित्र की प्रशस्ति के अनुसार धर्मचद्र जी मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वती-गच्छ के भट्टारक थे और अपने गुरु श्रीभूषण की मारोठ की भट्टारकीय गद्दी पर बैठे थे। इन्होने वि० स० १७२६ मे गौतम चरित्र की रचना की थी। कवि दामोदर इन्ही के शिष्य थे किन्तु पट्टधर शिष्य नही थे। सभवत वे गृहस्थ-विद्वान् ही मालूम पडते हैं।

(८) वामदेव—सस्कृत-भाव-सग्रह के कर्ता। इन्होने पचामृत का उल्लेख किया है। ये सभवत कायस्थ माने जाते है। इनके बनाये भाव-संग्रह मे संहिता का अर्द्ध-श्लोक उद्धृत हुआ है। वह श्लोकार्द्ध इन्द्रनदि सहिता का है। सहिताकार इन्द्रनन्दि प० आशाधर जी के बाद हुये हैं। यह निश्चित है। अर्थात् आशाधर के बाद इन्द्रनन्दि हुये और इन्द्रनन्दि के बाद वामदेव हुये अत वामदेव पद्रहवी सदी के विद्वान् माने जा सकते है।

(९) अर्यपार्य्य —जिनेंद्र कल्याणाभ्युदय नामक प्रतिष्ठा शास्त्र के कर्ता। इन्होने भी पंचामृत लिखा है। उक्त प्रतिष्ठाशास्त्र विक्रम स० १३७६ मे बना है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार अर्यपार्य्य करुणाकर श्रावक के पुत्र थे। माता का नाम अर्काम्बा था। अर्यपार्य्य ने अपने को कही मुनि नही लिखा है। अत ये गृहस्थ विद्वान् थे।

(१०) इन्द्रनन्दि —अभिषेक पाठ के कर्ता। इस पाठ मे पंचामृत से अभिषेक करना लिखा है। इन ही इन्द्रनन्दि ने जिनसंहिता ग्रन्थ बनाया है जिसमे आचमन, तर्पण, गोदान और पिण्डदान आदि कई विधि-विधान लिखे है। इससे यह स्पष्टत. भट्टारक मालूम पडते है। (ब्रह्मसूरि, सोमसेन आदिको ने जो त्रिवर्णाचार ग्रन्थ बनाये है उन सबका आधार प्राय यही जिनसंहिता रही है। ये १४वी शताब्दी मे हुये है। इनके विषय मे इसी पुस्तक मे "त्रिवर्णाचारो और संहिता ग्रन्थो का इतिहास" शीर्षक लेख मे भी बहुत कुछ लिखा गया है, उसे पढें।)

(११) नेमिचन्द्र कृत अभिषेक पाठ मे भी पंचामृत का विधान है। ये वे ही नेमिचन्द्र है जिन्होने प्रतिष्ठा-तिलक ग्रन्थ बनाया है। ये ब्रह्मसूरि के

भी पडित उदयदयालजी ने वदना की जगह चन्दना पाठ क्यो लिखा ? कारण स्पष्ट है। अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिये जब उन्हें भट्टारकीय ग्रन्थो के सिवा अन्य कोई मान्य आचार्यों का प्रमाण नही मिला तो इसके सिवा वे और क्या करते ? यही रवैय्या आज के विपक्षी पण्डितो का भी है। वे भी मान्य आचार्यों के प्रमाण नही मिलने से इन भट्टारको को ही मूलसघ के महान् आचार्य बतला-बतला कर उनके ही ग्रन्थो के प्रमाण दिया करते हैं और कभी-कभी तो ये पण्डित लोग किन्ही भट्टारको के नाम पूर्वाचार्यों के नाम जैसे हो तो उन्हें प्राचीन आचार्य बतला कर भोले लोगो को धोखा दिया करते है। जैसा कि ये उमास्वामिश्रावकाचार, शिवकोटि की रत्नमाला, पूज्यपादश्रावकाचार, कुन्दकुन्दश्रावकाचार, देवनन्दि-गुणभद्र के अभिषेक पाठ आदि ग्रन्थो के सम्बन्ध मे कहते है कि ये सब ग्रन्थ उन्ही प्राचीन आचार्य उमास्वामि, पूज्यपाद, शिवकोटि आदि के बनाये हुए हैं। इसी तरह ब्रह्म० सूरजमलजी जो श्रीशिवसागरजी महाराज के कृपापात्र ब्रह्मचारी हैं उन्होने स्वरचित "स्त्री द्वारा जिनाभिषेक" पुस्तक मे अपभ्रंश-महापुराण के कर्ता कवि पुष्पदत को महासिद्धात के कर्ता भूतबलि पुष्पदत बतला कर धोखा दिया है। इस तरह की चालाकी से किसी विषय का निर्णय करना योग्य नही है। ये पण्डित तो जो है सो है ही 'किन्तु आजकल के कतिपय नग्नभेषी जैन-साधु भी पन्थ-व्यामोह मे पडकर बिना पचामृताभिषेक के देखे गोचरी पर ही नही उतरते है। उनको जानना चाहिये कि उनकी ऐसी पद्धति से समाज मे अशाति का वातावरण बनता है। वीतराग मार्ग के पथिक होकर श्रावकीय क्रियाओ मे भाग लेकर समाज मे विद्रोह पैदा करना मुनियो का काम नही है। कलिकाल न करे सो थोडा है। ऐसो को ही लक्ष्य करके शास्त्रो मे एक पुरातन श्लोक लिखा मिलता है—

पडितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनै ।
शासन जिनचद्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ॥

अर्थ —चरित्र-भ्रष्ट पडितो ने और वठर (ज्ञान शून्य) साधुओ ने भगवान् जिनचन्द्र के निर्मल शासन को मलिन कर दिया है।

(१३) गजाकुश —इनका बनाया अभिषेक पाठ 'अभिषेक पाठ सग्रह' में छपा है। इनकी इस कृति पर से कुछ पता नही लगता है कि ये कब हुये और इनकी गुरु परम्परा क्या थी ? ऐसा लगता है कि शायद हस्तिमल्ल का ही अपरनाम गजाकुश हो। ये हस्तिमल्ल वे ही हैं जो १४वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हुये है जिन्होने सस्कृत मे 'विक्रान्त-कौरव' आदि नाटको की रचना की है। इन्होने प्रतिष्ठा ग्रन्थ भी लिखा है इससे ये क्रियाकाडी विद्वान् भी जान पडते हैं। ये गृहस्थ पण्डित थे। अय्यपार्य्यकृत प्रतिष्ठा-शास्त्र की प्रशस्ति मे लिखा है कि पाड्य राजा के मदोन्मत्त हाथी को वश में करने के कारण इनका 'हस्तिमल्ल' नाम पडा। इसका पर्याय नाम गजाकुश भी हो सकता है।

प्रभाचन्द्राचार्य कृत एक क्रियाकलाप ग्रन्थ है। कहते हैं कि उसके तीसरे अध्याय में गजाकुश का उक्त अभिषेक पाठ सगृहीत है किन्तु जैन-सन्देश शोधाक १ जून १९६१ में क्रियाकलाप का परिचय लेख छपा है उसमे इसके दो अध्याय ही बताये हैं। सामायिक पाठ की टीका प्रभाचन्द्र कृत है उसमे अनगारधर्मामृत और सागारधर्मामृत के पद्य पाये जाते हैं। इससे ये प्रभाचन्द्र प० आशाधर के बाद हुये है। सम्भवत गजाकुश-अभिषेक पाठ के टीकाकार प्रभाचन्द्र भी आशाधर के उत्तरकाल के ही होगे।

(१४) अभिषेक पाठ सग्रह मे एक अभिषेक क्रम नाम का पाठ छपा है उसमे गजाकुश आदि कुछ ग्रन्थकारो के इस विषय के श्लोको का सकलन किया गया है। यह सकलन प० आशाधर ने किया है ऐसा कहना गलत है क्योकि इस सकलन मे प० आशाधर जी के नित्यमहोद्योत के भी कुछ पद्य सगृहीत है। इसलिये इस पाठ का सकलन आशाधर जी के बाद किसी अन्य विद्वान् ने किया है। प० आशाधरजी तो स्वतन्त्र ग्रन्थ

रचने की योग्यता रखते थे। उनके द्वारा इस तरह के सकलन की सभावना नही की जा सकती है। और जब कि उन्होने इस विपय का नित्यमहोद्योत नामका एक स्वतत्र ग्रथ वना दिया है तो फिर उनको ऐसे पाठो के सकलन की क्यो जरूरत हुई ?

(१५) शुभचन्द्रकृत सिद्धचक्राभिषेक अभिषेक पाठ सग्रह मे छपा है। ये ईडर गद्दी के भट्टारक सकलचन्द्र की शिष्य परम्परा मे हुये है। धुलेव के श्री ऋषभदेव जी के मदिर मे स० १६१२ मे इन शुभचंद्र द्वारा प्रतिष्ठित कई मूर्तियाँ है अत ये भट्टारक थे। यथार्थ दिगबर ऋपि मूर्तियो की प्रतिष्ठा नही कराया करते है।

(१६) सकलभूषण—पट्कर्मोपदेश रत्नमाला ग्रन्थ के कर्ता। इस ग्रन्थ मे पचामृत लिखा है। यह ग्रन्थ वि० स० १६२७ मे वना है। उक्त शुभचद्र भट्टारक के शिष्य सुमतिकीर्ति के ये सकलभूषण गुरुभाई लगते है।

(१७) सिंहनन्दि—णमोकार कल्प (पचनमस्कारदीपिका) के कर्ता। इस ग्रन्थ मे पचामृत लिखा है। इसकी रचना वि० स० १६६७ मे हुई है। इनके गुरु भट्टारक शुभचन्द्र थे। ऊपर लिखे शुभचद्र से ये शुभचन्द्र जुदा है। वे शुभचन्द्र वलात्कारगण मे हुये और ये सेनगण मे हुये है। (देखो जैन ग्रन्थ प्रशस्ति सग्रह प्रथम भाग पृ० २४)

(१८) ब्रह्म० नेमिदत्त—नेमिपुराण, श्रीपालचरित्रादि ग्रन्थो के कर्ता। ये अग्रवाल जाति के थे। गोयल इनका गोत्र था। मालव देश के आशानगर के रहने वाले थे। भट्टारक मल्लिभूषण इनके गुरु थे। स० १५८५ मे इन्होने श्रीपाल चरित्र की रचना की थी। ये ब्रह्मचारी थे। न भट्टारक थे और न मुनि। (देखो राजस्थान प्रशस्ति सग्रह की प्रस्तावना पृष्ठ ११)

(१९) अकलकदेव—प्रतिष्ठापाठ के कर्ता। ये अकलक देव वे प्राचीन आचार्य अकलंकदेव नही है जो राजवार्तिक आदि के कर्ता थे।

प्रतिष्ठापाठ के कर्ता अकलकदेव ने नेमिचद्र प्रतिष्ठापाठ का उल्लेख किया है अत ये नेमिचद्र के वाद १७वी शताब्दी के प्रथम चरण मे हुये है। इनका विशेष परिचय श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के ग्रन्थ-परीक्षा मे देखे।

(२०) श्रुतसागर सूरि—षटपाहुड आदि ग्रन्थो के टीकाकार। इनका समय १६वी शताब्दी है। सूरत की भट्टारकीय गद्दी के भट्टारक विद्यानन्दि के शिष्य थे। किन्तु विद्यानन्दि के ये पट्टधर शिष्य नही थे। पट्टधर शिष्य मल्लिभूषण थे। श्रुतसागर ने अपने वनाये मुकुटसप्तमी कथा, षोडशकारण कथा, सुगन्धदशमी कथा, तपोलक्षणपक्ति कथा, विमानपक्ति कथा, पल्यविधान कथा और महाभिषेक टीका इन ग्रन्थो में अपने को 'देशव्रती' लिखा है।

षट्पाहुड की टीका के वक्त ये साधु भी हो गये हो तो भी ये भट्टारक ही हुये होगे, क्योकि षट्पाहुड की टीका में प्रतिपक्षियो के प्रति जो उद्गार इन्होने प्रकट किये है वे श्रेष्ठ मुनि के योग्य नही है। इन्होने दर्शन पाहुड की गाथा की टीका मे लिखा है कि—"यदि ते मिथ्यादृष्टय जिनसूत्र-मुल्लघते तदाऽऽस्तिकैर्युक्तिवचनेन निषेधनीया.। तथापि यदि कदाग्रह न मुचति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भिर्गूथलिप्ताभिर्मुखे ताडनीया तत्र पापं नास्ति।" इसमे वताया है कि अगर वे मिथ्यादृष्टि जिनसूत्र का उल्लघन करते है तो आस्तिको को चाहिये कि वे युक्ति से समझा कर उन्हे मना करे। इतने पर भी यदि वे कदाग्रह को न छोडे तो समर्थ आस्तिको को विष्टा से भरे जूते उनके मुँह पर मारने चाहिये, इसमे पाप नही है।

शत्रु-मित्र पर समदृष्टि रखनेवाले और "मध्यस्थ-भाव विपरीतवृत्तौ" की भावना रखने वाले एक उत्तम जैन मुनि इतना कठोर और असभ्य आदेश नही दे सकते है। श्रुतसागर ने इस कथन के समर्थन के लिए गुणभद्र कृत उत्तर-पुराण का यहाँ हवाला दिया है सो ठीक नही है क्योकि गुणभद्र का कथन जैनधर्म पर अत्याचार करने वालो के निवारण के लिये

है। जबकि श्रुतसागर का कथन जबरदस्ती अजैनो को जैन सिद्धान्त मनाने के लिये है। इस तरह गुणभद्र और श्रुतसागर के कथन मे बडा अतर है। इन श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति मे कुछ कथन सिद्धान्तविरुद्ध भी किया है जिसका दिग्दर्शन उसकी प्रस्तावना मे किया गया है। जैसे—एकेन्द्रिय जीवो के असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन बताना। प्रथमोपशम सम्यक्त्वी के पाँच के बजाय सात प्रकृतियो का उपशम बताना आदि। इसके अलावा इस वृत्ति मे हमारी नजर में भी विरुद्ध कथन आया है कि इसके तीसरे अध्याय के पैंतीसवें सूत्र में लिखा है कि—"पुष्करार्द्ध द्वीप की नदियाँ मानुषोत्तर पर्वत के बाहर नही जाती है" जबकि हरिवंश पुराण अध्याय ५ श्लोक ५९६, त्रिलोकसार गाथा ९३७, त्रिलोक प्रज्ञप्ति गाथा २७५२ मे १४ गुफाओ द्वारा १४ नदियो का मानुषोत्तर पर्वत से बाहर जाना बताया है। नदियो के बाहर जाने पर ही वे पुष्करवर समुद्र मे प्रवेश कर सकेंगी। बाहर नही जायेंगी तो उनका जल कहाँ समायेगा ? इस वृत्ति के अध्याय ९ सूत्र ४७ मे द्रव्यलिंग की व्याख्या करते हुये श्रुतसागर ने "असमर्थ और दोषयुक्त शरीर वाले साधुओ के लिये अपवाद-रूप से वस्त्र ग्रहण का, कम्बल ओढने का विधान किया है और लिखा है कि शीत काल निकल जाने पर असमर्थ साधु कम्बलादिक छोड दें।"

किन्तु यहाँ श्रुतसागर ने यह स्पष्ट नही किया कि जो दोषयुक्त शरीर वाले साधु है और लज्जा निवारण के लिये ही जिन्होने वस्त्र ग्रहण किया है वे भी कभी वस्त्र छोडे या नही और ऐसे साधु के फिर लज्जा परीषह का जीतना भी कैसे हो सकेगा ? श्रुतसागर ने बोध पाहुड की १७ वी गाथा की टीका मे मुनियो के शरीर में तैल मलने का भी उपदेश दिया है इत्यादि शिथिलाचार का पोषक व्याख्यान श्रुतसागर ने किया है। मुनिवृत्ति को विकृत करने के साथ ही श्रावको की पूजा-पद्धति को भी श्रुतसागर ने विकृत किया है। उसके भी नमूने देखिये—

व्रतकथाकोष मे श्रुतसागर ने मुकुटसप्तमीव्रत की विधि बताते हुये

लिखा है कि जिन प्रतिमा के गले में फूलो की माला पहनावे और प्रतिमा के सिर पर फूलो का मुकुट रखे और आकाशपंचमीव्रत की विधि मे बताया है कि भाद्रपद शुक्ला पचमी को उपवास कर रात्रि मे जिनमन्दिर मे खुले आकाश में सिहासन पर चार जिनप्रतिमाओ को विराजमान कर प्रहर-प्रहर मे उनका अभिषेकादिक करे एव चदनषष्ठीव्रत की विधि मे लिखा है कि भाद्रपदकृष्णा षष्ठी के दिन उपवास करके रात्रि मे चद्रोदय होने पर चद्रप्रभु भगवान् का पचामृत से अभिषेक करके कूष्माड आदि का अर्घ देवे तथा दुग्धद्वादशीव्रत की विधि में लिखा है कि एक तपेला में दुग्ध भर कर उसमे जिनप्रतिमा को रात भर डुबोई रखे, बाद में निकाल ले।

इन कथनो से जान पडता है कि इन भट्टारको ने कैसे-कैसे विचित्र कथन किये है।

इस प्रकार पचामृताभिषेक की सिद्धि के लिये अब तक जितने भी आगमप्रमाण दिये गये है उन सब पर हमने यहाँ ऊहापोह किया है और इतिहासादि की दृष्टि से यह बताया है कि उनमे एक प्रमाण भी मूल सघ के मान्य आचार्य का नही है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि हमारे यहाँ मूलसघ में बहुत पहले तो ऐसे मुनियो का समुदाय था जो शास्त्रोक्त मुनिचारित्र का पालन करता था। इस समुदाय मे धरसेन, भूतबलि, पुष्पदत, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि मुनीश्वर हुये। तदुपरान्त कालदोष से मूलसघ में श्रेष्ठ मुनि विरले रह गये। और उनके साथ शिथिलाचारी मठवासी नग्न भेषी साधुओ का प्रादुर्भाव हो गया, ये जागीरे रखने लगे। मठ-मन्दिरो में रहने लगे। राजसभाओ मे जाने लगे। ये भी अपने को मूलसघी ही बताते रहे। होते-होते आगे चलकर तो दिगंबर सम्प्रदाय मे साधुओ मे वस्त्र धारण भी शुरू होगया। ये वस्त्रधारी होकर

भी मुनि कहलाते थे और अपने आपको मूलसंघी बताते थे। इस प्रकार दिगंबर मत में मूलसंघ मे तीन प्रकार के मुनि हुये है—

(१) यथार्थ श्रेष्ठमुनि (२) शिथिलाचारी नग्नमुनि (३) सवस्त्र मुनि। इनमे से पिछले दो भेदो को हम 'भट्टारक' नाम से कहते है अर्थात् नग्न भट्टारक और सवस्त्र भट्टारक। मूलसंघ के इन दोनो भट्टारको की गणना पूर्वाचार्यो के मत अनुसार पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियो मे होती है और यापनीय, द्राविड काष्ठा संघ आदि साधुओ की गणना उन्होने जैनाभासो मे की है। भट्टारकीय उल्लेखो से पता लगता है कि दिगम्बर जैनधर्म मे मूलसंघ मे भट्टारको की दो परम्परा रही है—एक सेनगण की और दूसरी बलात्कारगण की। सेनगण वाले भट्टारक अपने को पुष्कर-गच्छ के कहते है और वृषभसेनान्वय लिखकर अपनी बुनियाद वृषभसेन (ऋषभदेव के गणधर) से शुरू करते हैं। इस परम्परा मे त्रिवर्णाचार के कर्ता सोमसेन आदि भट्टारक हुये है। दूसरी परम्परा के बलात्कार-गणवाले भट्टारक अपने को सरस्वती गच्छ का कहते है। और कुन्द-कुन्दान्वय लिखकर अपनी बुनियाद कुन्दकुन्दाचार्य से शुरू करते है। इस परम्परा मे बहुत भट्टारक हुये है और उनके अच्छे-अच्छे विद्वान् शिष्य हुये है। इन भट्टारको व शिष्यो ने बहुत सा जैन साहित्य निर्माण किया है। साथ ही इन्होने बहुत सी जिनप्रतिमाओ की प्रतिष्ठाएँ भी की है।

बलात्कारगण मे कारंजा शाखा, लातूर शाखा, दिल्ली-जैपुर शाखा, नागौर-शाखा, अटेर-शाखा, ईडर-शाखा, भानपुरा-शाखा, सूरत-शाखा और जेरहट-शाखा मे बहुत भट्टारक हुए है। इनमे उत्तरप्रदेश की शाखाओ के मूल आधार भट्टारक पद्मनन्दि हुये है। उनका समय वि० सं० १३८५ से १४५० तक का है। उनके तीन प्रमुख शिष्य—(१) शुभचन्द्र (२) सकलकीर्ति और (३) देवेन्द्रकीर्ति हुये। शुभचंद्र से दिल्ली-जयपुर की शाखा चली। सकलकीर्ति से ईडर की शाखा चली और देवेन्द्रकीर्ति से सूरत की शाखा चली। अन्य शाखाये इन्ही के शिष्य-

प्रशिष्यो से चली है। सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, श्रुतसागर और ब्रह्मनेमिदत्त आदि प्रचुर साहित्यकार इसी बलात्कारगण के भट्टारको मे हुये है। सेनगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसघ, पुष्करगच्छ वृषभसेनान्वय का प्रयोग करते है और बलात्कारगण के भट्टारक अपने नाम के साथ मूलसघ सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दान्वय का प्रयोग करते है। भूमिदान लेने, मूर्तियो पर प्रतिष्ठा लेख लिखने और ग्रन्थ प्रशस्तियो मे ऐसे शब्द प्रयोगो का इन्होने उपयोग किया है। हमारा अपना ऐसा खयाल है कि इस प्रकार के शब्दप्रयोग शिथिलाचारी नग्न भट्टारको या सवस्त्र भट्टारको ने ही किये हे। मूलसंघ के मान्य प्राचीन आचार्यो ने नही किये है। इन भट्टारको ने अपने को जो मूलसंघ के बताये है वह इस अपेक्षा से बताये है कि उनके समय मे काष्ठासघादि अन्य सघो के भट्टारको का भी अस्तित्व था उनसे पृथक् करने के लिये अपने को इन्होने मूलसघी लिखा है। मूलसघ मे श्रेष्ठ मुनियो की जैसी चर्या लिखी है उस दृष्टि से इन्होने अपने को मूलसघी नही लिखा है क्योकि इन्होने स्वरचित ग्रन्थो मे मुनियो की चर्या प्राय वैसी लिखी हे जो प्राचीन मूलसघ के आचार्यो ने प्रतिपादन की है। हाँ, श्रुतसागरादि किन्ही-किन्ही ने शिथिलाचार का भी कही-कही पोषण कर दिया है और ये भट्टारक यह जानते हुए भी कि अपने से शास्त्रोक्त मुनिचर्या का पालन नही होता है तब भी ये अपने को मुनि, यति, गणी, सूरि आदि नामो से उल्लेखित करते रहे है। इसका कारण यह था कि मुनि या श्रावक ये दो ही तो श्रेणी है तो ये अपने को मुनि नही लिखते तो क्या श्रावक लिखते ? श्रावक लिखने पर इनका दर्जा ऊँचा कैसे होता ? और पालकी मे बैठकर अपने ऊपर चँवर कैसे ढुलवाते ? राजाओ द्वारा मान्यता कैसे प्राप्त करते ? और श्रावको पर शासन भी कैसे करते ? इसलिये इन्होने अपने आपको मुनि कहलाना ही उचित समझा। इसके लिये ये शुरु मे दीक्षा लेते वक्त नग्नलिंग धारण करके मुनि बनने की रस्म भी पूरी कर लेते थे। बाद

मे काल दोष का बहाना लेकर तत्कालीन पचो के आग्रह से वस्त्र ग्रहण कर लेते थे। इस प्रकार की प्रवृत्ति चाहे इन्होने किसी भी परिस्थितिवश की हो तथापि हम उसे 'उत्सूत्र प्रवृत्ति' ही कहेंगे और उनके ऐसे मार्ग को हम भट्टारक-पथ के नाम से पुकारेंगे। जिस प्रकार श्वेतावर मत मे वस्त्रधारी मुनि माने जाते है उसी तरह दिगवर मत मे वस्त्रधारी भट्टारक मुनि माने जाते है और जिस प्रकार श्वेतावर मत मे जिन प्रतिमा की पूजा पद्धति मे पचामृत से अभिषेक करना, शासन देवो की उपासना करना आदि विधान है उसी तरह दिगम्बर मत के भट्टारक पंथ मे भी ऐसे विधान है। इसलिये यापनीय, द्राविड आदि की तरह भट्टारक पथ भी अप्रमाण है जिसे यथार्थ मे मूलसघ कहना चाहिये उसके शास्त्रो मे पचामृताभिषेक का विधान कतई नही है। तिलोयपण्णत्ति आदि मे भी पचामृताभिषेक नही है। माथुर सघी अमितगति के श्रावकाचारादि ग्रथो मे भी पचामृताभिषेक का नितात अभाव है।

जैनधर्म मे सबसे प्रथम पचामृताभिषेक का विधान श्वेतावर मत मे था दिगम्बर मत मे नही था। आगे चलकर इसका प्रवेश दिगंबर मत मे अनुमानत. ऐसे हुआ कि विमलसूरि ने प्राकृत भाषा मे एक पउमचरिय नामक कथा ग्रन्थ बनाया है यह ग्रन्थ पूर्णत श्वेतावर आम्नाय का न होकर भी बहुत सी बातें इसमे दिगम्बर मूलसघ सम्मत नही है। और तो क्या इसमें एक जगह मुनि का विशेषण श्वेतावर भी लिखा मिलता है। प्राय इसी ग्रन्थ की छाया को लेकर दिगम्बरमत के रविषेण आचार्य ने सस्कृत मे पद्मचरित ग्रन्थ का निर्माण किया है। दोनो ग्रन्थो का आपस मे मिलान करने से पता लगता है कि रविषेण ने विमलसूरि के पउमचरिय की अधिकाश मे नकल की है। इस नकल से जाना जाता है कि कितनी ही बातें रविषेण ने विमलसूरि की मानी है और कितनी ही नही भी मानी है। जितनी रविषेण ने मानी है उनमे से भी कितनी ही मूलसघ के अनुकूल नही है इससे हम कह सकते है कि एक ओर रविषेण की

आम्नाय पूर्णत विमलसूरि के मत से नही मिलती है तो दूसरी ओर रवि-षेण की आम्नाय पूर्णत मूलसघ से भी नही मिलती है। ऐसी हालत में रविषेण ने पउमचरिय की नकल करते हुये अपने सस्कृत ग्रन्थ पद्मचरित में पचामृताभिषेक का कथन किया है उसे मूलसघ के अनुकूल नही कह सकते है। दिगम्बरमत मे पचामृताभिषेक की सिद्धि मे यही सबसे प्रथम आगमप्रमाण पेश किया जाता है उसीका यह हाल है। इन्ही के अनुसार हरिवंश पुराण मे जिनसेन ने लिख दिया है। उसी को मूलसघ के कहलाने वाले भट्टारको ने भी अपना लिया है। इसीके फलस्वरूप आज दिगम्बर सम्प्रदाय मे दो दल दिखाई देते है—तेरापथ और बीसपथ। इसमे तेरा-पथ प्राचीन मूलसघ का पक्षपाती है और बीसपथ अर्वाचीन मूलसघ का।

इस लेख मे की हुई छान-बीन के आधार पर यह दृढता के साथ कहा जा सकता है कि—वस्तुत जो मूलसघ के ग्रन्थ है उनमे किसी एक मे भी पचामृताभिषेक का विधान नही है। ऊपर जिन ग्रन्थो के विषय मे चर्चा की गई है उनके अलावा भी कितने ही ग्रन्थ और भी मिल सकते है जिनमे पचामृताभिषेक का विधान हो। किन्तु जाँच पडताल करने पर वे भी या तो भट्टारक प्रणीत निकलेंगे या किन्ही गृहस्थ विद्वानो द्वारा रचे हुये। जैसे कि प० आशाधर, प० मेधावी आदि ने रचे है। अपभ्रश महापुराण के कर्ता पुष्पदंत ने भी पचामृताभिषेक लिखा है। पर वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे। इसी तरह 'पउमचरिउ' आदि अपभ्रश ग्रन्थो के कर्त्ता स्वयभू ने भी पचामृताभिषेक लिखा है वे भी गृहस्थ विद्वान् ही थे, वे यापनीय सघीय थे।

इसलिये विवेकी श्रावको का कर्तव्य है कि वे भगवान का अभिषेक स्वच्छ जल से ही करें, करावें। यही निर्दोष मूलसघ सम्मत सनातन की रीति है और इसी मे कल्याण है। इतना सा ज्ञान तो मद बुद्धियो को भी है कि—दही दूध घृत ये खाने की चीजे है—स्नान करने की चीजें नही है। स्नान तो जल से ही होता है और यही आबालगोपाल प्रसिद्ध है।

तीर्थंकरो के चरित्रो मे भी उनका जन्माभिषेक राज्याभिषेक और दीक्षाभिषेक जल से ही किया गया है तो फिर उन तीर्थंकरो की मूर्तियो का अभिषेक भी जल से ही करना चाहिये। अभिषेक का प्रयोजन भक्ति के साथ-साथ मूर्ति को सफाई होना भी है इस सफाई के लिए जल से स्नान कराना ही उत्तम कहा जा सकता है घृत दुग्धादि से स्नान कराने से मूर्त्तियो की सफाई तो नही होगी उल्टी वे चपचपी व समल होकर विगड जायेगी और उनपर चीटियाँ आदि जन्तुओ का भी सचार होने लगेगा एव मक्खियाँ भी भिनभिनाने लगेगी तथा अभिषेक हुए वाद पचामृत को जहाँ भी डाला जायगा वहाँ ही जीवो का प्रचुर सचार और जीवो की उत्पत्ति होगी उससे जीवहिंसा का प्रसग आवेगा। इस तरह पचामृताभिषक अप्रयोजनभूत और सावद्यमय सिद्ध होता है। इसलिए आगम और युक्ति दोनो ही से पंचामृताभिषेक करना योग्य नही है।

हरिश चन्द्र कोलिया
15, नवजीवन उपवन,
मोती डूंगरी रोड़,

परिशिष्ट

१—["प्राकृत भापा के प्रति हमारी उपेक्षा" पृ०४]

'प्रपद्यामि' का प्राकृत नियमानुसार 'पवज्जामि' (दो जकार) रूप वनता है और 'प्रव्रजामि' का 'पव्वजामि' (दो वकार) वनता है किन्तु प्राकृत में विकल्प मे 'पव्वज्जामि, (दो वकार तया दो जकार) रूप भी वन जाता है।

ससकिरत कूप-जल कवीरा भापा वहता नीर।
जव चाहो तव ही वूडो शात होय शरीर ॥

—श्री कवीरदास जी

जे प्राकृत कवि परम सयाने, भापें जिन हरिचरित वखाने।
भये जे अहहिं जे होहहिं आगे, प्रणवउँ सवहि कपट सव त्यागे ॥

—श्री तुलसीदासजी (रामचरितमानस)

२—["मगलोत्तमशरण पाठ" पृ० १११]

जिनसहस्रनाम (आशाधर कृत) के अत मे—

(१६) इद लोकोत्तम पुसामिद शरणमुल्वणम्।
इद मगलमग्रीयमिद परमपावनम् ॥१४१॥

—धर्मसग्रहश्रावकाचार (मेधावीकृत)

(१७) लोकोत्तमा [illegible] जिनधर्मकश्च।
ये तान्नमामि च [illegible]वारिधिसमुत्तरणैकसेतून् ॥

३—["दर्शन का अर्थ मिलना" पृ० [illegible]]

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार के श्लोक १३२ में जो 'दृष्ट्वा' पद है, उसका अर्थ देखकर' करना गलत है। उसका अर्थ 'मिलकर' करना चाहिए।

गुणभद्रकृत उत्तरपुराण, पर्व ६२ श्लोक १२८ "नापूर्वो न स पश्यताम्" का अर्थ ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० १४६ में इस प्रकार किया है—

"हमारे लिये यह अपूर्व आदमी नही, जिससे कि देखा जावे"।

समीक्षा—यहाँ 'पश्यता' का अर्थ जो 'देखा जावे' किया है, वह ठीक नही है, उसकी जगह 'मिला जावे' करना समुचित होगा।

इसी तरह आगे श्लोक १३०—"नाहमेष्यामि त द्रष्टुमिति प्रत्यब्रवीदसौ" का अर्थ इस प्रकार किया है—

"त्रिपृष्ठ ने कहा कि—मैं उसे देखने के लिए नहीं जाऊँगा।"

समीक्षा—यहाँ भी 'द्रष्टुम्' का अर्थ 'देखने के लिए' किया गया है किन्तु वह ठीक नही है। 'मिलने के लिए' अर्थ होना चाहिए।

इस तरह उपर्युक्त प्रकरणो मे दर्शनार्थक क्रियाओ का 'मिलना' अर्थ करना ही सुसगत है।

दर्शनार्थक धातुओका 'देखना' अर्थ शाब्दिक है और 'मिलना' अर्थ भावात्मक है, जहाँ जैसा सगत हो वैसा ही अर्थ करना चाहिए तभी वह फबता है और ठीक अभिव्यक्ति होती है।

४—["चमर" पृ० २२१]

दर्शनसार की गाथा ३४ मे–चमरी गाय की पिच्छी रखने से काष्ठा सघ को उन्मार्गगामी, मिथ्यात्वी बताया है।

'स्याह' का अर्थ 'काला रग' होता है और उसीसे 'स्याही' शब्द बना है किन्तु दूसरे रगो से बनी भी 'स्याही' ही कहलाती है। इसी तरह 'तिल' से 'तैल' बना है किन्तु सरसो, मूंगफली आदि से निकला भी 'तैल' ही कहलाता है। अक्षत (चावल) से 'आखा' बना है किन्तु जौ गेहूँ आदि धान्यो को भी 'आखा' कहा जाता है।

उसी तरह गोटे आदि से बना तदाकृतिमान् भी 'चमर' ही कहलाता है इसमे कोई आपत्ति नही है। इसी को तो 'निक्षेप' कहते है।

५—["पंचोपचारी पूजा" पृ० २६५]

संस्कृत पचपरमेष्ठी पूजा दूधगाँव से प्रकाशित हुई है इसमें साधु-पूजा तक का अंश ही छपा है—अभिषेक और प्रशस्ति भाग छपने से रह गया है जो व्यावर के ए० पन्नालाल सरस्वती भवन की प्रतियो मे उपलब्ध है। प्रशस्ति से ये यशोनन्दि भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य ज्ञात होते है। यह रचना १६वी शती की है और इसमे पचोपचार है।

६—['तीर्थंकर के प्रभाव से कितने योजन तक सुभिक्ष होता है' पृ० ३५५]

यशोनन्द्याचार्यकृत—'पचपरमेष्ठी पूजा' (सस्कृत)

क्रोशास्छताष्टकमितानसुमद्गुजाधि-

दौर्भिक्ष्यदुर्गतिहराय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥२१॥ (पृष्ठ ५)

शताष्टकक्रोशमितप्रदेशे, सौभिक्षमक्षीणमनीतिनीति ।

यत प्रजायेत शमङ्गिना तत्, सुभिक्षताकारि जिन यजामि ॥१२॥

—ओह्री गव्यूतिगतचतुष्टयसुभिक्षक्षेमकारिणे श्रीजिनाय अर्घम् ॥

(पृ० २१)

इसमें आठसौ कोश तक सुभिच्च होने की वात कही है। जवकि 'नन्दीश्वर भक्ति' के 'गव्यूतिगतचतुष्टय' पदमे 'गव्यूति' का अर्थ प्रभाचन्द्र ने एक कोश करके चारसौ कोश तक सुभिक्ष होना सूचित किया है। यशोनन्दिने गव्यूति का अर्थ दो कोश करके आठसौ कोश सुभिक्ष वताया है इससे स्पष्ट फलित होता है कि यह एकसौ योजन (चारसौ कोश) और दोसौ योजन (आठसौ कोश) की मान्यता का भेद गव्यूति शब्द के एक कोश और दो कोश अर्थ से ही उत्पन्न हुआ है।

७—["विघा के आहार अर्थ पर" पृ० ३८८]

कलौ कष्टं तपस्विन (आत्मानुशासन) के प० टोडरमलजी कृतभाषा अनुवाद पर इन्द्रलालजी शास्त्री ने वनारस के उक्त शास्त्रीद्वय से निर्णय माँगा था उन्होंने प० टोडरमलजी सा० के अर्थ को बिल्कुल ठीक वताया था।

८—["भक्तामर स्तोत्र" पृ० ३४१]

विष्वग्विभो सुमनस किल वर्षयन्ति,
न्यग्-बन्धना सुमनस किमुताऽऽवहन्ति ।
सत्सङ्गताविह सता जगती समस्ता,
मामोदना विहसतामुदयेन धाम्ना ॥ १ ॥
द्वेधाऽपि दुस्तरतम'श्रम-विप्रणाशा-
दुद्यत्सहस्रकर-मण्डल-सम्भ्रमेण ।
वक्षे प्रभोर्वपुषि काञ्चन काञ्चनानां
प्रोद्धोद्धत भवति कस्य न मानमानाम् ॥ २ ॥
दिव्यध्वनिर्ध्वनितदिग्वलयस्तवाऽऽर्हन्
व्याख्यातरुत्सुकय तेल्लशिवाध्वनोनात् ।
तत्त्वार्थदेशनविधौ ननु सर्वजन्तु-
र्भाषा विशेषमधुर सुरनार्थ ये ह्य ॥ ३ ॥
विश्वेक यत्र भटमोह महीमहेन्द्र
मद्यो जिगाय भगवान् निगदन्निवेयम् ।
सन्तर्पयन् युगपदे मव यानि पुना
मन्द्रध्वनिर्नदति दुन्दुभिरुच्चकैस्ते ॥ ४ ॥

नोट—ये भिन्न चार अतिरिक्त श्लोक और मिलते हैं । भक्तामर स्तोत्र के ३२–३३–३४–३५ श्लोक मे जिन ४ प्रातिहार्यो का वर्णन है वही इनमे है, ये अर्थकी दृष्टि से काफी सदोप हे अत कविकृत ज्ञात नही होते । इस प्रकार के २–३ तरह के श्लोक मिलने से किसी ने निर्णयाभाव मे सवको ही छोड दिया हो (जिससे ४ प्रातिहार्य छूट गये) और एक बार यह परपरा चल पडी तो फिर श्वे० समाज मे रूढ ही हो गई जो आज श्वे० समाज के ३२ से ३५ तक के चार श्लोक न मानने का कारण प्रतीत होती है ।

बुद्धिमाद्यवशात्किंचिद् यदशुद्धमलेखि तत् ।
द्वेषभाव ,समुत्सृज्य शोधनीय मनीषिभि ॥

ग्रन्थ-संशोधन

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	चत्वारि मंगलानि	चत्वारो मगल
२१	७	तटाशु	तटाशु
२१	१८	१३ वाँ	३१ वाँ
३३	१५	पद्मप्रभ	पद्माभ
४०	१०	हृत्थ	इत्थ
४२	२५	निजकल्पी	जिनकल्पी
४४	१२	वल्कल	वल्कलज
४७	१३	जाहा	जाया
४८	२५	पावह	पावइ
५१	४	शुभ	शुद्ध
५८	२५	सहस्र	सवस्त्र
६०	२०	हुआ हो तो	हुआ होता तो
६३	५	उत्तम	सो उत्तम
६६	८	निराकार	नराकार
६९	२६	यह	में यह
७०	१२	पात्र में	के पात्र मे
७२	१३	पारण	पारणा
७९	१	तो भेद	दो भेद
७९	१८	म समाधि	समाधि
८१	१६	माना	मानना
८२	१	की	कि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	१८	पूठा	पूजा
१४४	१८	जिनस्था	जिनस्तथा
१६६	१६	भाग २	भाग २ पृष्ठ ३६३
१७५	२१	६ नाम दिये है	६ नाम नही दिये है
१९७	२६	अपने पूर्न लेख मे	पूर्व मे
२०४	८	कह जोग	यह जोग
२११	२३	सवर्थान्नान्	सर्वथान्तान्
२१३	६	उन्ही	उन्होने
२१४	२५	अहिसा से	अहिसा मे
२१६	७	हिसाम्	हिंसाम्
२१८	३	न पश्येत्	न वै पश्येत्
२२१	५	चमरुह	चमरीरुह
२२१	११	योग्य नही है	योग्य है, केशनि का चमर वनाना योग्य नही है
२२३	१	होने हर भी	होने पर भी
२२४	१६	करता मात्र	करना मात्र
२२४	२१	बनाने का	बताने का
२२६	३	साद	सितोदर
२३३	६	वेद	भेद
२४३	११	वासियहिं	वासिया इंहि
२५२	१७	माना चाहिए	माना जाना चाहिए
२५६	७	सोदम्मो	सोहम्मो
२६०	७	विवह	विविह
२६२	६	गधीदीन्	गधादीन्
२६२	२१	एव	एष

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६३	१४	हुता	हूता
२६४	६	गृहीध्व	गृह्णीध्वं
२७३	१७	अमुत्तो	अमुत्ति
२८५	२६	मनुष्यो मे वृद्धिह्रास	मनुष्यो का वृद्धिह्रास भरतैरावत क्षेत्र का वृद्धिह्रास
२९२ २९५	६ १७	लोक व्युच्छित्ति	लोक विनिश्चय
२९२	१०	लोय विछिण्णय	लोय विणिच्छय
३०६	२१	भव, बदल	× ×
३११	५	रतना	रहना
३१३	८	कत्पातीत	कल्पातीत
३१४	१७	कुल एक	कुछ एक
३१९	८	होती है।	होती है।[1]
३२०	६	यिया	दिया
३२८	१	है	की है
३३८	३	क्रतगतान्	क्रमगतान्
३४०	२४	वही	वही-४८ नबर पर ही
३४१	५	पाठक	पाठ
३४४	३	१	२
३४४	२१	२	१
३४५	११	नाशिया	नशिया
३४६	शीर्षक	को १११ वाँ	की १११ वी
३५६	२	भोजन	योजनं
३५७	३	एव	एकं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३५७	४	योजकार्थ	योजनार्थ
३५८	७	योजना	योजनानां
३५९	१९	सुहासरा	सुहासए
३६१	१०	सन्त	सत्त
३६१	१२	सयिल	सीयल
३६३	४	त्रिहि	विहि
३७१	२२	किन्तु (अव्यय)	किन्तु (अव्यय)
३७६ ३९०	७ २६	त्यागो वर्ज्य	त्यागो वर्ग्य
३७६	८	चतुर्विधा	चतुर्विध
३७८	१	हरुपा	रुपा
३७८	२६	टोडलमल	टोडरमल
३७९	१९	प्रकारकी विशुद्ध	प्रकार की विशुद्धि किया
३८५	९	द्युपेता	द्यपेता
३८५	२६	'लक्ष्मी' कहिए	'लक्ष्मी' कहिये 'श्री', 'श्रुतागमन वीज' कहिए
३९०	५	चतुर	चतुर्
२९५	१०	ठाडे ठाडे	वडे वडे
३९७	७	भूषयन्ती	भूपयन्ती
३९७	१५	ज्ञात है	ज्ञात होता है
४०५	१४	तत्काल	तत्कालीन
४११	४	तत्थ	वत्थ
४११	५	रागोवि	एगोवि
४१२	२०	वैसा ही	वैसे ही
४१८	६	प्रतिष्ठा पाठ	अभिषेक पाठ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४	१३	विकल	विमल
१६	३	२६ वें	३६ वे
१६	१७	उनकी	उसकी
१८	१६	अपने से	छपने से
२०	१८	निर्वण	निर्व्रण
२८	४	खो	देखो
३२	२१	चाहते	चाहते है
४०	२१	"तो तुरुक्त वदग्गोया" पाठ जान पडता है।	"तो तुरुका वदग्गिया" पाठ है।
४६	१४	गुणस्यान ने	गुणस्थान मे
५२	२३	साधु हुए	साधे हुए
५८	१४	गण	गणी
६६	९	यहाॅ भी	यहाँ यह भी
८५	१	दिया	दिशा
९१	२१	ऐसे ह	ऐसे हे
१६४	१४	वात की	वात को
१७४ से १७६		विमल सूरि के पउम चरिउ	विमल सूरि के पउम चरिय

नोट प्राकृत मे "पउम चरिय" होता है और अपभ्रंश मे 'पउम चरिउ'

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७९	५	पर्व १७ से	पर्व १७ मे
१८१	१६	भवेद्येन न	भवेद्येन
१८४	२३	एक नाम हलिप्रिय	एक नाम हलिप्रिया
१८८	२६	और वाह्य	और एक वाह्य
१८९	७	फिर	फिर भी
२११	२३	सवर्थाभान्	सर्वथाज्ञान्
२१६	२	विघान	विघात

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३४	६	मिलते हैं।	नही मिलते हैं।
२३८	२०	वर	पर
२४४	१५	छाया	छाप
२५२	१७	मानना चाहिए था	माना जाना चाहिए था।
२५५	९	पुप्पक	पुष्पक
२५७	१५	धृति	धृति कीर्ति
२६५	२५	अव	जव
२७७	११	क्षपण	क्षेपण
२७९	१	उनमे	उनसे
३०६	२१	वदल	वदल नही सकता है।
३०६	२२	नही सकता है	+
३६१	२२	णिसुखाहु	णिसुणहु
३६२	४	मन्थय	मत्थय
३९५	१३	पर्व ४४	पर्व ४०
४०६	१	ये।	थे।
प्रकाशकीय ७	२२	अपने	द्वय ने
निवन्ध सूची ११	२०	वर्ष २	वर्ष १५
आत्म निवेदन १३	१९	सोना है	सोना नही है।
प्राक्कथन ३४	६	उसके	उनके

अन्त्यमंगलम्

जयति त्रिजगदव्याप्तमिथ्यात्वध्वान्तनाशिनः ।
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशा केवलज्ञानभास्करा ॥१॥
प्रमाणनयनिर्णीत - वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
हितावह समीचीन युक्तिमज्जिनशासने ॥२॥
कालदोषादभूत्तत्राऽपमिद्धातविवेचना ।
युक्त्यागमविरुद्धा च विपरीतक्रियापरा ॥३॥
पक्षव्यामोह–सग्रस्ता केचित् पण्डितमानिन ।
यथामत्यार्हती वाणीमाहु श्रद्दधतेऽपि च ॥४॥
अनाकलय्य सत्यार्थं सन्मार्गस्य विडम्बनाम् ।
कृत्वैके जैनजनता-मतिं विभ्रमयन्ति च ॥५॥
सत्यासत्य-विवेकायोद्धृत्य सूक्तिसुधारमम् ।
मिलापचन्द्रः शास्त्राब्धेर्व्यतरच्चेत्किमदभतम् ॥६॥
सत्पथ-प्रचलनाय किंचना–ऽऽलेखि विज्ञजनसम्मत मनम् ।
तज्जिनेन्द्रनयनिर्णिनीषवो विज्ञगोष्ठिषु विमृश्य तत्त्वताम् ॥७॥
शास्त्रार्थ-नवनीतेनाऽनेन नूताऽस्तु भारती ।
सता दृग्ज्ञानचारित्रदायिनी वरदायिनी ॥८॥
मगल भगवान् वीरो, मगल जिनभारती ।
मगल साधवो नित्य, मगल धार्मिका जना ॥९॥

● ● ●